भास की कृतियों में चित्रित भारत वर्ष
एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी (उ० प्र०)
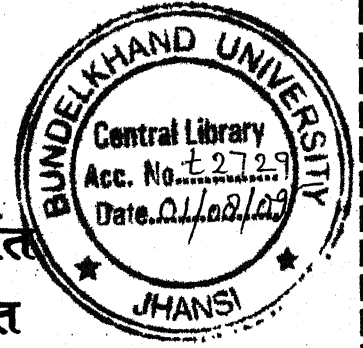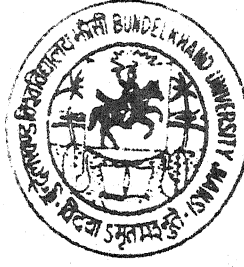
कला संकाय (संस्कृत) अन्तर्गत
पी० एच-डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत
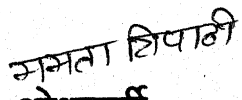
शोध प्रबन्ध

2006

शोध निर्देशक
डॉ. ओमकार मिश्र
एम.ए.,पी.एच.डी.
रीडर संस्कृत विभाग
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज
अतर्रा (बाँदा) उ० प्र०

शोधकर्ती
श्रीमती ममता त्रिपाठी
एम. ए., बी. एड.
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज
अतर्रा (बाँदा) उ० प्र०

शोध केन्द्र
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अतर्रा (बाँदा) उ. प्र.

समर्पण

प्रेम के अथाह सागर

प्रिय माँ एवं चाची जी,

श्रीमती शोभा देवी

एवं

श्रीमती सुमन त्रिवेदी

एवं

पूज्य पिताजी एवं चाचा जी

श्री राजेन्द्र प्रसाद त्रिपाठी

एवं

श्री कवीन्द्र कुमार त्रिवेदी जी

को

जिनके प्रेम, त्याग व तपस्या का

यह

परिणाम

है।

– ममता त्रिपाठी

ॉ. ओमकार मिश्र
ीडर, संस्कृत विभाग
अतर्रा पी.जी. कालेज, अतर्रा (बाँदा)

निवास -
संत कुमार अग्निहोत्री
नरैनी रोड, अतर्रा (बाँदा)
मो. ९४५०२२६८६५

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती ममता त्रिपाठी, शोध-छात्रा संस्कृत विभाग, अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अतर्रा (बाँदा) ने बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के नियमानुसार न्यूनतम २०० दिन की अवधि को पूर्ण करते हुए 'भास की कृतियों में चित्रित भारत वर्ष एक विश्लेषणात्मक अध्ययन' विषय पर शोधकार्य पूर्ण कर लिया है। शोध छात्रा के रूप में किया गया इनका यह कार्य शोध-प्रबन्ध के उद्देश्यों पर आधारित हैं। इनका यह कार्य मौलिक एवं प्रशंसनीय है।

दिनांक :-

(डॉ० ओमकार मिश्र)

आभार

ईश्वर की असीम अनुकम्पा से शोध का यह श्रमसाध्य कार्य पूर्ण हुआ। इस कार्य के लिए मैं अपने गुरु एवं शोध निर्देशक डॉ० ओमकार मिश्र जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञ एवं आभारी हूँ, जिन्होंने अपने कुशल निर्देशन में मेरा मार्ग दर्शन किया। विभागाध्यक्ष श्री राजाराम दीक्षित जी के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने सदा मुझे उचित परामर्श एवं प्रोत्साहन प्रदान किया। इसी श्रृंखला में डॉ० राकेश त्रिपाठी, प्रवक्ता, सरस्वती इण्टर कालेज, अतर्रा को कृतज्ञता अर्पित करती हूँ जिन्होंने अथक परिश्रम करके शोध ग्रन्थ को पूरा करने में पूरा सहयोग दिया है। परिस्थितिवश, यह कार्य इतनी सुगमता से पूर्ण नहीं होता, यदि माता-पिता का आशीर्वाद, प्रोत्साहन एवं सहयोग न मिलता। उनके प्रति आभार व्यक्त करना मेरी सामर्थ्य से परे है। इस सन्दर्भ में मैं अपने जीवनसाथी को कदापि नहीं भूल सकती जिनके असीम प्यार व सहयोग ने मुझे विषम परिस्थितियों में भी निरुत्साहित नहीं होने दिया। इनके अतिरिक्त इस कार्य के लिए मुझे अनेक लोगों से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ। उन सभी का मैं आभार व्यक्त करती हूँ एवं उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूँ।

दिसम्बर, २००६

(श्रीमती ममता त्रिपाठी)

अनुक्रमणिका

भूमिका

भूमिका

साहित्य दर्पणकार ने काव्य की परिभाषा "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[1] की है परन्तु इसमें काव्य का लक्षण नहीं अपितु काव्य की प्रशंसा अधिक प्रतीत होती है। जब हम इस सूत्र को पढ़ते हैं तो हम ऐसा अनुभव करते हैं कि मानों हम किसी विशिष्ट काव्य कृति की अनुभूतियों के आनन्द का प्रकाशन कर रहे हों, परन्तु हम देखते हैं कि प्राचीन काल में काव्य शास्त्र के लिए 'काव्यालंकार' नाम अधिक प्रचलित पाया है। इसमें सन्देह नहीं कि जिसे वस्तुतः 'काव्य' अथवा कविता कहते हैं उसकी आनन्दात्मक अनुभूति के देखते 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[2] की परिभाषा उपनिषद् वाक्य सी लगती है। इसमें काव्य की रहस्यमयी भावनाएँ छिपी हैं; कवियों की कला के रहस्य का संकेत छिपा है, सहृदयों की सहृदयता की कसौटी छिपी है और अन्त में विश्वनाथ कविश्रेष्ठ की वह रसमयी काव्य संवेदना छिपी है, जो बताना तो चाहती है कि 'काव्य क्या है?' किन्तु यह न बताकर कविता पर 'कविता' करने लगती है। यदि हम विश्वनाथ कविराज के काव्य-लक्षण को 'काव्य' विषय का ध्वनिकाव्य कहे तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'[3]

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् 'काव्य' वह काव्य है जो रसात्मक हो, किन्तु ऐसा कहने से यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि 'वाक्य' क्या वस्तु है जिसमें 'रस' रूप आत्मा का अस्तित्व रहा करता है। कहना पड़ेगा कि 'वाक्य' वह पदकदम्ब है जिसमें आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति के तत्व विराजमान रहा करते हैं।

'वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासक्तियुक्तः पदोच्चयः'[4]

'वाक्य' की इसमें विशद परिभाषा क्या हो सकती है? यह 'वाक्य'

---

1. *साहित्य दर्पण - विश्वनाथ - 1/23*
2. *साहित्य दर्पण - विश्वनाथ - 1/23*
3. *साहित्य दर्पण - विश्वनाथ - 1/5*
4. *साहित्य दर्पण - विश्वनाथ - 2/31*

जब रसात्मक हो तो 'काव्य' है। इस प्रकार वाक्य कैसे 'रसात्मक' हो? यह जानने की एक समस्या उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि मनुष्य की अपनी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ एवं रुचियाँ होती हैं, इसलिए अमुक वाक्य रसात्मक है या नहीं यह जानने की एक विकट समस्या उत्पन्न हो जाती है। वाक्य अपने आप 'रसात्मक' नहीं हो सकता चाहे वह कैसे भी साकांक्ष, योग्य और आसक्तिमय पढ़ने का सन्दर्भ अथवा समूह क्यों न हो। कवि ही 'वाक्य' बनाता है और वही उसमें 'रसरूप' अनुभव परमार्थ का आधान करता है, जो कि अन्त में सहृदय के रसानुभाव का स्रोत बन जाता है। जब तक कवि वाक्य रचना न करे तब तक अपनी रसरूप आत्मा को कहाँ बैठाये! कहाँ ले जायें? इसलिए कवि को 'वाक्य' तो बनाना ही पड़ेगा। कवि का काम प्रतिदिन के व्यवहार वाले 'वाक्य' की रचना नहीं अपितु ऐसे 'वाक्य' की रचना है जो कि 'रस' रूप आत्मतत्व का 'दिव्यमंगलविग्रह' बन जाय, जिसे कम से कम – 'रस' रूप राष्ट्रपति का धर्मासन कहा जाय। ऐसा वाक्य कवि कैसे बनाता है? यह तो एक अलग प्रश्न है। किन्तु जब कवि ऐसा 'वाक्य' बना लेता है तब उसके विश्लेषण मे यही पता चलता है कि ऐसे 'वाक्य' अथवा 'पदकदम्ब' मे अदोषता, सगुणता और औचित्यपूर्ण अंलकार योजना के काव्यात्मक तत्वों का हाथ अवश्य है। 'रसात्मक' होने के लिए 'रस' रूप अन्तर तत्व का आधार होने के लिए, वाक्य को केवल साकांक्ष, योग्य और संसृष्ट पदों का 'कदम्ब' होना अपेक्षित नहीं अपितु अदोष, सगुण और सुरुचिपूर्ण ढ़ंग से अलंकृत होना अपेक्षित है। निष्कर्ष यही निकलता है कि – *वाक्यं रसात्मक काव्यम्*[1] की काव्य परिभाषा से –*'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'*[2] का काव्य लक्षण ध्वनित होता है जिसमें कवि की कृति के रूप में 'काव्य' रहस्य निर्दिष्ट होता है।

काव्य की दूसरी परिभाषा रस गंगाधर ने काव्य लक्षण निरुपण अध याय में– *'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'*[3] की है। यह ध्वनि

1. *साहित्य दर्पण – विश्वनाथ – 1/23*
2. *साहित्य दर्पण – विश्वनाथ – 1/5*
3. *रसगंङाधर – काव्यलक्षण – निरूपणअध्याय – पृ0 4*

वस्तुतः इस काव्य परिभाषा के ऐतिहासिक विकास की सूचना है। बात यह है कि जब रसात्मक 'वाक्य' को काव्य कहा जाय तब 'वाक्य' के रचनात्मक उपकरण तक पहुँचना आवश्यक हो जाता है। 'रस' से बढ़कर रमणीय अर्थ और क्या हो सकता है? यह रमणीय अर्थ जिसे रस कहते हैं काव्य की आत्मा है। इसीलिए 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहने से अभिप्राय निकलता है 'रमणीयार्थ प्रतिपादक वाक्य' काव्य है। यह 'वाक्य' पद-समूह हैं किन्तु समूह तो 'पद' का ही समूह है इसलिए यदि रमणीय अर्थ के प्रतिपादक 'पद' को काव्य कहा जाये, जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है, तब तो सोने में सुगन्ध आ गयी। और अन्य कवि अथवा काव्यालोचक यही मानते हैं कि काव्य का परमाणु शब्द अथवा वर्ण ध्वनि है जिसके आधार पर रसानुकूल पदरचना अथवा शब्दार्थ- योजना की रचना निहित है। तो इस काव्य लक्षण से 'रसध्वनि' और 'गुणीभूतव्यंग्य' रूप काव्य विशेषो अथवा काव्यभेदों की संगति कैसे बैठ पायेगी। ध्वनि काव्य का लक्षण है -

वाच्यातिशयिनी व्यंड्.गये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्। वाच्यादधिक चमत्कारिणि व्यंड्गयार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम्।।"[1]

"भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ।
अविवक्षित वाच्योऽन्यों विविक्षितान्यपरवाच्यश्र्च।।"[2]

इसमें रसात्मकता का सम्बन्ध केवल अभिधामूलक ध्वनिकाव्य से ही जुड़ पाता है न कि लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य से। अब जब कि 'काव्य' अथवा 'रसात्मकं वाक्य' का पहला ही भेद ऐसा है जिसमें केवल रसात्मकता ही नहीं अपितु वस्तु और अंलकार आदिरूप ध्वन्यात्मकता भी है तब यह कैसे मान लिया जाय कि - *"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"[3]*

1. *साहित्य दर्पण - विश्वनाथ - 4/1/279*
2. *साहित्य दर्पण - विश्वनाथ - 4/2/280*
3. *साहित्य दर्पण - विश्वनाथ - 1/23*

का काव्य लक्षण बड़ा सुन्दर है, बड़ा मार्मिक और युक्तिपूर्ण है अच्छा है इसे काव्य का लक्षण न माना जाय।

''काव्यार्थस्याखण्डबुद्धिवेद्यतया तन्मयीभावेना स्वाददशायां गुण प्रध--ान भावावभासस्तावन्नानुभूयते, कालान्तरे तु प्रकारणादिपर्यालोचनया भवन्नप्यसौ न काव्यव्यपदेशं व्याहन्तुमीशः तस्यास्वादमान्नायन्तत्वात्।''[1]

इस प्रकार विभिन्न विचारधाराओं में उथल-पुथल के बीच ऊहापोह की स्थिति रहना सामान्य है, परन्तु इस काव्य लक्षण में वही काव्य विषयक रहस्य निर्भिन्न अथवा अनिर्भिन्न पड़ा है तथा काव्य तत्वों की दृष्टि से अभिप्रेय माना जा सकता है।

विश्वनाथ कविराज की काव्य परिभाषा के महत्त्व के तीसरे कारण के रूप में जो बात दिखायी देती है वह यह है कि इसी परिभाषा के द्वारा 'रसात्मक वाक्य और रसात्मक महाकाव्य' अथवा 'महाकाव्य की रसात्मक एकवाक्यता' का सिद्धान्त सबसे पहले प्रवर्तित हुआ।

'वाक्यं' रसात्मकं काव्यम्'[2] के काव्य लक्षण से ही विश्वनाथ कविराज की वही समीक्षा दृष्टि परिस्कृत हुई जिसे हम महाकाव्य प्रबन्ध भावना में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित कर सकते हैं।

काव्यप्रकाशकार सहित प्राचीन आचार्य शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहते हैं, उसके विषय में यह विचार करना है कि वह काव्यत्त्व शब्द तथा अर्थ दोनों में 'व्यासज्य-वृत्ति' अर्थात् दोनों में मिलकर रहने वाला धर्म है अथवा 'प्रत्येक-पर्याप्त' अर्थात् एक-एक में अलग भी रह सकता है। इनमें से पहला अर्थात् 'व्यासज्य-वृत्तिं' वाला पक्ष नहीं बन सकता है; क्योंकि उस दशा में 'एको न द्वौ' इस व्यवहार के समान यह श्लोक-वाक्य तो है परन्तु काव्य नहीं है इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा। जैसे दो पदार्थों में रहने वाली 'द्वित्व-संख्या' दोनों में मिलकर ही रहती है

---

1. *साहित्य दर्पण - विश्वनाथ - 4/331*
2. *साहित्य दर्पण - विश्वनाथ - 1/23*

अलग-अलग नहीं। इसलिए दित्व-संख्या उन पदार्थोंका व्यासज्य-वृत्ति धर्म है। जब दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं तभी 'द्वौ'- ये दो हैं इस प्रकार का व्यवहार होता है और जब उनमें से एक ही पदार्थ उपस्थित होता है उस समय 'यह दो नहीं' एक हैं इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसी प्रकार 'यह श्लोक-वाक्य है, काव्य नहीं' यह व्यवहार होने लगेगा। इसलिए काव्यत्व को 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार काव्यत्व को 'प्रत्येक-पर्याप्त' अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों में अलग-अलग रहने वाला धर्म भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उस में दशा में एक ही श्लोक -वाक्य में शब्द और अर्थ दोनो की दृष्टि से दुहरा काव्यत्व आ जाएगा। इसलिए एक पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा। इसलिए शब्द तथा अर्थ में न 'व्यासज्य-वृत्ति' काव्यत्व बनता है, न 'प्रत्येक-पर्याप्त'। फलतः काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है।

इसका अभिप्राय यह है कि काव्यत्व का प्रयोजक जो 'रसास्वादव्यंजकत्व' है वह शब्द तथा अर्थ दोनों में समान रूप से रहता है। काव्य को पढ़ा, काव्य को सुना और काव्य को समझा इस प्रकार का व्यवहार भी दिखलायी देता है, इससे शब्द और अर्थ दोनों की काव्यता प्रतीत होती है। केवल शब्द या केवल अर्थ की नहीं और काव्य प्रकाशोक्त अनुपहसनीय काव्य का नियामक *'चमत्कारि बोधजनकज्ञानविषयत्वावच्छेदक धर्मत्व'* रूप काव्य-लक्षण शब्द तथा अर्थ दोनों में रहता है, एक में नहीं। इसलिए काव्यत्व को 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसी दशा में अर्थात् काव्यत्व को व्यासज्य-वृत्ति धर्म मानने पर ही *'तदधीते तद्वेद'* इस पाणिनि-सूत्र के 'महाभाष्य' में भाष्यकार पतंजलि मुनि ने वेदत्व आदि को जो व्यासज्य-वृत्ति धर्म माना है वह न्यायोजित प्रतीत होता है। इस प्रकार काव्यत्व मुख्य रूप से 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म है परन्तु लक्षणा से केवल शब्द अथवा केवल अर्थ में भी काव्यत्व माना जा सकता है। फलतः काव्यप्रकाश के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों को काव्य

मानने में कोई बाधा नहीं है यह रसगंगाधर के टीकाकार नागेश भट्ट का अभिप्राय है।

न केवल नागेश, अपितु पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यो ने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना है। इस विषय में विभिन्न आचार्यो के निम्नलिखित वचन उद्धृत किये जा सकते हैं :-

(1) "शब्दार्थो सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा"[1]

(2) "काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्.कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते"[2]

(3) "शब्दार्थौ काव्यम्"[3]

(4) "अदोषौ सगुणौ सालङ्.कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्"[4]

(5) "शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम्"[5]

(6) "गुणालङ्.कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ"[6]

(7) "शब्दार्थौ वपुस्य तत्र विवुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः"[7]

इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों में काव्यत्व मानने वाला मत ही बहुजन-समादृत मत है। अतएव पण्डितराज जगन्नाथ ने जो खण्डन किया है वह उपादेय नहीं है। सुविधा एवं सुगमता की दृष्टि से काव्य के विविध भेदों को कुछ प्रमुख आचार्यो के द्वारा काव्य पर डाले गये प्रकाश एवं उनके लक्षणों का संक्षेपतः विवेचन करेंगे। सर्वप्रथम मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यो में से साहित्य शास्त्र के भीष्म पितामह 'भामह' का काव्य लक्षण सबसे अधिक प्राचीन है।

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।।[8]

---

1. भामह-1/16
2. वामन - 1/1
3. रुद्रट - 2/1
4. हेमचन्द्र - पृ0 16
6. वाग्भट- पृ0 14
6. विधानाथ - पृ0 42
7. विधाधर - एकावली - पृ0 1/13
8. भामह - काव्यालंकार - 1/16

यह काव्य का लक्षण किया है। यह लक्षण जितना ही प्राचीन है उतना ही संक्षिप्त है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना है। वे सहभाव या सहितौ शब्द का अर्थ लेते हैं इसकी व्याख्या भी उन्होंने नहीं की है। पर इनका अभिप्राय यह है कि जिस रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो वे शब्द और अर्थ 'सहितौ' पद से विवक्षित हैं। वही शब्द और अर्थ का 'साहित्य' है।

भामह के बाद 'काव्यादर्श' के निर्माता 'दण्डी' का स्थान माना जाता है। दण्डी ने पूर्व आचार्यो का उल्लेख करते हुए लिखा है –

'अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निवबन्धुः क्रियाविधिम्।।
तैः शरीरं काव्यानामलंङ्काराश्चः दर्शिताः।'[1]

अर्थात् प्रजाजनों की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर भामह आदि प्राचीन विद्वानों ने विचित्र मार्गो से युक्त काव्यवाणी के रचना के प्रकारों का वर्णन किया है, जिसमें उन्होंने काव्य के शरीर तथा उसके अलंकारों का वर्णन किया है।

यहाँ तक डेढ़ कारिका में दण्डी ने पूर्व आचार्यों के मत की चर्चा की है। उनका संकेत यहाँ मुख्य रूप से 'भामह' की ओर ही है 'भामह' के –*''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्''*[2] इस लक्षण में काव्य के शब्द और अर्थमय 'शरीर' का निर्देश है। और आगे ग्रन्थ में उसके अलंकारों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार *'तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः'*[3] यह पंक्ति स्पष्ट रूप से 'भामह' की ओर संकेत कर रही है भामह के इस लक्षण में आये हुए 'सहितौ' पद की कोई व्याख्या नहीं की गयी थी। इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न दण्डी ने किया है।

---

1. *काव्यादर्श – दण्डी – 1/9–10*
2. *भामह – काव्यालंकार – 1/16*
3. *काव्यादर्श – दण्डी – 1/9/10*

इस कथन में रसात्मक वाक्यरूप काव्य की रचना –प्रक्रिया पर तो प्रकाश अवश्य डाल रहा है किन्तु – वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस उक्ति में काव्य का रहस्य अनिर्भिन्न सा ही रह जाता है, वस्तुतः महामहोपाध्याय डा० काणे ने इसलिए कहा है –

"The definition of a few writers, particularly early ones, treat शब्द and अर्थ as equally prominent. While others give more. Prominence to 'शब्द some give a defintion of काव्य which is more difficult than the thing to be deffined (such as that of विश्वनाथ (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्)[1]

''दण्डी ने काव्य हेतुओं का विश्लेषण काव्य सम्पति की कारण रूपता के नाम से किया है। उनके मतानुसार नैसर्गिकी प्रतिभा, व्यापक एवं परिशुद्ध अध्ययन तथा प्रगाढ़ अभ्यास का समुदित रूप काव्य सम्पदा के हेतुभूत है।''[2]

स्वभावसिद्ध सहजा प्रतिभा का नाम ही कवित्वशक्ति है जो पूर्वजन्मों के संस्कारों से उत्पाद्य तथा नवनोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के नाम से भी अभिहित की जाती है। बहुविध काव्यशास्त्रों के अध्ययन तथा अनुशीलन एवं संशय विहीन श्रुतज्ञान के कारण भी काव्य वैभव का विस्तार होता है।

दण्डी द्वारा प्रतिपादित बहुश्रुतत्व पद व्युत्पत्ति का पर्याय है जिसे भामह, रूद्रट और वामन आदि आचार्यो ने अनेक विधाओं के सन्दर्भ में विवेचित किया है। दण्डी ने अमंद अभियोग को श्रम तथा अभ्यास भी कहा है। कालान्तर में प्रतिभा, श्रुत और अभियोग शब्द भिन्न–भिन्न नामों से विवेचित किए गये जिनका विविध आचार्यो द्वारा प्रतिपादित काव्य हेतुओं के प्रसंग यथास्थान निरूपित हुआ है। दण्डी की मान्यता है कि – *''यदि किसी कवि में पूर्वजन्म के संस्कार विशेष से उत्पन्न पूर्ववासना गुणानुबन्धी अद्‌भुत प्रतिभा न भी हो तो भी वह काव्यों और*

2. History of Sanskrit Poetics - Page - 338
3. *काव्यादर्श – दण्डी – 1/03*

शास्त्रों के अध्ययन तथा अभ्यासरूप प्रयत्न द्वारा वाग्देवता सरस्वती के वरदान एवं अनुग्रह के फलस्वरूप कवित्वशक्ति प्राप्त कर सकता है।"[1]

वाग्देवता के ऐसे वरद पुत्र सभी देश कालों में वंदनीय और यशस्वी होते हैं।

आचार्य दण्डी की मान्यता है कि सुप्रयुक्त वाणी ही काव्य है काव्य में सुमधुर वाणी का प्रयोग संश्रुत माना गया है। आचार्य दण्डी वाणी की अमोद्य शक्ति तथा अभीष्ट फलदात्री सिद्धि से परिचित थे। वे शब्द ब्रम्ह की उस अलौकिक चमत्कृति के ज्ञाता थे जिसका यशोगान श्रुति ग्रंथों के अन्तर्गत –

"एकः शब्दः सम्यक्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुग्भवति' जैसे तत्वगर्भित वाक्यों द्वारा किया गया है। उन्होंने वाणी को इष्टफलप्रदा कामधेनु के तुल्य मानकर उसकेअरूप की प्रशंसा की है जो सब प्रकार से सुप्रयुक्त किये जाने पर मनवांछित फल प्रदान करती है।"[2] गुणालंकार समन्वित निर्दोष वाणी के सुष्ठु प्रयोग में ही काव्यकला की सार्थकता और सफलता निहित है। दुष्प्रयुक्त वाणी कवियों अथवा वस्तुओं के लिए कलंकरूपिणी है जिससे प्रयोक्ताओं का मूर्खत्व ही संसूचित होता है। अन्य काव्यशास्त्रियों की भाँति दण्डी ने भी काव्य प्रबन्धों में गुणों और अलंकारों का गौरव संस्तुत किया है। – *"वे दोषयुक्त काव्य रचना को सुन्दर शरीर पर स्थित स्वेत कुष्ठ के चिन्ह से लांछित मानते थे।"[3]* अपने काव्यादर्श में उन्होंने इस विचार पक्षपर विशेष बल दिया है कि काव्य प्रबंधों के पदपदांशो अथवा वाक्य रचनाओं में प्रयुक्त काव्यदोष सभी दृष्टियों से अक्षम्य होते हैं क्योंकि उनके कारण शब्दार्थमय काव्य का कामनीय कलेवर कुत्सित और कुष्ठ रोग

---

1. काव्यादर्श – दण्डी – 1/104
2. काव्यादर्श – दण्डी – 1/6
3. काव्यादर्श – दण्डी – वही – 116

ग्रस्त सा हो जाता है। उनके मतानुसार काव्यशास्त्र की उपयोगिता इस बात में है कि काव्य प्रणेताओं की बुद्धि में काव्य के गुण दोषों का विवेक उन्मेषित करें जिससे वे अपनी रचनाओं में गुणालंकारों का सम्यक् संयोजन कर सकें। वस्तुतः ज्ञाननेत्र की ज्योति द्वारा ही सत्कवि गुण दोषों का विभाजन और प्रबोध कर सकते हैं जिससे उनकी रचनाओं में काव्य सौष्ठव का संचार संभव है।

दण्डी का स्पष्ट मत है कि जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति रंगरूपों का भेद रहस्य नहीं समझ पाता, उसी प्रकार काव्य शास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्ति काव्य के गुण–दोषों का विवेक नहीं कर पाता उन्होंने इसी प्रयोजन से प्रेरित होकर उन काव्यमार्गो का निरूपण किया है जो वैदर्भ और गौड़ीय आदि विभिन्न नाम प्रकारों से काव्य शास्त्रियों द्वारा विवेचित किए गये हैं।

दण्डी का यह प्रयास काव्य रचना की निर्दोष पद्धतियों और प्रक्रियाओं की दिशा में किया गया एक स्वस्थ उपक्रम है जिसके द्वारा उन्होंने इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करनी चाही है कि काव्य वाणी का शुद्ध, परिष्कृत, परिमार्जित और व्याकरणसम्मत सुष्ठु प्रयोग ही काव्य की सफलता का मूल हेतु है और ऐसे प्रयोग ही वाणी का वैसिष्ट्य सिद्ध करते हैं।

काव्य में शब्दार्थमयता की अनिवार्य स्थिति के समर्थक होते हुए भी आचार्य दण्डी उसके शब्द प्राधान्य में अधिक विश्वास रखते थे क्योंकि अभिलषित अर्थ से समन्वित पद समूह ही काव्य का शरीर माना जाता है। उन्होंने काव्य के शरीर तत्व के साथ उसके अलंकरण साधनों की चर्चा करते हुए जिन मार्गो का उल्लेख किया है अंततः वे घूमफिर कर काव्य गुणों और अलंकारों से ही सम्बद्ध सिद्ध होते हैं।

दण्डी का काव्य लक्षण जहाँ एक ओर मम्मट के काव्य लक्षण का उत्प्रेरक रहा है, वहीं दूसरी ओर वह पण्डितराज जगन्नाथ के लिए काव्य लक्षण निर्धारण का भी परोक्ष आधार बन सका है। यदि हम सम्पूर्ण काव्यशास्त्र जानने के लिए जिज्ञासु हैं तो किसी काव्यकार की कल्पना

करना भी सम्भव नहीं है। पं0 जगन्नाथ के लिए काव्य लक्षण निर्धारण समग्र अभिरुचियों की पूर्ति किसी भी अन्य माध्यम से नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा करने से अन्य साहित्यिक क्षेत्र न्यूनता की ओर अग्रसर हो सकता है और इस प्रकार एक विहंगम दृष्टि डालते हुए अब हम आगे काव्य के विविध भेदों का उल्लेख करना ग्रन्थों से अकेले नहीं संभल पाता सुविधा की दृष्टि से अब हमें काव्य के विविध भेदों का निरूपण और आंकलन करना चाहिए।

काव्य के प्रकार

दण्डी ने गद्य, पद्य और मिश्र नाम से काव्य के तीन भेद किए हैं। गद्य यदि छन्दोरहित अमिताक्षर विधान है तो पद्य छन्दोबद्धमिताक्षर रचना का नाम है। गद्य और पद्य का सम्मिश्रित रूप मिश्र काव्य है जिसे 'चम्पू' भी कहा जाता है। नाटक आदि दृश्य काव्यों की गणना मिश्रकाव्य के अर्न्तगत की जाती है। पद्य को चतुष्पदी भी कहते हैं। क्योंकि साधारणतः उसमें चार चरण होते हैं। उसके मुख्य दो भेद हैं –

1. वृत्त
2. जाति

अक्षरों अथवा वर्णो की संख्या से नियमित होने वाले मंदाक्रांता, शिखरणी और शार्दूल विक्रीडित आदि छंद 'वृत्त' कहलाते हैं। आर्या और गीति आदि छंद जाति अथवा मात्रिक छंद कहलाते हैं। क्योंकि वे मात्राओं की संख्या से नियमित होते हैं। वृत्त और जाति नामक पद्य भेदों का सम्पूर्ण प्रपंच विस्तार छन्दोविचित अथवा छन्दशास्त्र में हुआ है जिसे पिंगल शास्त्र भी कहा जाता है। *'आचार्य दण्डी ने काव्य प्रबन्ध स्वरूप सागर संतरण के लिए छन्द विधा को पोततुल्य माना है।'*[1]

---

1. *काव्यादर्श – दण्डी – 1/12*

मुक्तक, कुलक कोष और संघात काव्य :–

'दण्डी ने मुक्तक, कुलक, कोष तथा संघात आदि काव्य भेदों को सर्वगन्ध महाकाव्य के अंगमात्र कहा है।'[1]

'मुक्तक काव्य अन्य पद्यों से युक्त, निरपेक्ष और स्वतंत्र पद्य रचना का नाम है। मुक्तक का एक ही पद्य काव्य अथवा वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से पूर्ण और निरपेक्ष होता है। अग्निपुराण में 'मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्' को मुक्तक का लक्षण निर्धारित किया गया है।'[2]

'अमरुकशतक' के प्रथक-प्रथक श्लोक मुक्तक काव्य के अनुपम उदाहरण माने गये हैं। वाक्यान्वय की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध श्लोक समूह का नाम कुलक है। दण्डी के परवर्ती आचार्यों ने पाँच श्लोकों के समूह का नाम 'कुलक' कहा है। दो, तीन तथा चार श्लोक समूहों को क्रमशः 'युग्मक' 'संदानितक' तथा कलापक कहा जाता है। मुक्तक पद्यों के समूह का नाम 'कोष' है। जो अन्योन्यानपेक्षक, व्रज्याक्रम से विरचित तथा अत्यन्त मनोरम होता है।''[3] आर्यासप्तशती और सुभाषितावली आदि काव्य ग्रंथ 'कोष' के रूप हैं परिमित कथावस्तु से युक्त एवं एक ही छंद में ग्रथित प्रबंधात्मक रचना का नाम 'संघात' है। संघात खण्डकाव्य से मिलता जुलता रूप है। कालिदास का 'ऋतुसंहार' संघात काव्य का श्रेष्ठ निदर्शन कहा जा सकता है।

आचार्य भामह ने सर्गबद्धो महाकाव्यम्' की जो लक्षण परम्परा प्रवर्तित की थी, वह दण्डी के लिए सुमान्य रही है। दण्डी ने सर्गबद्ध काव्य प्रबंध को 'महाकाव्य' पद से अभिहित करते हुए उसका शुभारम्भ, आशीर्वचन, नमस्क्रिया तथा वस्तुनिर्देशात्मक माना है। उनके मतानुसार

---

1. काव्यादर्श – दण्डी – 1/13
2. अग्निपुराण – 337/23/4
3. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ– 6/314–5

महाकाव्य की रचना, किसी ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक (उत्कृष्ट) कथा अथवा पात्र को आधार बनाकर ही की जाती है। वह चतुर्वर्गफल प्राप्ति का साधन तथा चतुर और उदात्तनायक के चरित्र से उपव्रंहित होता है। उनके वर्ण विषयों में नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यानक्रीड़ा, जलविहार, मदिरापान, संभोग, श्रृंगार, विप्रलम्भ श्रृंगार, विवाह, पुत्रजन्म, राजनीतिक मंत्रणा, दूतसंप्रेषण, विजय यात्रा, युद्धचित्रण तथा नायक की विजय, विषय संवलित रहते हैं। उसकी कथावस्तु अत्यन्त अलंकृत, असंक्षिप्त, अपेक्षित, विस्तार युक्त और रसभावों से परिपूर्ण होती है। उसके सर्ग अनितिविस्तीर्ण, श्रुति सुखद, छंदनिबद्ध, परस्पर सम्बद्ध, विविध घटनाओं से समुपेत तथा अंत में भिन्नवृत्त होते हैं। उपर्युक्त लक्षणोपेत महाकाव्य सहृदयजन संवेद्य, लोकरंजक, श्रेष्ठ अलंकार, समन्वित तथा कालान्तर में स्थायी यश का जनक कहा जाता है।''[1]

दण्डी ने महाकाव्य के जो सामान्य लक्षण निर्धारित किए हैं वे कालांतर में विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा विशदीकृत किए गये। दण्डी ने महाकाव्यों की सर्गसंख्या आदि के विषय में किसी निश्चित नियम का उल्लेख नहीं किया जबकि साहित्य दर्पणकार ने उन्हें आठ अथवा उनसे अधि ाक संख्या वाले सर्गों तक परिख्यात कर दिया। कहने के लिए तो उन्होंने महाकाव्य के लक्षण में विविध विषयों के समावेश का उल्लेख किया है। किन्तु इस विषय में उनका मत विशेष महत्वपूर्ण है कि यदि वर्ण्य विषय के रूप में विवेचित सभी तत्व भले ही महाकाव्य में वर्णित न भी हों किन्तु अपने औदात्य उत्कर्ष तथा सहृदयजन हृदयसंवादित्व के कारण वह सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ और महान ही समझा जाना चाहिए।''[2]

उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया है कि नायक के गुणों का प्रस्तुतीकरण करते हुए उनके द्वारा शत्रुओं का विनाश तथा नायक का उत्कर्ष जिस किसी भी रूप में चारुत्व हेतु सिद्ध हो, उसका अभिचित्रण

1. *काव्यादर्श – दण्डी – 1/14–19*
2. *काव्यादर्श – दण्डी – 1/20*

करने में किसी भी प्रकार की कमी न रहने पर ही महाकाव्य की सफलता मानी जाती है।[1]

आख्यायिका और कथा :-

"काव्य का द्वितीय प्रकार 'गद्य' है जो छंदलक्षित गुणों तथा मात्राओं के नियमों से अनुबंधित नहीं होता। उसके मुख्य दो भेद हैं। जिन्हें 'आख्यायिका और कथा' कहा जाता है। "आख्यायिका स्वयम् नायक द्वारा कही जाती है जबकि कथा किसी अन्य पात्र द्वारा वर्णित होती है।"[2]

दण्डी के मतानुसार यदि आख्यायिका अथवा कथा में उनका नायक अपने गुणों का प्रासंगिक संकीर्तन करता चले तो उसके यथार्थ चित्रण में किसी प्रकार का दोष नहीं माना जाता।"[3] ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी ने रचनाकाल में आख्यायिका और कथा के प्रति कतिपय रूढ़िग्रस्त धारणाएँ बनी हुई थी जिनका पारम्परिक निर्वाह करना वे अनिवार्य नहीं समझते थे। उन्होंने अपनी ओर से न तो उनके लक्षण ही निर्धारित किए न ही उनके भेद तत्वों का विश्लेषण किया। उनकी मान्यता थी कि आख्यायिका में नायक से भिन्न पात्र अथवा व्यक्ति भी आख्यान का चित्रण कर सकता है। अतः ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता जिसके अनुसार स्वयं नायक द्वारा उसकी अपनी कथा वर्णन किए जाने पर ही उसे आख्यायिका समझा जाये इस प्रकार दण्डी के मतानुसार आख्यायिका और कथां में भेदक तत्व निरुपित करना व्यर्थ का दुष्प्रयास है।

'दण्डी ने आख्यायिका और कथा को एक ही गद्य जाति के दो अभिन्नरूप माने हैं जिनके अन्तर्गत सभी आख्यानभेद समाहित हो जाते हैं।"[4] अपनी मान्यता के अनुसार दण्डी ने आख्यायिका और कथा के कृतिम भेदक चिन्हों का जमकर विरोध किया जो अन्य आचार्यो को

---

1. *काव्यादर्श – दण्डी – 1/21–2*
2. *काव्यादर्श – दण्डी –1/23–24*
3. *काव्यादर्श – दण्डी – 1/23–24*
4. *काव्यादर्श – दण्डी – 1/28*

सुमान्य नहीं लगा।

"अग्निपुराण ने आख्यायिका और कथा के अतिरिक्त खण्ड कथा, परिकथा तथा कथनिका नामक गद्य भेदों की भी चर्चा हुयी है जिसके अनुसार गद्यकाव्य के प्रमुख पाँच भेद हो जाते हैं।[1]"

इस विषय में काव्यानुशासन आचार्य हेमचन्द्र तो और भी अधिक आगे बढ़ गये हैं। वे कथानिका को छोड़कर अग्निपुराण के भेद चतुष्टय को स्वीकार करने के साथ-साथ आख्यान, निदर्शन, प्रवहिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, वृहत्कथा, सकलकथा और उपकथा नामक अन्य गद्य भेद भी प्रस्तावित करते चले हैं। जिनके सम्मुख दण्डी का अभिभूत धूमिल हो जाता है।[2]

भाषाकृत काव्य भेद :-

'दण्डी ने भाषा भेद की दृष्टि से काव्य के चार प्रकार माने हैं जिनके नाम संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र अर्थात् विविध भाषामय काव्य हैं।'"[3]

पाणिनि, काव्यायन और पंतजलि आदि महर्षियों तथा वैयाकरणों द्वारा अनुशासित देवभाषा का नाम संस्कृत है। तत्सम्, तद्भव और देशी शब्दों के भेद से प्राकृत भाषायें अनेक प्रकार की मानी गयी हैं। महाराष्ट्र में प्रयुक्त महाराष्ट्री प्राकृत सर्वश्रेष्ठ प्राकृत कहलाती है। इस भाषा में वाकाटकनरेश प्रवरसेन द्वितीय (410-40ई0) रचित 'रावण वहो' अथवा 'दसमुहवहो' नामक काव्य ग्रंथ का विशेष महत्व है जिसे 'सेतुबन्ध' काव्य के नाम से भी अभिहित किया जाता है। दण्डी 'अवन्तिसुंदरी कथा' के अन्तर्गत इस काव्य का उल्लेख किया है। महाराष्ट्री प्राकृत में हाल सातवाहन रचितं 'गाहासतसई' तथा वाक्पति राजप्रणीत 'गउडवहो' काव्य विशेष प्रसिद्ध है।

---

1. *अग्निपुराण - 337/12*
2. *काव्यानुशासन - हेमचन्द्र - पृ0 406-8*
3. *काव्यादर्श - दण्डी - 1/32*

प्राकृत के व्याकरण – ग्रंथों में शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, गौडी लाटी तथा इन्हीं के समान अन्य भाषारूप प्राकृत भाषाओं का उल्लेख मिलता है। शौरसेनी प्राकृत मथुरा के पार्श्ववर्ती शूरसेन प्रदेश में बोली जाती थी तो मागधी प्राकृत का प्रचार वर्तमान बिहार के मध्यपश्चिमी भाग अर्थात् मगध जनपद में विशेष रूप से किया जाता था। जैन धर्मग्रन्थों की प्राकृत भाषा अर्धमागधी कहलाती थी। दण्डी ने पैशाची प्राकृत को 'भूतभाषा' का नाम दिया है जिसका प्रयोग अवन्ति, दशपुर, पारियात्र तथा उनके पार्श्ववर्ती प्रदेशों के किरात, शबर तथा भिल्लजाति के लोग किया करते थे। चूलिका पैशाची प्राकृत पैशाची का ही एक अवांतर भेद है। दण्डी ने बंगाल के मध्योत्तर भागवर्ती गौड प्रदेश की भाषा को गौडी प्राकृत तथा गुजरात के दक्षिणवर्ती लाट प्रदेश की भाषा को लाटी प्राकृत नाम दिया है।

दण्डी के रचनाकाल में अपभ्रंश भाषाओं का प्रचार और प्रसार प्रचुर मात्रा में हो चुका था। संस्कृत तथा प्राकृत के काव्य ग्रन्थों और नाटकों में आभीर, यवन, शक, तुरुष्क, आदिम्लेच्छ जातियों के पात्र अपभ्रंश भाषा का प्रयोग स्वाभाविक रूप से करते थे। दण्डी ने – *'अभीरादिगिरिः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृतः।'*[1] द्वारा यही बात प्रकारांतर से कही है जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य ग्रन्थों में प्रयुक्त आभीर आदिम्लेच्छ जातियों की बोली का नाम अपभ्रंश था जो शास्त्रग्रन्थों में प्रसंगवश प्रयुक्त की जाती थी तथा प्राकृत भाषाओं में भिन्नता रखती थी। पंतजलि के महाभाष्य में भी – अपभ्रंश भाषाओं का उल्लेख हुआ है। जिसमें इस बात का स्पष्ट संकेत है कि एक ही शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप होते हैं। दण्डी के मतानुसार अपभ्रंश किसी भाषा विशेष का नाम न होकर एक ऐसा संज्ञापद है जो विभिन्न संदर्भो में भिन्न–भिन्न अर्थो का वाचक है। हिन्दी के आदिकाल के पूर्व इस भाषा में जो धार्मिक साहित्य तथा काव्य–वाङ्मय निर्मित हुआ है वह अपनी गुण गरिमा में अभूतपूर्व है।

---

1. काव्यादर्श – दण्डी – 1/36

दण्डी ने 'काव्यादर्श' में इस बात का उल्लेख किया है कि संस्कृत तथा संस्कृतेतर भाषाओं में जो कथा साहित्य निबद्ध होता रहा है, उसमें प्राकृत भाषा तथा अपभ्रंश भाषा की अत्यन्त गरिमामयी भूमिका है। दण्डी के कार्यकाल में श्रव्य और दृश्यकाव्य इतने प्रचलित हो चुके थे जिनका प्रमाण देना कठिन है। लास्य, छलित और शल्या आदि विधाएँ दृश्यकाव्य के विविध रूप हैं जिनमें भामह ने नाटक, द्विपदी, शम्या, रासक और स्कंध ाक आदि रूपों का समावेश करते हुए उनकी संख्या वृद्धि की है।

इसके अतिरिक्त काव्य के विविध भेदों का जब हम अनुशीलन, अध ययन और चिन्तन करते हैं तब हम वामनकृत काव्यालंकार सूत्र की ओर भी अभिमुख होते हैं उन्होंने काव्य विवेचना को अलंकार तत्व पर आधारित माना है।

काव्य के लक्षण और प्रयोजन

वामन की काव्य विवेचना अलंकार तत्व पर आधारित है। वे प्रारम्भ से ही - *'काव्यं ग्राह्ममलंकारात्''*[1] की धारणा लेकर चले हैं जिसमें अलंकार को सौन्दर्य स्वरूप *'सौन्दर्यमलंकारः'*[2] माना गया है। उन्होंने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि जब तक काव्य में अलंकार का संयोग नहीं होता, वह काव्य पद का अधिकारी नहीं हो सकता। सौन्दर्य और अलंकार एक दूसरे से भिन्न नहीं है। अलंकार गुणधर्मी है जिसका यह आशय है कि उसमें गुण समष्टि स्वतः निहित रहती है। गुणों और अलंकारों के सन्निवेश से काव्य सौन्दर्यशाली बनता है। जिसका आधार लेकर काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ अलंकृत होते हैं। वास्तव में सौन्दर्य अथवा अलंकार ही काव्य का मुख्य तत्व है। अलंकार का अभिप्राय 'भावार्थक अलंकृति' है। वामन ने भाव में 'घञ्' प्रत्यय करते हुए 'अलंकार' पद की सिद्धि की है जिसका तात्पर्य यह है कि तत्वतः वह सौन्दर्य का साधन अथवा कारण न होकर साक्षात् सौन्दर्य स्वरूप है। अपनी इस स्थिति

---

1. काव्यालंकारसूत्र- वामन- 1/1/1

2. काव्यालंकार सूत्र - वामन 1/1/2

के कारण वह काव्य का स्वरूपधायक तत्व सिद्ध होता है जिसे कटक कुण्डल आदि के तुल्य वाह्म अलंकरण मात्र नहीं माना जा सकता।

वामन ने काव्य को स्वभावतः सुन्दर मानकर उसके प्रयोजन निर्दिष्ट किये हैं। उसका दृष्ट प्रयोजन 'प्राति' तथा आदृष्ट प्रयोजन कीर्ति है। प्रीति की प्रयोजनीयता कवि तथा पाठक दोनों के लिए है। ऐहिक अथवा लौकिक फल प्रदाता होने के कारण उसे 'दृष्ट' कहा जाता है। कीर्ति का सम्बन्ध मूलतः कवि–कर्म से जुड़ा हुआ है। वामन ने इसी संदर्भ में कुछ संग्रह श्लोक उद्धृत किए हैं जिसमें काव्य प्रयोजनी कीर्ति की प्रशंसा तथा अपयश की निन्दा की गई है :-

'प्रतिष्ठां काव्यबंधस्य यशसः सरणिं विदुः।[1]
अकीर्तिवर्तिनी त्वेवं कुकवित्व विडम्बनाम्।।
कीर्तिं स्वर्गफलमाहुरासंसार विपश्चितः।
अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्।।

वामन ने काव्य के प्रयोजन का निरूपण करने के पश्चात् उसके अधिकारी और विषय की चर्चा की है क्योंकि वे दोनों काव्य के 'अनुबंध चतुष्ट्य' से सम्बन्धित हैं इसके पश्चात् 'रीति सिद्धात' नामक अपने प्रतिपाद्य विषय की विवेचना का उपक्रम किया है। उसका सिद्धान्त सूत्र *'रीतिरात्मा काव्यस्य'*[2] है। जिसका अर्थ रीति ही काव्य की आत्मा है। शब्द और अर्थ – काव्य के शरीर स्थानीय है जिनमें रीति तत्व जीवनाधायक पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। वामन ने –*'विशिष्ट पद रचना रीतिः'*[3] तथा *'विशेषोगुणात्मा'*[4] सूत्रों द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि उत्तम पद रचना की शैली ही रीति है जिसमें वक्ष्यमाण गुणों का अस्तित्व उसके 'विशेष' तत्व के रूप में निहित रहता है।

---

1. *काव्यालंकारसूत्र– वामन– वृत्तिभाग– 1/1/5*
2. *काव्यालंकारसूत्र– वामन – 1/2/6*
3. *काव्यालंकार सूत्र–वामन– वही– 1/2/7*
4. *काव्यालंकारसूत्र – वामन– 1/2/8*

इसके अतिरिक्त वैदर्भी रीति गौडीया और पांचाली रीति का भी उल्लेख वामन द्वारा किया गया है।[1]

काव्यालंकारसूत्र का द्वितीय अधिकरण 'दोष दर्शन' के नाम से अभिहित है जिसके दो अध्यायों में क्रमशः पद और पदार्थ दोनों के भेद प्रभेद निरूपित किये गये हैं। ये दोष शब्दार्थमय काव्य शरीर के लिये विघातक है क्योंकि उनके कारण उसका अपकर्ष होता है। काव्य सौन्दर्य की शोभा तभी बढ़ सकती है जब उसमें दोषों का 'अपनयन' और गुणों का 'आधान' किया जाए।

वामन ने जिस अर्थ में दोषों का *'गुणविपर्ययात्मभूत'* कहा है उसमें एक शंका ये उत्पन्न होती है कि जब गुणों का विपर्यय ही दोष है तो उनकी स्वतन्त्र विवेचना की क्या आवश्यकता है क्योंकि गुणों के ज्ञान से ही उनका ज्ञान किया जा सकता है। *'अर्थतस्तदवगम'*[2] सूत्र के अनुसार अर्थापत्ति द्वारा गुण विरोधी दोषों का ज्ञान संभव है।

वामन ने पदार्थ दोषों का उल्लेख *'अन्यार्थनेयगूढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च'*[3] सूत्र के अनुसार, अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढार्थ, अश्लीलत्व, और क्लिष्टत्व आदि दोषों की चर्चा की है। अन्य आचार्यो ने भी वामन के इन दोषों का समर्थन करते हुए माना है कि काव्य के लिए ये दोष वर्जनीय है।
'वामन ने वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों का निरूपण द्वितीय अधिकरण के द्वितीय अध्याय में किया है। उनके मतानुसार भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट तथा विसंधि नामक तीन वाक्य दोष हैं।''[4]

''उपर्युक्त वाक्य दोषो के अतिरिक्त व्यर्थ, एकार्थ, संदिग्ध, अप्रयुक्त,' अपक्रम, लोकविरूद्ध और विद्याविरूद्ध नामक सात प्रकार के अन्य वाक्यार्थ दोष भी माने जाते हैं।''[5] परन्तु वामन ने कला तथा चतुर्वर्गीय शास्त्रों के

---

1. *काव्यालंकारसूत्र - वामन- वृत्तिभाग- 1/2/9*
2. *काव्यालंकारसूत्र - वामन- वृत्तिभाग- 2/1/2*
3. *काव्यालंकारसूत्र - वामन- वृत्तिभाग- 2/1/10*
4. *काव्यालंकारसूत्र - वामन- वृत्तिभाग- 2/2/1*
5. *काव्यालंकारसूत्र - वामन- वृत्तिभाग- 2/2/9*

अर्थविरोध में विद्या विरुद्ध दोष माना है।

इसके अतिरिक्त वामन ने– *"ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति, और कांति नामक दस बंधगुण माने है।"*[1]

वामन ने गुणों का लक्षण – *"काव्यशोभायाः कर्तारोधर्मागुणाः"* किया है जिसके अनुसार शब्द और अर्थ के वे धर्म गुण कहलाते हैं जिनसे काव्य की शोभा उत्पन्न होती है।[2]

प्रसाद, ओज तथा माधुर्य गुण आदि ही काव्य के शोभाकारक धर्म है भामह तथा उनके टीकाकार भट्टोद्भट्ट इस सिद्धान्त के समर्थक है। परन्तु इनके विपरीत आनंद वर्धन तथा मम्मट आदि रसध्वनिवादी आचार्य भेदवादी दृष्टिकोण से गुणों और अलंकारों में अन्तर मानते हैं। जिसकी विवेचना काव्य सिद्धान्तों के प्रसंग में हो चुकी है।

आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्व कतिपय काव्यशास्त्रियों ने काव्य के आत्मतत्व के रूप में ध्वनि–सिद्धान्त की विवेचना की थी जिसका उल्लेख 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत के प्रारम्भ में हुआ है। इस सिद्धान्त के पूर्व पक्ष के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि विरोधी तीन मतो का उल्लेख किया है जिन्हें अभाववादी, भाक्तवादी तथा अशक्यवक्तत्यत्ववादी मत कहा जाता है। ध्वनि के अस्तित्व में विश्वास न रखने वाले अभाववादी आचार्यो के लिये– "अपारंमौर्ख्यमभाववादिनां" पदों का प्रयोग कर उन्होंने उनकी मूर्खता का उपहास किया है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने अभाववादियों के विकल्प और तर्क सुने नहीं हैं फिर भी वे उनकी संभावनाओं के आधार पर ही उनके दोषों का विवेचन करना उचित समझते हैं। सम्भावित पक्षों की असम्भाव्य स्थिति तथा अभावपक्ष की कल्पना को तत्व ज्ञान कुण्ठित मस्तिष्क की स्फुरणा कहकर उन्होंने अभाववादी दृष्टिकोण को एक प्रकार से निरस्त सा कर दिया है।

---

3. काव्यालंकारसूत्र – वामन– संग्रहश्लोक– 3/1/4–13
4. काव्यालंकारसूत्र – वामन– संग्रहश्लोक– 3/1/1

प्रथम विकल्प में यह माना गया है कि शब्द, अर्थ, गुण और अलंकारों के अतिरिक्त काव्य का अन्य कोई शोभा हेतु होता, अतः उनसे भिन्न 'ध्वनि' नामक तत्व की कल्पना व्यर्थ है। दूसरे विकल्प के अनुसार जब ध्वनि नामक कोई पदार्थ ही नहीं है तो काव्य का कोई ऐसा प्रकार उसकी सीमा में सन्निविष्ट ही नहीं किया जा सकता जो उसके स्थान (गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति) से भिन्न हो। अभाववादियों का तीसरा सम्भावित विकल्प यह है कि जब ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सम्भव ही नहीं है तो उसका अन्तर्भाव काव्य के अन्य चारूत्व हेतुओं से मान लेना चाहिए।

तत्व दृष्टि से स्पष्ट है कि कोई भी काव्य रचना व्यंग्यव्यंजकभाव की प्रधानता के कारण ही उत्कृष्ट और रमणीय होती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें वाच्य वाचकभाव का योगदान नहीं रहता।

काव्य क्रिया की दृष्टि से वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। जिस पर कवि तथा सहृदय इन दोनों के दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है। काव्य का प्रतिपाद्य व्यंग्यार्थ ही है जिसके प्रतिपादन के माध्यम मात्र के रूप में वाच्यार्थ की सत्ता स्वीकार की गई है।

यद्यपि व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ बोध के अनन्तर ही होती है तथापि उसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता किसी भी रूप में लुप्त नहीं होती। वास्तविकता यह है कि काव्य का अभीष्ट व्यंग्यार्थ ही है और उस तक पहुचना ही काव्यार्थ प्रतीति का लक्ष्य होता है अतः उसकी उपलब्धि के मार्ग में शब्दबोध, अर्थज्ञान तथा वाक्य-विन्यास आदि उपकरणों द्वारा हमें जिस वाच्यार्थ की प्रतीति होती वह व्यंग्यार्थ बोध के मार्ग में एक प्रकार का प्रवेश द्वार अथवा विश्रांतिस्थल मात्र है।

काव्य में शब्द, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ, गुण, अलंकार, रीति और वृत्ति आदि अनेक तत्व समाहित रहते हैं। जिनका समूह 'मुख्य रूप से काव्य' कहलाता है। यह मुख्य काव्य ही ध्वनि है जिसके व्यंजक तत्वों को लेकर व्यंग्यार्थ प्रवृत्त होता है। जो वाच्यार्थ की दृष्टि से कही तो अलक्ष्यक्रम से प्रकाशित होता और कहीं लक्षित क्रम से उसे पहिचाना जाता है। रस और

भाव का सम्बन्ध मूलतः असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि से है जो लक्षितक्रम से व्यक्त होते है तथा प्रधान रूप से स्थित रहते हैं।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के ध्वनि सम्प्रदाय का समर्थन करने पर काव्य का तत्वतः स्वरूप स्पष्ट तो होता है लेकिन दूसरी तरफ ध्वनि को काव्य की आत्मा न मानने वाले आचार्यो का स्पष्टतः पुरूजोर रूप से सुसबध्य हो जाता है जिसका सिद्धान्त खण्डन भी नहीं किया जा सकता अतः इसी क्रम में क्षेमेन्द्र के मत को यहाँ उदधृत करते हैं।

साहित्य शास्त्र के इतिहास में जिस प्रकार वामन अपने *''रीति–सिद्धान्त''* के लिए आनन्दवर्धन अपने ''ध्वनि–सिद्धान्त'' के लिये और कुन्तक अपने *''वक्रोक्ति–सिद्धान्त''* के लिये प्रसिद्ध है उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने *''औचित्य सिद्धान्त''* के लिये प्रसिद्ध है। उन्होंने ''औचित्य'' को ही काव्य का जीवित रूप माना है। अपने ''औचित्य विचारचर्चा'' ग्रन्थ में लिखते हैं–

''काव्यस्यालमलड्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्यजीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।
अलड्.कारास्त्वलड्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।[1]

इसी क्रम में आचार्य मम्मट का सिद्धान्त भी काव्य के सर्वमान्य सिद्धान्तों में से एक अपने ढंग का अलग सिद्धान्त है ''आचार्य मम्मट ने अपनी पूर्ववर्ती काव्यपरम्पराओं और मान्यताओं का सम्यक विचार करने के पश्चात् काव्यलक्षण निर्धारित किया है।''[2]

''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि''

काव्य की शब्दार्थमयता, भामह, वामन, रूद्रट, वांग्भट्ट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ तथा विद्याधर आदि आचार्यो को भी स्वीकार रही है जिसके प्रति

---

1. *औचित्य विचारचर्चा – क्षेमेन्द्र– 4/51*
2. *काव्यप्रकाश– मम्मट – प्रथम उल्लास, सूत्र 1*

पूर्ण आस्था मम्मट् ने भी उसे अपने काव्य लक्षण में स्थान दिया है। काव्य लक्षण के लिए 'शब्दार्थों' का प्रयोग करना मम्मट् की मौलिक उदभावना नहीं कही जा सकती क्योंकि उनके पूर्ववर्ती तथा अनेक आचार्यो ने काव्य लक्षण के अन्तर्गत उसका समावेश किया था। कतिपय प्रमाण और उदाहरण निम्नलिखित हैं-

(1) *शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तत् द्विधा।*[1]

(2) *काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।*[2]

(3) *शब्दार्थौ काव्यम्।*[3]

(4) *अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।*[4]

(5) *गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।*[5]

(6) *शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारो च काव्यम्।*[6]

(7) *शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विवुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः*[7]

मम्मट के मतानुसार शब्द और अर्थ के समाष्टिभाव का नाम काव्य है। उसकी सिद्धि में दोषों का अभाव और गुणों का संयोजन आवश्यक है। काव्य के लिये अलंकार प्रयोग का विषय वैकल्पिक मात्र है क्योंकि जहाँ व्यंग्य और रसादि की स्थिति विद्यमान रहती है वहाँ स्पष्ट रूप से अलंकारों की सत्ता न होने पर भी काव्यात्व की हानि होती। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने मम्मट के काव्य लक्षण का खण्डन किया है। उन्होंने प्रथम प्रहार काव्यलक्षण प्रयुक्त 'अदोषौ' पर करते हुए लिखा है कि यदि काव्य को सर्वथा निर्दोष लक्षण से अभिप्रेत किया जाय तो इस प्रकार का काव्य-सर्जन होना असम्भव सा होगा- *"एवं काव्यं प्रविरलविषयं*

---

1. *भामह - 1/16*
2. *वामन - 1/1*
3. *रूद्रट - 2/1*
4. *हेमचन्द्र - पृ0 16*
5. *विधानाथ - पृ0 42*
6. *वाग्भट - पृ0 14*
7. *विधाधर - पृ0 1/13*

निवर्षियं वा स्यात्'' लिखकर विश्वनाथ ने ध्वनिकार द्वारा उद्धृत 'न्यक्कारो ह्यमेव में यदस्यः' छंद में भी विधेयाविमर्श ढूँढ निकाला है जो उत्तम काव्य को खण्डित करने का प्रमाण माना जाना चाहिए जबकि वास्तविकता तो यह है कि उपर्युक्त उदाहरण सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट काव्य है। यदि यह कहा जाय कि जिस अंश में दोष हो उसे अकाव्य मानकर शेष को उत्तम काव्य समझ लिया जाय तो भी उचित नहीं है क्योंकि एक छन्द में काव्य और अकाव्य की खिचड़ी पकाना व्यर्थ की दुविधा उत्पन्न करना है। अभिप्राय यह है कि विश्वनाथ के मतानुसार मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण प्रयुक्त अदोष विशेषण सर्वथा विसंगत और व्यर्थ मात्र है। विश्वनाथ ने 'अदोष' पद पर जो आपत्ति की है वह अपने पक्ष समर्थन का एक दुर्बल पक्ष है। वस्तुतः इस पद का प्रयोग करते समय मम्मट का मूल मंतव्य केवल इतना ही रहा है कि जहाँ तक बने काव्य में 'च्युतसंस्कृति' आदि नित्यदोषों का परिहार किया जाय क्योंकि उनके कारण काव्य में अनौचित्य तथा अपकर्ष आता है। अनित्य दोषों की स्थिति इससे भिन्न है। दुःश्रव्यत्व आदि दोषकरण तथा श्रृंगार जैसे कोमल रसो में बाधक हो सकते हैं। किन्तु वीर, भयानक तथा वीर आदि रसो में वे सुग्राह्य भी होते हैं। 'अदोष' पद का प्रयोजन–हेतु केवल इतना ही है कि काव्य को केवल नित्य दोषों से सदैव बचाया जाय क्योंकि अनित्य दोष सभी स्थितियों में काव्य विघटक नहीं होते। स्वयं विश्वनाथ इस बात को स्वीकार करते हैं कि साधारण दोषों की विद्यमानता में भी काव्य अपकाव्य नहीं होता। मम्मट् का अभिप्राय भी यही रहा है। अतः अदोष पद की व्याख्या करते समय उसे इतना अधिक तूल देना उचित नहीं है। *''ईषत दोष कीटानुबिद्ध रत्न तुल्य है जिसका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार कीड़ो से खाया हुआ रत्न रत्न ही कहलाता है उसी प्रकार दुर्बल दोष की स्थिति में भी काव्य काव्य ही कहलायेगा।''*[1]

1. *कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।*
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमःस्फुटः।।'' विश्वनाथ–साहित्यदर्पण 1/8

विश्वनाथ ने मम्मट प्रतिपादित 'सगुणौ' पद को भी काव्यलक्षण के अन्तर्गत उचित नहीं माना है। उनके मतानुसार 'गुण' शब्द और अर्थ के धर्म न होकर रस के धर्म होते हैं अतः उन्हें शब्दार्थो के साथ जोड़ना कदापि समीचीन नहीं कहा जा सकता। विश्वनाथ का यह तर्क मम्मट् के काव्यलक्षण पर एक निर्मम प्रहार है। सच तो यह है कि मम्मट भी गुणों को रस धर्म मानते थे किन्तु वे गौण रूप से उनका सम्बन्ध शब्द और अर्थ के साथ जोडना भी आवश्यक समझते थे। उन्होंने काव्य प्रकाश के अष्टम उल्लास में–*"गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता"* लिखकर अपने मत की पुष्टि की है जिसके अनुसार शब्दार्थमय काव्य के लिये 'रसगुणौ' विशेषण सर्वथा त्याज्य नहीं है।

रसगंगाधर कार पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट प्रतिपादित काव्य लक्षण का खण्डन किया है किन्तु उनका दृष्टिकोण विश्वनाथ से भिन्न है। काव्य को एकमात्र 'शब्द' मानने वाले पण्डित राज ने मम्मट के 'शब्दार्थौ' पद पर आपत्ति की है। यद्यपि वे शब्द और अर्थ की समष्टि में काव्यलक्षण की असंगति सिद्ध करते है किन्तु उनके काव्य के विशेषणीभूत 'अदोषौ' और 'सगुणौ' पर आपत्ति नहीं है। इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण पण्डित राज के काव्यलक्षण के प्रसंग में किया गया है। यहाँ तो इतना उल्लेख ही पर्याप्त है कि विश्वनाथ की भाँति पण्डितराज भी मम्मट के काव्य लक्षण के प्रति दुर्भावना लेकर चले हैं अन्यथा केवल व्यासज्यवृत्ति धर्म को केवल शब्द और शब्दार्थौ के प्रति इतने अधिक ऊहापोह की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। पण्डितराज कृत काव्यलक्षण भले ही शब्दमात्र हो किन्तु उसके पूर्व 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' पद का प्रयोग उसकी अर्थसंपृक्ति का ही सूचक है। यदि शब्द और अर्थ की पृथक धर्मता में काव्य माना जाय तो एक ही श्लोक वाक्य में शब्द और अर्थ की दृष्टि से द्विविध काव्य व्यवहार मानने पड़ेगे जो युक्ति संगत नहीं है। ऐसी स्थिति में म्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण की शब्दार्थमयता अमान्य नहीं कही जा सकती। नागेश भट्ट ने भी

शब्द और अर्थ की रसास्वादव्यंजकता स्वीकार करते हुए पण्डितराज की युक्तियों का खण्डन तथा मम्मट की मान्यताओं का मण्डन किया है। मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्य भामह और दण्डी भी काव्यलक्षण में काव्य की शब्दार्थमयता स्वीकार करते चले हैं तथा उनके परवर्ती आचार्य भी विभिन्नमतों की प्रतिष्ठा करते हुये काव्य की शब्दार्थमयी स्थिति में विश्वास रखकर चले हैं।
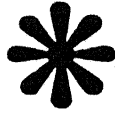
काव्य के भेद

ममम्ट के मतानुसार काव्य के तीन भेद ध्वनिकाव्य, गुणीभूत व्यंग्यकाव्य तथा चित्रकाव्य है। "इनमे ध्वनि काव्य ही उत्तम काव्य है क्योकि उसमे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है।[1]

वैयाकरणो ने प्रधानभूत स्फोटरूप व्यंग्य की अभिव्यक्ति कराने मे समर्थ, शब्द के लिये 'ध्वनि' पद का प्रयोग किया था। जिसके अनुयायी ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियो ने भी वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने मे समर्थ शब्द तथा अर्थ के लिये 'ध्वनि' पद का प्रयोग करना उचित समझा। इस विषय में आचार्य आनन्दवर्धन का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जिसका विशद विश्लेषण उसके द्वारा प्रतिपादित ध्वनिमत तथा ध्वनिकाव्य के प्रसंग मे किया गया है। मम्मट् ने काव्य प्रकाश के चतुर्थ उल्लास मे ध्वनि तत्व अथवा व्यंजना व्यापार का विस्तृत विवेचन किया है जिसके अनुसार स्पष्ट है कि वे ध्वनिकाव्य को ही सर्वोत्कृष्ट उत्तम काव्य मानते थे।

"मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य के द्वितीय भेद का नाम गुणीभूत व्यंग्य है जो मध्यम श्रेणी का काव्य माना गया है। उसमें उसका व्यंग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारी नही होता।"[2]

"मम्मट ने चित्रकाव्य को अधम काव्य कहाँ है। ऐसा काव्य व्यंग्यार्थ रहित होता है। उसमें गुण और अलंकार तो रहते है किन्तु वे प्रतीयमान अर्थ के व्यंजक नहीं होते। मम्मट ने शब्द चित्र और अर्थचित्र नाम से उसके दो भेद माने है जिनके शब्दों से केवल अलंकार जन्य चमत्कार रहता है।"[3]

---

1. मम्मट – काव्यप्रकाश – प्रथम उल्लास, का0 – 4 सूत्र 2/
2. मम्मट – काव्यप्रकाश – वही – 5/3/
3. मम्मट – काव्यप्रकाश – वही – 5/4/

"काव्य प्रकाश का द्वितीय उल्लास 'शब्दार्थ स्वरूप निर्णय' की दिशा में किया गया एक स्तुत्य प्रयास है जिसमें मम्मट ने वाचक, लक्षण और व्यंजक शब्दों के माध्यम से तीन प्रकार की अर्थ प्रतीतियों के लिये अभिधा, लक्षणा और व्यंजना संज्ञक त्रिविध शब्द शक्तियों की विवेचना की है। उन्होंने काव्य में वाचक लाक्षणिक तथा व्यंजक शब्दों से निष्पन्न होने वाले वाच्य, लक्ष्य, तथा व्यंग्य अर्थो के अतिरिक्त तात्पर्य अर्थ का भी उल्लेख किया है जिसकी प्रतिष्ठा कुमारिल भट्ट के अनुयायी पार्थ सारथि मिश्र आदि अभिहितान्वयवादी मीमांसकों ने की थी।"[1]

प्रभाकर गुरू आदि अन्विताभिधानवादी आचार्य 'वाच्य एवं वाच्यार्थः' के सिद्धांत में विश्वास रखते है। उनके मतानुसार – "पदों द्वारा अन्वित पदार्थो की ही उपस्थिति होती है अतः पदार्थो का परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ वाच्य ही होता है। उसकी प्रतीति तात्पर्य शक्ति के पश्चात् प्रतीति नही होती। मम्मट का कथन है कि उपर्युक्त जिन अर्थो का उल्लेख किया गया है उनमें से प्रायः सभी अर्थो का व्यंजकत्व काव्यशास्त्र में प्रतिपादित हुआ है।"[2]

"जो शब्द अभिधा शक्ति द्वारा साक्षात् संकेतिक अर्थ का बोध कराता है उसे वाचक शब्द कहते है।"[3]

मम्मट ने प्रयोजन वैशिष्ट्य मे लक्षणामूला व्यंजना का निराकरण करते हुये न्यायदर्शन के "अनुव्यवसाय सिद्धान्त" तथा मीमांसको के 'ज्ञाततासिद्धान्त' का भी उल्लेख किया है।उन्होने पूर्व पक्ष के रूप मे उपर्युक्त दोनो सिद्धांतो का

---

1. वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः तात्पर्यार्थोऽपिकेषुचित् – काव्यप्रकाश – 2/6/6–7
2. सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यंजक त्वमपीष्यते – मम्मट –काव्यप्रकाश – 2/7/8
3. साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः – वही – 2/7/9

अन्तर स्पष्ट करने के पश्चात् अपना निर्णय और निष्कर्ष यही निकाला है कि प्रयोजन सहित शैत्य पावनप्वादि विशिष्ट तीर को लक्षणीय मानना दृष्टि से सुसंगत नही है। नैयायिको के अनुव्यवसाय तथा मीमांसाको के ज्ञातता सिद्धान्त मे 'ज्ञानस्यविषयो ह्ययन्यः फलमन्यदुदाहृतम्' द्वारा ज्ञान के विषय तथा ज्ञान के फल की भिन्नता जिस रूप मे मानी गई है, उससे आचार्य मम्मट सहमत नही है।

लक्षणामूला व्यंजना का प्रतिपादन करने के पश्चात आचार्य मम्मट ने अभिधामूला व्यंग्य का स्वरूप विवेचित किया है। उन्होने मीमांसाको के व्यंजना विरोधी मत का खण्डन करते हुए जिस व्यंजना वृत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह शाब्दी व्यंजना तथा आर्थी व्यंजना के नाम से भी व्याख्यायित की जाती है। शाब्दी व्यंजना के दो भेद अभिधाव्यंजना और लक्षणा व्यंजना है।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का लक्षण निर्धारित करते हुये मम्मट ने लिखा है–"कि जहाँ संयोग आदि अनेकार्थवादी शब्दों की वाचकता के नियंत्रित हो जाने पर उससे भिन्न अवाच्य की प्रतीति कराने वाला शब्द व्यापार उपस्थित होता है वहॉ अभिधामूला व्यंजना होती है।"[1]

अनेकार्थक शब्दो को एकार्थ मे नियंत्रित करने के चतुर्दश कारण है संयोग, विप्रयोग, साह्चर्य, विराधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर है। जिन्हे "भर्तहरिप्रणीतं वाक्य पदीय" ग्रन्थ से उद्धृत करते हुये मम्मट ने उन्हे स्वीकार करते हुये शाब्दी व्यंजना मे अर्थ की सहकारिता का प्रतिपादन करते हुये लिखा है–

"तद्युतो व्यंजकः शब्दः यत्सोऽर्थान्तरयुक तथा।
अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मतः।।"[2]

1. मम्मट– काव्यप्रकाश – 2/19/32
2. मम्मट– काव्यप्रकाश – 2/20/33-34

मम्मट ने काव्य प्रकाश के तृतीय उल्लास मे आर्थी व्यंजना के भेद–प्रभेद और उदाहरण निरूपित किये है अतः उस उल्लास का दूसरा नाम अर्थ व्यंजकता निर्णय भी है। ग्रंथकार ने आर्थी व्यंजना के दस प्रकार निरूपित किये है जिनके नाम वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा शब्दग्राह्य चेष्टाओ का वैशिष्ट्य है। बोद्धव्य का अर्थ 'प्रतिपाद्य' तथा काकु का अर्थ 'ध्वनिविकार' है। प्रस्ताव को 'प्रकरण' भी कहॉ जाता है। अतः ये सभी साधन आर्थी व्यंजन के भी है। शाब्दी व्यंजना मे शब्द ही मुख्यरूप से व्यंजक होता है। जिसके साथ अर्थ की सहकारिता रहती है जबकि आर्थी व्यंजना मे अर्थ के मुख्य रूप के व्यंजक होने पर उसमे शब्द की सहकारिता वांछनीय है।

ध्वनि भेद और काव्य रूप

काव्य भेदों में प्रथम स्थान ध्वनि काव्य का है जिसका बोध करने के पूर्व ध्वनि के प्रमुख भेदों की जानकारी आवश्यक है। ध्वनि के प्रमुख दो भेद है अविवक्षित वाच्य ध्वनि तथा विवक्षित वाच्य ध्वनि प्रथम भेद का दूसरा नाम लक्षणामूला ध्वनि तथा दूसरे भेद का पर्याय अभिधामूला ध्वनि है। मम्मट ने उपर्युक्त दोनो भेद स्वीकार किये है। विवक्षितवाच्य ध्वनि अथवा अभिधामूल ध्वनि के दो भेद है जिनके नाम असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रम व्यंग्य हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर पन्द्रह उपभेद संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के होते है। उनमे असंलक्ष्यक्रम का एक भेद जोड़ने पर अभिधामूल ध्वनि के सोलह भेद हो जाते है। लक्षणमूल ध्वनि के दो भेद और जोड देने पर कुल मिलाकर ध्वनि अठारह भेद हो जाते है। जिनके अनुसार ध्वनिकाव्य भी अठारह प्रकार का माना गया है।

मम्मट ने काव्य प्रकाश के चतुर्थ उल्लास मे ध्वनि काव्य के भेद प्रभेदों

का विस्तार पूर्वक विवेचन करने के पश्चात पंचम उल्लास मे गुणीभूत व्यंग्य संज्ञक मध्यम काव्य का निरूपण किया है मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य मे यही बात

'अतादृशि गुणीभूत व्यंग्ये व्यंगय तु मध्यमम्'[1]

के कारिकांश द्वारा व्यक्त की है। गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद है

1. अगूढ व्यंग्य
2. अपरांग भूत व्यंग्य
3. वाक्यसिद्धयंग व्यंग्य
4. अस्फुट व्यंग्य
5. संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य
6. तुध्य प्राधान्य व्यंग्य
7. काक्वाक्षिप्त व्यंग्य
8. असुंदर व्यंग्य

जिस काव्य का व्यंग्य अगूढ़ होने के साथ–साथ वाच्यार्थ तुल्य होता है वह गुणीभूत व्यंग्य है मम्मट ने अगूढ़ व्यंग्य के तीन अपरांगरूप गुणीभूत व्यंग्य के आठ उदाहरण देकर उनकी लक्षण संगति सिद्ध की है।

अपरांगरूप गुणीभूत व्यंग्य काव्य वह है जहॉ वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत प्रधान अर्थ किसी अंगीरस से वाच्य हो तथा दूसरा रस व्यंग्य वस्तु अथवा अलंकार आदि के रूप मे उसका अंग हो उदाहरणार्थ जहॉ श्रंगार रस देव विषयक रतिभाव का अंग बनकर वर्णित हो वहॉ अपरांगभूत गुणीभूत व्यंग्य होता है।

---

1. मम्मट– काव्यप्रकाश – 1/5/3 व्याख्या भाग

काव्य दोष

मम्मट ने काव्य लक्षण की शब्दार्थमयी स्थिति के प्रथम विशेषण के रूप मे 'अदोषौ' पद का प्रयोग किया है जिसका अभिप्राय यह है काव्य के लिये निर्दुष्टता वांछनीय है। उनके मतानुसार काव्य दोष का सामान्य लक्षण इस प्रकार है–

'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।।[1]

'मम्मट ने श्रुतिकटु, च्युत संस्कार, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, अवाचक, त्रिविध, अश्लीलत्व, संदिग्ध, अप्रतीति, ग्राम्य तथा नेयार्थ संज्ञक, त्रयोदश दोष पदगत तथा समासगत माने है। उनके मतानुसारक्लिष्ट, अभिसस्त, विद्येयांश तथा विरूद्ध मतिकृत् दोष केवल समास मे ही होते है''।[2]

मम्मट ने पद, पदांश और वाक्य मे रहने वाले दोषो के साथ–साथ अर्थ दोषो का भी निरूपण किया है। उनका यह विश्लेषण रस दोषो तथा अलंकार दोषो तक व्याप्त होकर उनकी नित्यानित्य स्थिति तथा उनके अपवाद तथा परिहार की विवेचना का भी विषय बना है।

शब्द दोष विश्लेषण :-

कठोर वर्ण रूप रसापकर्षक पद श्रुतिकटु कहलाते है। उनकी परूषता कानो को पीड़ा पहुचाने वाली होती है। 'कृतार्थता' के स्थान पर 'कार्तार्थ्य' पद का प्रयोग श्रुतिकटु है क्योकि वह सुनने मे कर्कश और कर्ण बेधक है। व्याकरण लक्षणहीन पद च्युतसंस्कृति पददोष है जो व्याकरणविरूद्ध पदो के प्रयोग मे पाया जाता है। उदाहरणार्थ याचना के अर्थ मे 'अनुनायते' पद का

---

1. मम्मट– काव्यप्रकाश – 7/49/71
2. मम्मट– काव्यप्रकाश – 7/50/51/72

प्रयोग अनुचित है क्योकि 'नाथ' धातु परस्मैपदी है जिससे बना हुआ 'अनुनाथति' क्रियापद व्याकरण सम्मत होता है। आशिषिनाथः (2/3/75 सूत्र) से आशीः अर्थ मे नाथ् धातु से आत्मने पद का विधान है जिसे याचना अर्थ मे प्रयुक्त करना व्याकरणविरूद्ध है।

जिन शब्दो के अर्थ कोश आदि मे जो वर्णित है किन्तु कवियो द्वारा वे अप्रयुक्त रहे है, उनके काव्यगत प्रयोग अप्रयुक्त दोष कहलाते है। उदाहणार्थ 'दैवत' शब्द 'दैवतानिपंसिवा' सूत्र के अनुसार विकल्प से पुंल्लिग होता है तथा वह 'अमरकोश' मे आम्नात भी है, किन्तु महाकवियो की रचनाओ मे उसे पुंल्लिग मे प्रयुक्त की परम्परा न होने के कारण उसका पुल्लिगवत् प्रयोग अप्रयुक्तदोष माना जाता है।

जो शब्द दो अर्थो का वाचक होने पर भी अपेक्षाकृत अप्रसिद्ध अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है, वहाँ निहतार्थ दोष होता है। जैसे 'शोणित' शब्द अपने सुप्रसिद्ध अर्थ मे रूधिर का वाचक है किन्तु जहाँ उसका प्रयोग उज्ज्वलता के अर्थ मे किया जाता है वहाँ उस शब्द की उज्ज्वलता अर्थ मे अधिक प्रसिद्ध न होने के कारण उसका तदर्थगत प्रयोग निहतार्थ दोष कहलाता है।

संदिग्ध दोष अ पदो मे होता है जिनका अर्थ निश्चय करने मे संदेह उत्पन्न हो जाता है। जैसे 'वन्द्यां' पद एक ओर तो स्त्रीलिंग 'वंदी' शब्द की सप्तमीका एकवचन सिद्ध होता है तो दूसरी उसे स्त्रीलिंग 'वन्द्या' शब्द की द्वितीया का एकवचन भी कहा जा सकता है। प्रश्न यह है कि काव्य रचनाओ मे प्रयुक्त इस शब्द की प्रकरण विशिष्टता मे तुल्यार्थ स्थिति होने पर इसे किस अर्थ का वाचक माना जाए, यह स्थिति संदेह उत्पन्न करती है जिसके कारण वहाँ संदिग्ध दोष होता है।

किसी शास्त्र विशेष मे प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द का प्रयोग जब साधारण

अर्थ मे किया जाता है तो वहाॅ अप्रतीति दोष होता है।

लोक प्रयुक्त ग्रामीण शब्दो के प्रयोग मे ग्राम्यत्व दोष होता है।

'नेयः रूढिप्रयोजनाभावे कविना कल्पितोऽर्थ यत्र' के अनुसार नेयार्थ दोष वहाॅ होता है जहाॅ रूढ़ि तथा प्रयोजनरूप लक्षणा के हेतुओ के न होने पर भी कवि अपनी इच्छा से लक्षणा द्वारा शब्द का प्रयोग करता है।

"कुमारिल भट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक' मे यही बात प्रकारान्तर मे कही है।"[1]

उनके अनुसार 'निषिद्ध लक्षणायुक्त पद ही नेयार्थ है।' निम्नलिखित श्लोक मे नेयार्थ दोष है जिसमे यह कहाॅ गया है कि किसी कृशांगी का मुख शरद् कालीन चन्द्रमा को चपत लगा रहा है। वस्तुतः चपत लगाने का अर्थ तिरस्कृत करना है और यही अर्थ कवि को अभीष्ट है किन्तु यहाॅ लक्षणा के प्रयोजक हेतुओ के अभाव मे की गई लक्षणा दूषित है अतः यहाॅ नेयार्थ पददोष है श्लोक इस प्रकार है–

"शत्कालसमुल्लासि पूर्णिमाशर्वरी प्रियम्।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातिथिम्।।"[2]

अब तक जिन दोषों का निरूपण किया, वे केवल असमस्तगत तथा समस्तगत पदो मे होते है। इसके अतिरिक्त क्लिष्ट, अविभ्रष्ट विद्येयांश तथा विरूद्धमतिकृत् संज्ञक तीन ऐसे पद्दोष भी होते है जो केवल समासगत, वाक्यगत तथा पदसमुदायगत माने जाते है।

---

1. "निरूढ़ा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
   क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।।"
2. मम्मट– काव्यप्रकाश – 7/50–51/72/158

वाक्यगत दोष :-

मम्मट ने श्रुतिकटु आदि दोषों की वाक्यगत स्थिति का भी विश्लेषण किया है। च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक दोष केवल पदगत होते है जब कि इतर दोष वाक्यगत होने के अतिरिक्त पदांशगत भी हो सकते है निम्नलिखित उदाहरण श्रुतिकटु पदो से भरा पड़ा है जिनकी श्रुतिकटुता उसके उच्चारण मात्र से व्यक्त होती है–

"सोऽध्यैष्ट वेदांत्रिदशानयष्ट पितृनताप्सींत् सममंस्त बंधून्।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च।।"[1]

वाक्यगत अप्रत्युक्त दोष के उदाहरण 'दुश्च्यवन' तथा 'अनेऽमूक' पद है जो कृमशः 'इन्द्र' तथा 'मूकवधिर' अर्थ मे अप्रयुक्त माने जाते है। इन्हे उपर्युक्त अर्थो मे प्रयुक्त करना 'अप्रयुक्त' दोष का उदाहरण है। वाक्यगत निहतार्थ दोष ऐसे पद प्रयोगो मे होता है जो प्रसिद्ध अर्थो को छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थो मे प्रयुक्त किये जाते है। सायक, मकरध्वज, क्षमा, अब्ज, और श्लोक आदि कृमशः वाण, कामदेव, सह्यशक्ति, कमल और पद्य आदि अर्थो मे सुप्रसिद्ध है। जिनका यदि वाक्यगत प्रयोग कृमशः तलवार, समुद्र, पृथिवी, चन्द्रमा तथा यश, के पर्याय रूप मे किया जाय तो वहाँ वाक्यगत निहतार्थ दोष होता है।

पदांशगत काव्य दोष :-

मम्मट ने उपर्युक्त पदगत तथा वाक्यगत दोषों का विवेचन करने के पश्चात् श्रुतिकटुत्व आदि पद्यांश दोषो का भी निराकरण किया है। प्रकरण विस्तार के भय से (उनकी उपयोगिता न होने के कारण) इस प्रसंग मे इतना उल्लेख करना ही पर्याप्त है कि वे दोष पद के किसी अंशविशेष मे रहते है।

---

1. मम्मट– काव्यप्रकाश – 7/52/73/170

मम्मट ने पदांशगत श्रुतिकटुत्व, निहतार्थत्व, निरर्थकत्व, अवाचकत्व, अश्लीलत्व, संदिग्धत्व, आदि दोषो का विवेचन करने के पश्चात् उन वाक्यगत दोषो का भी विश्लेषण किया है जो प्रतिकूलवर्णता, उपहृत विसर्गता, विसंधि, हतवृत्तता, न्यूनपदता, अधिकपदता, कथितपदता, पतत्प्रकर्षता तथा समाप्तपुनरात्तता आदि स्थितियो मे होते है। मम्मट का यह दोष विश्लेषण उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति तथा काव्यादबोधन की अंतः प्रज्ञा का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

अर्थगत काव्यदोष :-

काव्यप्रकाश का सप्तम उल्लास दोष विवेचन की दिशा मे एक उद्भुत उपक्रम है। मम्मट ने काव्यलक्षण के विशेष्य पद के रूप मे शब्दार्थो का प्रयोग करते हुए उसे जिस रूप में 'प्रदोषौ' विशेषण से संयुक्त किया है, उसकी बारीकियो का लेखा–जोखा करने मे वे पूर्ण सफल हुये है। उन्होने शब्द और अर्थ से सम्बन्धित वर्ण, उपसर्ग, प्रव्यय, निपात और पदांश आदि रूपो से लेकर पद और वाक्यगत शब्दार्थो के प्रयोग मे उपस्थित मुख्यार्थ ह्नतिरूप दोषो का प्रामाणिक विश्लेषण करते हुये काव्यशास्त्रीय चिंतन को गतिशील बनाया है। "उनका अर्थदोष विवेचन भी अत्यन्त विशद और युक्ति संगत है उन्होने अर्थदोषो के अंतर्गत, अपुष्ट, कष्ट, व्याह्त, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, संदिग्ध, निर्हेतु, प्रसिद्धविरूद्ध विद्याविरूद्ध, पुनवीकृत, नियम मे नियम, अनियम मे नियम, विशेष मे अविशेष अविशेष मे विशेष परिवृत्त, साकांक्षता, अपदयुक्तता, सहचर भिन्नता, प्रकाशित विरूद्धता, विध्ययुक्तत्व, अनुवादायुक्तत्व, व्यक्तपुनः स्वीकृत तथा अर्थ टुष्ट अश्लीलत्व आदि तेईस अर्थ दोषो का निरूपण किया है।"[1] हमे यहाँ सभी दोषो का पृथक–पृथक विवेचन करना अभीष्ट नही है अतः कतिपय उदाहरणो द्वारा ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जायेगा कि

---

1. मम्मट– काव्यप्रकाश – 7/55–57/75

दुष्ट पदो और अर्थो के प्रयोग से काव्यार्थ प्रतीति तथा रसचर्वणा मे किस प्रकार बाधा आती है।

"मम्मट ने विद्याविरूद्धता दोष की विवेचना धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र, के परिपेक्ष्य मे की है। उनका कथन है कि ग्रहण आदि विशेष कारणो के न होने पर रात्रि स्नान हमारे धर्मशास्त्र के विरूद्ध है।"[1]

जिसका काव्यरचनाओ में किया गया वर्णन अर्थ दोष का व्यंजक माना जाता है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त को राजनीति मे घटित करना अथवा कामशास्त्र प्रतिपादित क्रीड़ा व्यापार की अन्यथा सिद्ध करना भी अर्थदोष का सूचक होता है।

अकाण्ड प्रथन अथवा अनवसर मे प्रतिपादन होना भी रसदोष का हेतु है इसका उदाहरण वेणीसंहार नाटक के द्वितीय अंक का वह प्रसंग है जिसमे कवि ने भीष्म आदि महारथियो की मृत्यु बेला का समय भानुमती के साथ दुर्योध--न के सम्भोग श्रृंगार का वर्णन किया है। अनुचित स्थान पर रसभंग कर देने से अकाण्डच्छेदक रसदोष होता है। महावीर चरित नाटक के द्वितीय अंक मे जहॉ राम और परशुराम का संवाद रस के चरम उत्कर्ष पर पहुचता है वहॉ राम का यह कथन है कि 'मै कंकण खोलने जा रहा हूँ" वीर रस मे बाधा पहॅुचाने के कारण सहृदयो मे रसचर्वणा नही करा पाता। अंग अर्थात अप्रधान पात्र अथवा रस का अतिविस्तार भी रसदोष का कारण है। भर्तृमेष्ठ कवि विरचित 'हृयग्रीववध' नामक नाटक मे जहॉ प्रतिनायक दैत्य हृयग्रीव के वन बिहार, मदनोत्सव, तथा जलकेलियो का विस्तृत वर्णन हुआ है, वे रसदोष के

---

1. "रात्रौ स्नानं न कुर्वीत राहोरन्यत दर्शनात।" काव्य प्रकाश-7/56-176

ही प्रसंग है क्योकि उनके कारण नाटक के नायक (विष्णु) का वर्चस्व खण्डित हो जाता है। अंगी अर्थात प्रधान नायक–नायिका का विस्मरण भी रसदोष है। इसका उदाहरण रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंग का वह प्रसंग है जहाँ बाभ्रव्य के आगमन पर सागरिका की विस्मृति हो जाती है।

मम्मट का परामर्श है कि रति, ह्रास, शोक तथा विस्मय, नामक, स्थायी भावो से निष्पादित श्रृंगार, हास्य, करूण, तथा अद्भुत, रसो का वर्णन आदित्य उत्तम नायको की भाति दिव्य उत्तम नायको मे भी किया जाना चाहिये। इस विषय मे इस बात का ध्यान करना वांछनीय है कि उत्तम दिव्य नायकों की प्रकृति को देखते हुए उनके (परस्पर अवलोकन को छोड़कर) संभोग श्रृंगार का अश्लील वर्णन करना माता–पिता का संभोग वर्णन के तुल्य अनुचित और अशोभनीय है। महाकवि कालिदास ने 'कुमारसम्भव' के अन्तर्गत शिवपार्वती का जो संभोग श्रृंगार वर्णन किया है, वह अनौचित्य के कारण रसदोष माना गया है। मम्मट का कथन है कि भृकुटि रहित क्रोध, समुद्रलंघन तथा वर्ग और पातालगमन आदि कार्यो का उत्साहपूर्ण वर्णन केवल दिव्य प्रकृति वाले नायको मे ही किया जाना चाहिये।

इस प्रकार मम्मट ने काव्यप्रकाश के प्रारम्भ मे ***'तददोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'***[1] सूत्र द्वारा जो काव्य लक्षण निरूपित किया था, उसके अनुबंध चतुष्टय का सम्यक निर्वाह करते हुये उन्होने अपना ग्रंथ समाप्त किया है जो भारतीय काव्यशास्त्र का अक्षय कीर्तिमान आलोक स्तम्भ है। ग्रंथ के अन्त मे उन्होने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के काव्य सिद्धान्तो का विवेचन, विश्लेषण तथा मंथन करने के पश्चात् जिस समन्वयात्मक दृष्टिकोण का प्रतिष्ठान कर सके है, वह कोई

---

1. मम्मट– काव्यप्रकाश – 1/19

अनूठी और विचित्र उपलब्धि नही है। इस विषय मे उनका मंतव्य निम्नलिखित रूप मे व्यक्त हुआ है।

"इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासतेयत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता संघटनैव हेतुः।।"
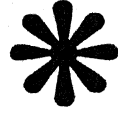
संस्कृत नाटकः - उत्पत्ति व विकास

भारतीय नाट्य प्राचीन परम्परा के अनुसार जैसा कि नाट्यशास्त्र मे बताया गया है, कि नाटक की उत्पत्ति त्रेतायुग मे ब्रह्मा के द्वारा की गई थी। सतयुग मे लोगो को किसी भी प्रकार के मनोरंजन की आवश्यकता नही थी। त्रेतायुग मे देवता लोग ब्रह्मा के पास गये और उनसे प्रार्थना कि वे किसी ऐसे वेद की रचना करे, जो शूद्रो के द्वारा भी अनुशीलित हो सके, क्योकि शूद्रो के लिये निःश्रेयस का कोई साधन न था, वेदाध्ययन उनके लिये निषिद्ध था। इस पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, के आधार पर ही पञ्चम वेद—नाट्यवेद की रचना की। इस पञ्चम वेद मे चार अंग पाये जाते हैः—"पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस। इनचारो तत्वो को ब्रह्मा ने क्रमशः ऋक, साम, यजुष तथा अथर्ववेद से गृहीत किया।।"[1]

इससे ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को एक नाट्यग्रह बनाने का आदेश दिया, तथा भरत मुनि को इस कला को सम्पादित करने तथा उसकी शिक्षा देने को कहा। ब्रह्मा ने भरतमुनि को सौ शिष्य तथा सौ अप्सराएँ भी इसलिये सौपी, कि मुनि उन्हे नाट्यकला की व्यावहारिक शिक्षा दें। इस काम मे शिव और पार्वती ने भी हाथ बॅटाया। शिव ने नाट्य मे ताण्डव नृत्य का, तथा पार्वती ने लास्य नृत्य का समावेश किया।

नाट्यवेद के विकास के विषय मे यह कल्पना कम से कम एक बात की पुष्टि अवश्य करती है, कि भरत के नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व भारतीय नाटक, तथा भारतीय रंगमंच पूर्णतः विकसित हो चुके थे। पर भरत का नाट्यशास्त्र कब लिखा गया इस प्रश्न का उत्तर हमे खोजना पडेगा। यहॉ तो

---

1. "जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। (भरतः नाट्यशास्त्र–1)

यह धातव्य था कि भारतीय परम्परा नाटको को दैवी उत्पत्ति मानती है। वैसे तो नाटको मे कई तत्वो का समावेस है परन्तु संवाद तथा अभिनय दो तत्व विशेष प्रमुख है। संवाद तत्व को हम भारत के प्राचीनतम साहित्य–ऋग्वेद, मे ढूँढ सकते है। इस प्रकार नाटक के बीज वेदो मे आसानी से मिल सकते है। ऋग्वेद मे लगभग 15 सूक्त ऐसे है जिनमे संवाद का तत्व पाया जाता है। इन्द्र–मरूत्–संवाद (1/165,1/170) विश्वामित्र नदीसंवाद (3/33) पुरूरवा–उर्वशी–संवाद (10/95), तथा यम–यमी–संवाद (10/10) इनमे प्रमुख है। वैसे दूसरे संवादो का भी उल्लेख किया जा सकता है, जैसे इन्द्र, इन्द्राणी तथा वृषाकवि का संवाद (10/96), अगस्त्य तथा उनकी पत्नी लोपामुद्रा का संवाद (1/179)। इन संवादो के आधार पर मैक्समूलर मे यह मत प्रकाशित किया था, कि इन सूक्तो का पाठ, यज्ञ के समय इस ढ़ग से किया जाता रहा होगा कि अलग–अलग ऋत्विक अलग पात्र (मरूत या इन्द्र) वाले मन्त्रों (संवादो) का अनुशंसन करते होगे। प्रोफेसर सिलवॉ लेवी ने भी इस मत की पुष्टि की है, तथा ऋग्वेद काल मे अभिनय की स्थिति मानी है। उनका मत है, कि उस काल मे देवताओ के रूप मे, यज्ञादि के समय नाट्याभिनय अवश्य होता होगा।"[1]

लेवी तथा मैक्समूलर ही नही, श्रोएदर तथा हर्वेल भी इसी मत के है, कि ऋग्वेद के सूक्तो मे अभिनय तथा संवाद के तत्व विद्यमान है, जो नाटको के बीज है। हर्वेल का मत है कि वैदिक सूक्त गेय रूप मे प्रचलित रहे है। अतः विभिन्न वक्ताओ के भेद का प्रदर्शन एक ही गायक (या पाठक) के द्वारा नही हो सकता था। श्रोएदर ने ऋग्वेद से कुछ सूक्त उपस्थित किये है, जिनको वे नाटक का आदिम रूप मानते है, तथा गेय एवं अभिनेय दोनो तत्वो को वहॉ

1. कीथः संस्कृत ड्रामा – पृ0 15–16

ढूँढते है। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त (7/102) के बारे मे वे कहते है, कि ब्राह्मण लोग मेढको से भरे तालाब मे खडे होकर इस सूक्त को गाते होगे। ऋग्वेद के नवम मण्डल के (112) वे सोमसूक्त के विषय मे भी उनका यही मत है। परन्तु उपरोक्त मत सारहीन है। डॉ० कीथ ने इन दोनो मतो का खण्डन किया है। वे इन संवादो को नाटकीय संवाद न मानकर कर्मकाण्ड तथा पौरोहित्व कर्म के संवाद मानते है। वस्तुतः कर्मकाण्डीय परिपाटी को नाटकीय मान बैठना ठीक नही है। इसके साथ साथ श्रोएदर आदि ने जो यह कहाँ कि सूक्त गाये जाते थे उचित प्रतीत नही होता क्योकि गेय तत्व के लिये सामवेद के मन्त्र थे। इस परम्परा के अन्तर्गत इतना अवश्य माना जा सकता है, कि ऋग्वेद के इन संवादो मे नाटक के बीज विद्यमान है, परन्तु पूर्णतया नाटक मानना उचित नही है।

श्री सीताराम जी चतुर्वेदी ने अपने 'अभिनवनाट्यशास्त्रम्' मे बताया है। कि नाटक स्वतः एक यज्ञ है अतः इसे ऋग्वेद के उन सूक्तो का आधार मानकर किसी दूसरे यज्ञ का अङ्ग कैसे माना जा सकता है। श्रोएदर आदि नाटक, नृत्य, तथा संवाद सभी को एक मानते है परन्तु वास्तव मे यदि देखा जाय तो कोरा नाच या कोरा संवाद नाट्य कदापि नही हो सकता, क्योकि नाट्य मे सात्विक, आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य, चारो प्रकार के अभिनयो के द्वारा रससृष्टि की जाती है। कुछ भी हो, ऋग्वेद के संवादो मे नाटक के बीज मानने मे कोई अनुचित बात नही है।

नाच को नाटक का पूर्वरूप मानने वालो मे मैकडोनल भी है। उनकी कल्पना है कि संस्कृत के नट तथा नाटक शब्द 'नट्' धातु से निकलते है। यह धातु संस्कृत 'नृत्' (नाचना का ही प्राकृत या देशीरूप है। परन्तु यह मत उचित प्रतीत नही होता क्यो कि संस्कृत मे नट् तथा नृत् दोनो भिन्न धातु है,

साथ ही नाट्य, नृत्य तथा नृत तीनो शब्दो का अर्थ भी अलग, अलग है। दशरूपककार ने वाक्यार्थमय अभिनय के द्वारा रससृष्टि करने को नाट्य माना है। (वाक्यार्थाभिनयं रसाश्रयं) इसी प्रकार केवल शब्दार्थ का अभिनय कर भाव प्रदर्शन मात्र करने को नृत्य तथा ताल लय के साथ हस्त, पाद, संचालन को नृत कहा है। ये बात अलग है कि नृत्य तथा नृत दोनो ही, जिन्हे हम क्रमशः शास्त्रीय मार्ग तथा देशी भी कह सकते है, नाटक के उपस्कारक हो सकते है। इसी बात को दशरूपककार कहते हैः–

"मधुरोद्धतभेदेन तदद्वयं द्विविधं पुनः।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम्।।"

इस प्रकार दशरूपककार की साक्षी पर मैकडोनल का नाच और नाटक को एक मान लेने वाला मत धराशायी हो जाता है।

प्रो0 पिशेल भारतीय नाटको की उत्पत्ति पुत्तलियो के नाच से मानते है। उन्होने विस्तार से बताया कि यूनान के प्रचलित नाटको के पहले पुतली नृत्य का प्रचलन नही था, अतः वहॉ के नाटको को इसका विकसित रूप नही मान सकते। भारत मे इनका प्रचार बहुत पुराना रहा है महाभारत मे पुतलियो का वर्णन है। कथासरित्सागर मे भी पुतलियो का वर्णन मिलता है। प्रोफेसर पिशेल ने भारतीय नाटक के सूत्रधार की 'संज्ञा' को भी जोड़ने का प्रयास किया वे कहते है कि पुतलियो को नचाते समय नचाने वाला उनके डोरो को–सूत्र को पीछे से पकड़े रहता है। इसलिये वह 'सूत्रधार' कहलाने लगा और यही नाम नाटक के प्रयोक्ता को भी दे दिया गया। परन्तु इस मत का खण्ड दूसरे पाश्चात्य विद्वान रिजवे ने ही कर दिया है। वे कहते है कि 'सूत्रधार' नाटक की कथावस्तु, नायक, रस आदि का सूत्र (संक्षेप) मे वर्णन करता है, इसलिये सूत्रधार कहलाता है, डोरे को पकड़ने के कारण नही।

शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाश' मे इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये लिखा है –

"सूत्रयन काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान्।
नान्दीश्लोकेन नान्द्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः।।"

वेदों के बाद महाभारत तथा रामायण में नाटकों का संकेत ढूँढा जा सकता है। कीथ के मतानुसार महाभारत तथा रामायण के नट् शब्दों ही के आधार पर उस काल में नाटकों का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। रामायण में नाटक तथा नट् शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। आरम्भ मे ही अयोध्या के वर्णन में महर्षि बाल्मीकि ने बताया है कि वहाँ नाटक की मण्डलियाँ तथा वेश्याएँ थी और (वधूनाटक संघैश्च संयुक्ताम्) शम के अभिषेक के समय भी रामायण मे नटों, नर्तकों, गायकों आदि का उपस्थित होना तथा अपनी कलाकुशलता से लोगों को प्रसन्न करना लिखा है :–

"नटानर्त्तक संघानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुखा वाचः शुश्राव जनताः ततः।।"

महाभारत में नट्, शैलूष आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, और उसके हरिवंश पर्व के 91 से 97 अध्याय तक तो नाटक खेले जाने का भी संकेत है। वज्रनाभ नामक दैत्य का वध करने के लिये श्रीकृष्ण तथा यादवों ने कपट–नटों का वेष धारण उसकी पुरी में जाकर रामायण का नाटक खेला। रामायण नाटक के अतिरिक्त इन्होने कौबेररम्भाभिसार नाटक भी खेला। नाटक का अभिनय इतना सुन्दर हुआ कि दैत्यों व उनकी पत्नियों ने सुवर्ण के आभूषण खोल–खोलकर नटों को दे दिये। इसके पश्चात् प्रद्युम्न ने वज्रनाभ का वध किया तथा उसकी पुत्री प्रभावती से उनका विवाह सम्पन्न हुआ। डॉ0 ए0बी0 कीथ हरिवंश तथा महाभारत के रचनाकाल में बड़ा अन्तर मानते है। वे कहते

है कि महाभारत में कहीं भी नाटक के होने या खेले जाने का संकेत नही है। और जहाँ तक हरिवंश का प्रश्न है, तो वह बाद का क्षेपक है।

"हरिवंश की इस नाटक वाली कथा का इतना महत्व नही, क्योंकि हरिवंश की रचना–तिथि अनिश्चित है' डॉ0 कीथ हरिवंश को ईसा की दूसरी या तीसरी शती से पहले रखने को तैयार नही है।"[1]

महाभारत व रामायण के बाद बौद्ध ग्रन्थों, तथा जैन ग्रन्थों एवं वात्स्यायन के कामसूत्र में भी नाटकों का तथा नटों का संकेत मिलता है। ईसा की दूसरी शती के बहुत पहले भारत में नाटकों का अस्तित्व न मानने वाले पाश्चात्य पण्डितों के आगे वात्सायन के अर्थशास्त्र से निम्न पंक्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैः–

"कुशीलवाश्र्वागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजानियतं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गौ वा। व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता।।'[2]

अर्थात् बाहर से आये हुये नट् पहले दिन नागरिकों को नाटक दिखाकर उसका मेहनताना दूसरे दिन लेवे। यदि लोग देखना चाहे तो फिर देखे नही तो नटों को विदाकर दें। नगर के नटों व आगन्तुक नटों दोनों को एक दूसरे के कष्ट तथा आनन्द मे परस्पर सहयोग देना चाहिये।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने तो स्पष्ट रूप से 'कंसवध' तथा 'बलिबन्धन' इन दो कथाओं से सम्बद्ध नाटकों का उल्लेख किया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय निश्चित है, कि वे अग्निमित्र शुंगवंशी राजा के पुरोहित तथा गुरू थे। वे लिखते है कि कंस पहले मरा है, इसी तरह बलि का बन्धन

---

1. डॉ0 ए0 बी0 कीथ – संस्कृत ड्रामा परिच्छेद – 2 पृष्ठ 29
2. वात्स्यायन कृत – कामसूत्र – 1, 4, 29–31

भी अतीत काल में हो चुका है, किन्तु ये नट वर्तमान काल मे भी हमारी आँखों के सामने कंस को मारते है तथा बलि को बाँधते है :–

"इह तु कथं वर्त्तमान कालता कंसं धातयति बलिं बन्धयतीति चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथम्। ये तावदेते शोभिनिका (सौमिका) नामैते प्रत्यक्षं कंसं धातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति।।"[1]

कुछ भी हो, महाभाष्यकार पतञ्जलि के पहले से ही कवि भास से लेकर बीसवी शती के कुछ संस्कृत नाटकों तक संस्कृत नाटकों की एक अक्षुण्ण परम्परा पाई जाती है, जिसमें किन्हीं ग्रीक नाटकीय बीजों को ढूढना दुराग्रह तथा हठधर्मिता ही होगी। संस्कृत साहित्य का नाटक–अंग इतना समृद्ध है, कि मात्रा तथा गुण दोनों दृष्टियों में विश्व के नाट्य साहित्य मे उसका विशिष्ट स्थान है। संस्कृत मे सैकड़ों एक से एक सुन्दर नाटक लिखे गये है लेकिन कुछ आज भी अन्धकार मे पड़े हुये है भास के नाटकों का ही लोगों को 1913 ई0 के पहले पता नही था, जबकि महामान्य गणपति शास्त्री ने उनको प्रकाशित किया। भास, कालिदास, शुद्रक, अश्वघोष, भवभूति, विशाखदत्त, भट्टनारायण, राजशेखर, जयदेव आदि प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त जयदेवोत्तर काल (1250–1950) के सैकड़ो नाटककार ऐसे है जिन्होने सुन्दर कलापूर्ण नाटक लिखे है, जयदेवोत्तर काल के नाटककारों में कई नाटकार सिद्धान्त व नाटकीय प्रक्रिया के सामंजस्य को यद्यपि नही बना लेकिन ऐसा भी नहीं है कि सभी नाटककार वैसे ही हो उसके साथ–साथ इसी काल मे भाण–रूपकों की बहुलता ने नाटक की विविधता को कुछ क्षति

---

1. महाभाष्य – पतंजलि कृत – 3/1/26

पहुँचाई। इस काल के प्रमुख नाटककारों मे बाणभट्ट, शेषकृष्ण, मथुरादास, युवराज, रामवर्मा आदि है, जिनकी क्रमशः पार्वती परिणय, कंसवध, वृषभानुजा, अनङ्गविजय आदि रचनाएँ है। संस्कृत के इस विशाल नाट्य साहित्य के समुद्र से कुछ रत्नों को निकाल कर उनका महत्व बताना बड़ा कठिन है। कालिदास, शुद्रक तथा भवभूति की कवियत्री तो समस्त नाट्ककारों की मूर्धन्य है ही। वैसे संस्कृत की प्राचीन परम्परा के पण्डित मुरारि को भवभूति से बढ़कर मानते जान पड़ते है। तभी तो वे कहते हैः—

(1) मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।

(2) भवभूतिमनाहृत्य मुरारिमुररीकुरू।।

परन्तु भवभूति जैसी रागात्मक उदभावना मुरारि में कहॉ, वहॉ तो शास्त्रीय पाण्डित्य ही विशेष है। कालिदास का पद निश्चित है, और उनका अभिज्ञान शाकुन्तल समस्त कथा साहित्य का सार है, इस बात का उद्घोष पण्डितों ने मुक्तकण्ठ से किया है।

"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यं शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोङ्कऽस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्।।"[1]

संस्कृत के इस विशाल तथा सुन्दर नाट्य साहित्य की समृद्धि का श्रेय किसी हद तक भारत के नाट्यशास्त्र जैसे नाटक के सिद्धान्तग्रन्थों—लक्षणग्रन्थों

---

1. कालिदास - अभिज्ञानशाकुन्तल, भूमिका - पृ0- 28

को भी देना होगा। स्वयं कालिदास भरत मुनि के नाटकीय सिद्धान्तों से पथ प्रदर्शन पाते रहे होगे।

नाट्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा

साहित्य में लक्षण ग्रन्थों व लक्ष्य ग्रन्थों का चोली–दामन का साथ है। दोनो एक दूसरे का सहयोग कर साहित्य की श्रीवृद्धि मे योग देते हैं। यद्यपि साहित्य के विधायक लक्ष्य ग्रन्थ, काव्य–नाटकादि ही है, किन्तु जहाँ वे एक ओर लक्षण ग्रन्थों को प्रोत्साहित करते है, वहाँ उनके द्वारा नियन्त्रित भी होते हैं। इन लक्ष्य ग्रन्थों मे रचयिता की उच्छश्रंखलता, मनमानी को रोकने के लिये ही लक्ष्य ग्रन्थों की रचना हुई ये लक्षण ग्रन्थ भी स्वयं अपने पूर्व के लक्ष्य ग्रन्थों की विशेषताओं उनके आदर्शों को मानकर लिखे गये, तथा उन्हीं 'मानो' को भावी काव्यो या नाटकों का विश्लेषण और निकषोपल घोषित किया गया।

अरस्तु 'शोयतिका' तथा 'हेतोरिका' को तभी जन्म दे सका जब उसके आगे एक ओर होमर के 'इलियड' तथा 'ओडेसी' 'सोफोल्कीज' के नाटक तथा तत्कालीन ग्रीक पण्डितो की भाषण शैलियाँ प्रचलित थी। इन लक्ष्यों के आभाव मे लक्षण की स्थापना हो ही कैसे सकती थी। ठीक यही बात संस्कृत के नाट्यशास्त्र के विषय मे कही जा सकती है।

आज डेढ हजार वर्ष से भी अधिक पूर्व लिखा गया भरत का नाट्य शास्त्र इस बात की पुष्टि करता है कि भरत के पूर्व ही कई नाटक लिखे जा चुके हैं जो काल के गाल मे और इस प्रकार भास ही हमे सबसे प्राचीन समझ मे आते है। वैसे तो नाट्यशास्त्र अपने आप मे एक ऐसा अनूठा शास्त्र है जिसकी तह तक पहुँच पाना कठिन ही नही अत्यन्त दुष्कर भी है क्योंकि यह श्रव्य और दृश्य दोनों होने के कारण अपने आप मे उत्कृष्ट बन जाता है नाट्यशास्त्र को पंञ्चम वेद की संज्ञा भी दी गई है अतः इसकी अन्तरंगता,

सुन्दरता, नाटकीयता, आदि पर विषद विवेचन करने वाले एवं उसके सम्बन्ध
ा मे अपने मतों को व्यक्त करने वाले एवं उसके सम्बन्ध मे अपने मतो को
व्यक्त करने वाले कुछ प्रमुख नाटककारों के मतो का हम यहाँ उल्लेख करेंगे।

1. *भरत :-*

भरत का 'नाट्यशास्त्र' नाट्यशास्त्र पर सबसे प्राचीन ग्रन्थ है 'नाट्यशास्त्र' पर ही नही अलङ्कार शास्त्र, सङ्गीत, नृत्य तथा नाटक सभी का इसे प्राचीनतम् पथ प्रदर्शक मानना होगा। भरत का नाम प्राचीन ग्रन्थों में

दो प्रकार से मिलता है– एक वृद्ध भरत या आदि–भरत, दूसरे केवल भरत। नाट्यशास्त्र के विषय मे कहा जाता है कि नाट्यशास्त्र के दो ग्रन्थ मिलते है, एक नाट्यवेदागम, दूसरा नाट्यशास्त्र। पहला ग्रन्थ द्वादशसाहस्री, तथा दूसरा ग्रन्थ षट्साहस्री भी कहलाता है। शारदा तनय के मतानुसार 'षट्साहस्री' प्रथम ग्रन्थ का ही संक्षिप्त रूप थी।

''एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्य वेदस्य संग्रहः।।''[1]

नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत का क्या समय है, इस सम्बन्ध मे विद्वानो के कई मत है। कई विद्वान नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी मे मानते है, कई इससे भी पूर्व। दूसरे विद्वान भरत का समय ईसा की दूसरी या तीसरी शती मानते है। किन्तु नाट्यशास्त्र के इस रूप को उस काल का नही मानते। डा0 एस0के0 दे के मतानुसार नाट्यशास्त्र के सङ्गीत वाले अध्याय चौथी शताब्दी की रचना है, किन्तु नाट्यशास्त्र मे कई परिवर्तन होते रहे होगे और उसका उपलब्ध संस्करण आठवीं शती के अन्त तक हुआ जान

1. दशरूपक – व्या0 डा0 भोलाशकंर व्यास – पृष्ठ– 10

पड़ता है।

इतना तो अवश्य है कि भरत ही प्राचीनतम अलङ्कार शास्त्री, रसशास्त्री व नाट्यशास्त्री है, जिनका ग्रन्थ हमे प्राप्त है। उनके विषय में कुछ ऐसे वाह्म और आभ्यन्तर प्रमाण हमे मिलते है, जो उनके काल निर्धारण मे सहायक हो सकते है। प्रथम हम ब्राह्म प्रमाण को देखते है वैसे तो कालिदास का भी समय मतभेद से रहित नही पर अधिकतर विद्वान उन्हें चौथी शताब्दी का ही मानते है।

कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक मे एक स्थान पर स्पष्ट रूप से भरत का निर्देश मिलता है निर्देश ही नही भरत उस काल तक इतने प्रसिद्ध हो चुके थे कि कालिदास इन्द्र समक्ष भरत के नाटक का संकेत करते है। आशय यह है कि नाट्याचार्य भरत कालिदास से पूर्व ही पौराणिक व्यक्तित्व धारण कर चुके थे, वे ऋषि थे, उन्होने स्वयं ब्रह्मा से नाट्यवेद सीखा था। नाटक शास्त्र के प्रथम अध्याय में पाई जाने वाली नाटक की उत्पत्ति की घटना का सूक्ष्म संकेत कालिदास के पद्य मे भी मिल सकता है। विक्रमोर्वशीय नाटक के द्वितीय अङ्क का यह पद्य यो है :–

"मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टर साश्रयो निबद्धः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरूतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः।।"[1]

नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत कुछ ऐसे स्थल है, जो उसकी प्राचीनता को और पुष्ट करते है। नाट्यशास्त्र मे ऐन्द्रव्याकरण, तथा यास्क के उद्धरण है, किन्तु पाणिनि के नही। अतः नाट्यशास्त्र उस काल की रचना है, जब ऐन्द्र व्याकरण का महत्व पाणिनीय व्याकरण के द्वारा घटाया नही गया था।

---

1. कालिदास कृत – विक्रमोर्वशीय – द्वितीय अंक – 18

नाट्यशास्त्र मे कई प्राचीनतम सूत्रों व श्लोकों का उद्धरण मिलता है :–

"अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः। तत्र श्लोकः

भाषा व विषय प्रतिपादन की दृष्टि से भी भरत का नाट्यशास्त्र प्राचीनता का द्योतक है। फलतः भरत भी भरत मुनि के नाम से प्रसिद्ध हो गये है। भरत का नाट्यशास्त्रकहीं कहीं सूत्रपरिपाटी का आश्रय लेता है। टीकाकारों ने भरत की रचना को कई स्थानो पर 'सूत्र' तथा उन्हें 'सूत्रकृत्' कहा है। नान्यदेव भरत के लिये 'सूत्रकृत्' शब्द का प्रयोग करते है :– 'कलानामानि सूत्रकृदुत्तानि यथा–।' अभिनव गुप्त भी भरत के नाट्यशास्त्र को 'भरतसूत्र' कहते है :–

" षट्त्रिशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्..................................."[1]

अनुमान है भरत का नाट्यशास्त्र कालिदास से लगभग दो शताब्दी पूर्व का ईसा की दूसरी शती का है।

भरत का नाट्यशास्त्र 37 अध्यायों का ग्रन्थ है। भरत के नाट्यशास्त्र के विषय में प्राचीन टीकाकारों का मत है कि वह 36 अध्यायों में विभक्त है। अभिनव गुप्त भी अभिनव भारती मे उसे 'षट्त्रिशक'–36 अध्याय वाला – ही मानते है। किन्तु इसके साथ ही अभिनव 37 वे अध्याय पर भी भारती लिखते हैं, साथ ही इस अध्याय की परम्परागत मान्यता को स्वीकार करते हुये इस अध्याय की व्याख्या करते हैं। इतना ही नही नाट्यशास्त्र के उत्तर व दक्षिण से प्राप्त प्राचीन हस्तलेखों में भी यह भेद पाया जाता है। उत्तर की प्रतियों में 37 अध्याय है, जबकि दक्षिण के हस्तलेखों में 36 व 37 दोनो अध्याय एक साथ ही 36 वे अध्याय मे पाये जाते हैं। इसका क्या कारण है, कुछ लोगो के मतानुसार 36 वे अध्याय को दो अध्यायों मे विभक्त करना 'भारती' के रचयिता

---

1. काव्यप्रकाश – भूमिका –पृष्ठ– 20

अभिनव गुप्त पदाचार्य को भी अभीष्ट था, यद्यपि वे पुरानी 36 अध्याय वाली परिपाटी को सर्वथा भंग नही करना चाहते थे। अभिनव गुप्त अपने शैवसिद्धान्तों का मेल नाट्यशास्त्र के 36 अध्यायों में मिलाकर, शैव 36 तत्वों का संकेत करते जान पड़ते है। इन तत्वों से परस्थित 'अनुत्तर' तत्व का संकेत करने के लिये उन्होने 36 वे अध्याय मे से ही 37 वे अध्याय की रचना की हो। 37 वे अध्याय की 'अभिनव भारती' का मंगलाचरण इसका संकेत दे सकता है :–

"आकांऽक्षाणां प्रशमनविधेः पूर्वभावावधीनां
धाराप्राप्तस्तुतिगुरूगिरां गुह्यतत्वप्रतिष्ठा।
ऊर्ध्वादन्यः परभुवि न वा यत्समानं च कास्ति
प्रौढानन्तः तदहमधुनानुन्तरं धाम वन्दे।।"[1]

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय मे नाटक व नाट्यशास्त्र (नाट्यवेद) की उत्पत्ति का वर्णन है, जिसका संकेत हम दे चुके हैं। बाद में रंगभूमि, रंगमंच, रंगमंच के प्रकार, रंगमंच के विभिन्न अंगो–रंगशीर्ष, रंगमध्य, रंगपृष्ठ, मत्तवारणी तथा दर्शकों के बैठने के स्थानों की विशद वर्णन है। चतुर्थ तथा पंचम अध्याय मे पूर्वरंगविधान का वर्णन है। इसके बाद भरत ने चारों प्रकार के अभिनयो का क्रमशः वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र मे अभिनय चार प्रकार का माना गया है:– सात्विक, आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य। नाट्यशास्त्र के छठे तथा सातवें अध्याय मे सात्विक अभिनय का विचार किया गया है। इसके अन्तर्गत भावाभिव्यक्ति आती है। रसो, भावो, विभावो, अनुभावो व सञ्चारियो का विचार भरत ने यही पर किया है। आगे के 6 अध्यायो मे, 9 वे से 13 वे अध्याय तक, आंगिक अभिनय का विवेचन है। 14 वें अध्याय से 20 वे अध्याय तक, वाचिक तथा

---

1. अभिनवगुप्त कृत – अभिनव भारती – मंगलाचरण

इसके बाद आहार्य अभिनय की विवेचना की गयी है। भरत के इसी विभाजन को लेकर आगे के नाट्यशास्त्री चले हैं।

भरत के नाट्यशास्त्र के विषय मे एक और बात। कुछ लोगों का यह भी मत है। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत न होकर का कोई शिष्य था। यह मत अभिनव गुप्त के समय मे भी प्रचलित था। अभिनव ने इस मत का डटकर खण्डन किया है तथा इस बात को सिद्ध किया है कि नाट्यशास्त्र भरत की ही रचना है। अपने खण्डन का उपसंहार करते हुये अभिनव ने 'भारती' मे लिखा है:—

"एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासारविवेचनं तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम्, न तु मुनिरचितमिति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रत्युक्तम्।।"[1]

भरत के नाट्यशास्त्र या सूत्रो पर कई टीकाये व व्याख्याये लिखी गई जो नाट्यशास्त्र के विकास मे सहायक हुई। इसमे कई तो अनुपलब्ध है। भरतटीका, हर्षकृत वार्तिक, शाक्याचार्य राहुलककृत कारिकाये, मातृगुप्तकृत टीका, कीर्तिधरकृत टीका उनमे से है, जो उपलब्ध नही, इनमे से कुछ के उद्धरण व मत 'भारती' मे मिलते है। भरत के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्तिः' की व्याख्या करने वालो मे लोल्लट, शंकुक व भट्टनायक व अभिनवगुप्त प्रसिद्ध है। अभिनव ने 'भारती' की रचना की है। लोल्लट, शंकुक व भट्टनायक ने भी भरत के नाट्यशास्त्र पर कई व्याख्याये लिखी थी।

2. लोल्लट :-

अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती मे भट्ट लोल्लट के मतों का उल्लेख

---

1. अभिनव गुप्तः - अभिनव भारती - गद्य

किया है। सम्भवतः लोल्लट ने भरत नाट्यशास्त्र पर कोई व्याख्या लिखी होगी जो उपलब्ध नहीं। लोल्लट ने ही सर्वप्रथम भरत के रस परक सिद्धान्त की व्याख्या की। भरत के प्रसिद्ध सूत्र *'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पतिः''*[1] की व्याख्या मे उसने 'सयोगात्' से 'कार्यकारण भापरूप संबंध' तथा 'निष्पति' से 'उत्पत्ति' अर्थ लिया। उन्होने रस की स्थिति रामादि अनुकार्य पात्रो मे मानी, न की नयें या सहृदयों मे लोल्लट मीमांसक थे तथा अभिधावादी थे। वे अभिधाशक्ति को ही समस्त काव्यार्थ का साधन मानते है। उनका मत था कि शब्द के प्रत्येक अर्थ की प्रतिपत्ति अभिधा से ठीक उसी तरह हो जाती है जैसे बाण अकेला ही कवच को भेद, शरीर मे घुसकर, प्राणो का अपहरण कर लेता है मम्मट ने इसी मत को इस प्रकार उद्धृत किया है।

''सोऽयभिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः।'

लोल्लट के मत का प्रभाव कुछ हद तक दशरूपककार धनञ्जय एवं अवलोककार धनिक पर भी पाया जाता है। लोल्लट के समय का पता नही, किन्तु यह निश्चित है कि लोल्लट व्यञ्जनाद, तथा ध्वनिवाद के उदय के बाद रक्खे जा सकते है। यदि ध्वनिकार आनन्दवर्धन से भिन्न है, तो लोल्लट ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के बीच के समय मे उत्पन्न हुये है, अन्यथा वे आनन्दवर्धन के समसामयिक है। इस तरह लोल्लट का समय ईसा की नवी शती माना जा सकता है। जैसा कि लोल्लट के नाम से ही स्पष्ट है, वह काश्मीरी थे।

3. *शङ्कुक :-*

अभिनव ने भारती मे ही शङ्कुक के मत का भी उल्लेख किया है। शङ्कुक ने भी भरत पर कोई व्याख्या लिखी होगी। शङ्कुक की भरतसूत्र की

---

1. मम्मट– काव्यप्रकाश – 4/100

व्याख्या 'अनुमितिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। शङ्कुक नैयायिक थे, तथा उन्होने विभावादि साधनो एवं रसरूप साध्य मे अनुमाप्य– अनुमापक भाव की कल्पना की है इस प्रकार वे रस को अनुमेय या अनुमितिगम्य मानते है। इसके अतिरिक्त वे एक कल्पना और करते है– "चित्रतुरगादिन्याय' की कल्पना। इस कल्पना के अनुसार नट् सच्चे रामादि नही है, वे 'चित्र मे लिखे घोड़े की तरह' राम है। इस कल्पना को दशरूपककार ने भी अपनाया है यह हम यथावसर बताएगे। शङ्कुक ने रस की स्थिति सहृदयो व सामाजिको मे मानी है, ठीक वैसे ही जैसे घोड़े के चित्र को देखकर अनुभव होता है। शङ्कुक ने ही सबसे पहले लोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' तथा सहृदयो मे रसानुभाव न मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है।

शङ्कुक भी कश्मीरी थे। वे लोल्लट के ही समसामयिक रहे होगे। राजतरङ्गिणी के मतानुसार शङ्कुक ने भुवनाभ्युदय काव्य लिखा था, तथा वे काश्मीरीराज अजितापीड के राज्यकाल मे थे। –

"अथ मम्मोत्पलकयोरूदभूद्दारूणो रणः।
रूद्रप्रवाहा यत्रासीद् वितस्ता सुभटैर्हतैः।।
कतिर्बुधमनः सिन्धुशशाङ्कः शङ्कुकाभिघः।
यमुद्दिश्याकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्।।"[1]

शाङ्र्गधर पद्धति तथा सूक्तिमुक्तावली मे मयूर का पुत्र कहा गया है इस प्रकार शङ्कुक ने भी भरत मत का समर्थन करते हुये नाटक के विशेष रूपों पर अपना मत प्रस्तुत किया है और नाटक विद्या और उसकी खोज मे

1. शंकुक – राजतरंगिणी – 4/703/4

शंङ्कुक की महत्वपूर्ण भूमिका है इस बात को हम स्वीकार करते है इसीलिये उनका उल्लेख करना यहाँ अभीष्ट होगा।

4. *भट्टनायक :-*

रससूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक है, जिनके मत का विशद् उल्लेख अभिनव गुप्त ने किया है। अभिनव गुप्त, जयरथ, महिमभट्ट, रूय्यक ने भट्टनायक के मत का उल्लेख किया है, साथ ही इन लोगों ने भट्टनायक की रचना 'हृदय दर्पण' का भी निर्देश किया है। भट्टनायक का 'हृदय दर्पण', स्वतन्त्र ग्रन्थ था, या भरत के नाट्यशास्त्र की टीका, इस विषय मे दो मत रहे है। डॉ0 एस0के0 दे मतानुसार हृदय दर्पण टीका न होकर अलङ्कारशास्त्र का स्वतन्त्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ था। हृदय दर्पण उपलब्ध तो नही, पर सुना जाता है कि इसकी एक प्रति दक्षिण मे थी, और उससे स्पष्ट है कि यह नाट्यशास्त्र की टीका ही थी। वह प्रति भी अब उपलब्ध नही है। भट्टनायक भी लोल्लट तथा शङ्कुक, महिमभट्ट एवं कुन्तक की भाँति अभिधावादी ही है, वे व्यञ्जना वृत्ति या ध्वनि जैसी कल्पना से सहमत नही है। भट्टनायक आनन्दवर्धन के ही समकालीन है। सम्भवतः वे भी आनन्दवर्धन के आश्रय काश्मीरराज अवन्ति वर्मा (955–994 ई0) के ही राजकवि थे।

भट्टनायक रस के सम्बन्ध मे 'भुक्तिवादी' सिद्धान्त के पोषक है। वे काव्य मे भावकाव्य एवं भोजकत्व दो व्यापारी की कल्पना करते है। इस पर भट्टनायक 'संयोगात्' का अर्थ ' भाव्यभावक सम्बन्ध' मानते है। 'निष्पत्ति' से उनका तात्पर्य 'भुक्ति' (आस्वाद) से है। भट्टनायक रस की स्थिति सहृदय मे पूर्णतः सिद्ध करते है। वे ही 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त के सर्वप्रथम प्रवर्तक है, जिसका विस्तार अभिनव ने किया है। भट्टनायक सांख्यमतानुयायी है, वे

अपने रस सम्बन्धी सिद्धान्त मे सांख्यदर्शन का ही आश्रय लेते है। धनञ्जय व धनिक के मत पर भट्टनायक के प्रभाव को हम यथावसर विश्लेषित करेगे।

5. *अभिनवगुप्तपादाचार्य :-*

अभिनवगुप्त एक ओर ध्वनि सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य है, तो दूसरी ओर नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य। इसके अतिरिक्त अभिनव का एक तीसरा भी व्यक्तित्व है, वह है उनका शैव दर्शन के आचार्य का व्यक्तित्व। अभिनवगुप्त ने ध्वनिवाद या नाट्यशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न लिखकर टीकाएँ लिखी है। आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर उनकी 'लोचन टीका' तथा भरत के नाट्यशास्त्र पर उनकी 'अभिनव भारती' (भारती) अमूल्य ग्रन्थ है।

'अभिनव के गुरू, पिता, कुल, तथा समय के विषय मे अभिनव ने स्वयं अपनी रचनाओं मे संकेत किया है। अभिनव के पिता नरसिंहगुप्त या चुखुलक थे।'[1] उनके गुरू भट्टेन्दुराज तथा भट्टतौत थे।[2] उनके पिता स्वयं शैव आगम के प्रकाण्ड पण्डित तथा शिवभक्त भी थे। गुरू भट्टेन्दुराज कवि भी थे; क्योंकि अभिनव अपने 'लोचन' मे उनके पद्यो को उद्धृत करते है। भट्टतौत प्रसिद्ध मीमांसक माने जाते है, सम्भवतः अभिनव ने उनसे मीमांसाशास्त्र पढ़ा हो। साहित्यशास्त्र का अध्ययन अभिनव ने भट्टेन्दुराज से ही किया होगा।

---

1. तस्यात्मजश्चुखुलकेति जने प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः। यं सर्वशास्त्ररसमज्जन शुभ्रचिन्तं माहेश्वरी परमलंकुरूते स्म भक्तिः।। (तन्त्रालोक-37)
2. भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्त पदाभिधोऽहम्।।
(ध्वन्यालोक)

'अभिनवगुप्त पदाचार्य एक ओर शैव दार्शनिक थे, दूसरी ओर साहित्य मे व्यञ्जनावादी तथा ध्वनिवादी। अतः उनका रसपरक सिद्धान्त शैवदर्शन तथा व्यञ्जनावाद की आधारभित्ति पर स्थापित है।"[1] वे रस को व्यंग्य मानते है, तथा भरतसूत्र के 'संयोगात्' तथा 'निष्पत्तिः' के 'व्यङ्गयव्यञ्जक भावरूपात्' तथा 'अभिव्यक्ति' अर्थ करते है। वे रस की स्थिति सहृदय मे मानते है तथा रस दशा को शैवो की 'विमर्शदशा' से जोड़ते जान पडते है। धनञ्जय व ध ानिक को अभिनवगुप्त के सिद्धान्तो का पता था या नही , यह नही कहा जा सकता, क्योंकि ये दोनो अभिनव के समसामयिक ही है। पर इन्हे आनन्दवर्धन के व्यक्तिवादी मत व रस सम्बन्धी मत का पूरा पता था, जो अभिनव से भी पहले रस के व्यंग्यत्व की स्थापना कर चुके थे। तभी तो इन्होने दशरूपक की कारिका मे तथा अवलोक वृत्ति मे व्यञ्जना जैसी तुरी या वृत्ति की कल्पना का तथा रस के व्यंग्यत्व का डटकर विरोध किया है, रस की चर्वणा तथा निष्पत्ति के मत के अतिरिक्त अभिनव ने एक और नई स्थापना की है, वह 'शान्तरस' की स्थापना है। भरत के नाट्यशास्त्र मे आठ ही रस है किन्तु भरत के ही आध ार पर अभिनव ने 'भारती' मे शान्त रस जैसे नवम रस की स्थापना की है, जो अभिनव के शैवदर्शन वाले सिद्धान्त को सर्वथा अभीष्ट थी।

अभिनवगुप्त का समय दसवीं शती का अन्त तथा ग्यारहवीं शती का पूर्वभाग है। अभिनव की 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा–विमर्शिनी की रचना 1015 ई0 मे हुई थी, इसका निर्देश स्वयं अभिनव ने ही किया है।

---

1. द्रष्टव्य – डा0 पाण्डेय 'अभिनवगुप्त हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी' इसी विषय का विशद विवेचन मैने अन्यत्र अपने 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' नामक गवेषणा पूर्व प्रबन्ध के प्रथम भाग में किया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

'इति नवतितमेंशे वत्सरान्ते युगांशे,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितश्शम्भुपादैः।।[1]

इस पद्य के अनुसार यह रचना कलिसंवत् 4090 अथवा 1015 ई0 मे हुई थी।

अभिनवगुप्त का रस सिद्धान्त ही मम्मट से लेकर जगन्नाथ पण्डित राज तक मान्य रहा है। संस्कृत के अलंकार शास्त्र व नाटयशास्त्र मे अभिनवगुप्त की गणना पहली श्रेणी के आचार्यो मे होती रही है।

---

1. दशरूपक – डा0 भोलाशंकर व्यास – पृ0 16

(iii) रूपक की श्रेष्ठता

अंग्रेजी साहित्य मे जिस अर्थ मे 'ड्रामा' शब्द का प्रयोग होता है, उस अर्थ में संस्कृत साहित्य मे 'रूपक' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। वैसे अधिकतर इस आंग्ल शब्द का अर्थ 'नाटक' शब्द के द्वारा किया जाता है, किन्तु नाटक रूपको का एक भेद मात्र है, रूपक क्या है, इस प्रश्न का उत्तर यह प्राप्त होता है कि रूपको पर्यालोचन का लक्ष्य केवल व्युत्पत्ति या लौकिक ज्ञान न होकर, रस रूप, अलौकिक आस्वाद का अनुभव है। रूपक आनन्द से प्रवण रहते है इनका लक्ष्य सहृदय को अलौकिक रस का आनन्द कराना है रूपक का फल इस प्रकार बताया गया है।

'आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय।'[1]

संस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से काव्य के दो भेद माने गये है–दृश्य तथा श्रव्य काव्य। उनमे से दृश्य काव्य का 'रूप' भी कहते है–***'रूपं दृश्यतयोच्यते***[2] आरोप किया जाने के कारण नाट्य 'रूपक' कहलाता है–***'रूपकं तत्समारोपात्***[3] अब नाट्य का अर्थ बताते हुये दशरूपककार कहते है– ***अवस्थानुकृतिं नाट्यं***[4] अर्थात् अवस्था का अनुकरण ही 'नाट्य' है। नायक की उदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण अथवा अभिनय कौशल

1. दशरूपक – 1/6
2. दशरूपक – 1/8
3. दशरूपक – 1/9
4. दशरूपक – 1/7

'नाट्य' कहलाता है। अर्थात् जो काव्य अभिनेय होता है वह नाट्य कहलाता है। यह अभिनय चार प्रकार का होता है–

1. आङ्गिक
2. वाचिक
3. आहार्य
4. सात्विक

उनमे से अंग द्वारा सम्पादित अभिनय आङ्गिक, वाणी द्वारा सम्पादित वाचिक, वेषभूषा द्वारा सम्पादित आहार्य और मनोभावों के आविष्करण द्वारा सम्पादित सात्विक अभिनय कहलाता है–

'भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः।
आङ्गिको वाचिक श्चैवमाधर्यः सात्विकस्तया।।'[1]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मुख मे चन्द्रमा का आरोप किया जाने के कारण 'मुखचन्द्र' मे रूपक (अलंकार) कहलाता है इसी प्रकार नट मे राम आदि की अवस्था का आरोप होने के नाट्य को 'रूपक' कहते है।

---

1. विश्वनाथ – साहित्यदर्पण – 6/2

रूपक के भेद :-

रस पर आश्रित होने वाला रूपक दस प्रकार का होता है – *'दशधैव रसाश्रयम्'*[1] जो निम्नलिखित है–

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।

ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।[2]

अर्थात्

1. नाटक	2. प्रकरण
3. भाण	4. व्यायोग
5. समवकार	6. डिम
7. ईहामृण	8. अङ्क
9. बीथी	10. प्रहसन

1. *नाटक :-*

नाटक का वृत्त (चरित्र) इतिहास, पुराण आदि मे प्रसिद्ध होना चाहिये। वह मुखादि पंञ्च सन्धियो से तथा अनेक विभूतियो से युक्त होना चाहिये। श्रृंगार आदि रसो से व्यवहृत होता हुआ सुख दुःख आदि की अनुभूति कराने वाला, अधिकतम दश तथा कम से कम पाँच अंकों वाला नाटक होता है।

इसका नायक प्रख्यात वंश का राजर्षि धीरोदत्त, प्रतापी, दिव्य अथवा अदित्य होना चाहिये। श्रंगार या वीर मे से कोई एक प्रधान रस होता है। नाटक मे कुल चार या पाँच मुख्य पुरूष कार्य में संलग्न होते है। गोपुच्छ के अग्रभाग के समान अंकों को समायोजित करना चाहिये।

---

1. दशरूपकम् – धनञ्जय – 1/7
2. दशरूपकम् – धनञ्जय – 1/8

'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पंचसन्धि समन्वितम्'[1] अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

2. प्रकरण :-

कथावस्तु लौकिक एवं कवि कल्पित होती है। इसका प्रधान रस श्रंगार तथा नायक ब्राह्मण, मंत्री तथा वैश्य होता है, जो विघ्नपूर्ण, धर्म, अर्थ तथा काम मे धीरप्रशान्त होता है। जैसे –'मृच्छकटिक' का नायक 'चारूदत्त' एक ब्राह्मण। 'मालतीमाधव' का नायक 'माधव' मंत्री तथा 'पुष्पभूषित' एक वणिक है। प्रकरण की नायिका कुलीन, वेश्या, अथवा दोनों हो सकती है। जैसे 'पुष्पभूषित' नामक प्रकरण में कुलीना 'नायिका' रंगवृत्त प्रकरण मे वेश्या नायिका तथा मृच्छकटिक मे कुलीना वेश्या नायिका है। – ***"भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितः"***[2]

3. भाण :–

धूर्तो के चरित्र से युक्त अनेक अवस्थाओं से व्याप्त 'भाण' एक अंकवाला ही होता है। अकेला विट ही जो निपुण वा पंडित होता है रंग मे अपनी अथवा दूसरो की अनुभूत बातो को प्रकाशित करता है। सम्बोधन तथा उक्ति, प्रयुक्ति 'आकाशभाषित' के द्वारा होती है। सौभाग्य और शौर्य के वर्णन से बीर और श्रृंगार रस को सूचित किया जाता है। इसकी कथावस्तु कविकल्पित तथा वृत्ति प्रायः 'भारती' होती है 'मुख और निर्वहण' सन्धियो के साथ साथ गेपपदादिक दसो लास्यांग होते है। –***'भाणः स्याद् धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः'***[3] इसका प्रमुख उदाहरण है।

---

1. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ – 6/7-11
2. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ – 6/224-226
3. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ – 6/227-230

4. व्यायोग :-

'ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः'।[1] अर्थात व्यायोग की कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध होती है। इसमे स्त्रियो की संख्या बहुत कम तथा पुरूष पात्रो की संख्या प्रचुर हुआ करती है। इसमे 'गर्म' और 'विमर्श' सन्धियों की योजना अपेक्षित नही रहा करती और इसकी एक अंक मे ही समाप्ति आवश्यक मानी गयी है। इसमे युद्ध स्त्री के लिये नही होता तथा 'वृत्ति' भी कौशिकी' नही होती है। इसका नायक प्रख्यात 'धीरोदत्त' राजर्षि अथवा दिव्य पुरूष होता है। हास्य, श्रृंगार तथा शान्त के अतिरिक्त कोई अन्य रस
प्रधान होता है। 'सौगन्धिकाहरणम्' इसका प्रमुख उदाहरण है।

5. समवकार :-

'वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम्'।[2] समवकार वह रूपक भेद है जिसका वृत्त पुराण आदि मे प्रसिद्ध देवविषयक अथवा असुर विषयक होता है। इसमे 'विमर्श' सन्धि का अभाव होता है तथा अंको की संख्या तीन होती है। इसमे से प्रथम अंक मे दो सन्धियॉ तथा दूसरे व तीसरे अंक मे एक–एक सन्धि होती है। इसमे देवता तथा मनुष्य 12 नायक होते है। जिनमे से प्रत्येक का प्रयोजन पृथक–पृथक हुआ करता है। वीर रस मुख्य होता है तथा बिन्दु, प्रवेशक का अभाव होता है। कौशिकी वृत्ति के पुट के साथ–साथ और तीनो वृत्तियॉ आवश्यक है। यथा सम्भव वीथी के तेरह अंगो का उपन्यास आवश्यक है। 'गायत्री' 'उष्णिक्' आदि अनेक प्रकार के छन्द होते है। तीन प्रकार का बिद्रव होता है। प्रथम अंक की कथा 12 नाडियो (24 घड़ी) मे द्वितीय अंक की कथा (4 नाड़ी(8 घड़ी) मे सम्पन्न होती है। 'समुद्रमंथनम्' इसका प्रमुख

---

1. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ कृत – 6/231–233
2. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ कृत – 6/234–238

उदाहरण है।

6. डिम :-

'मायेन्द्रजालः संग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।' [1] डिम की कथावस्तु इतिहास होती है। यह माया इन्द्रजाल युद्ध, क्रोध और उद्भान्ति (उत्तेजना) आदि चेष्टाओ तथा उपरागो से व्याप्त होता है। इसमे रौद्र रस की प्रधानता होती है। विष्कम्भक प्रवेशक तथा कैशिकी वृत्ति का अभाव होता है। डिम मे शान्त, हास्य और श्रृंगार रस का अभाव होता है। इसमे नायक 16 होते है। जो देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प भूत प्रेत, पिशाचादि होते है। 'त्रिपुरदाह' डिम का सर्वोत्तम उदाहरण है।

7. ईहामृग :-

'ईहामृगोमिश्रवृत्तश्चतुरङ्कः प्रकीर्तितः'। [2] चार अंको से युक्त ईहामृग की कथावस्तु ऐतिहासिक व कवि कल्पित दोनो का सम्मिश्रण ही है इसमे मुख, प्रतिमुख और निर्वहण ये तीन सन्धियॉ आवश्यक होती है इसमे नायक और प्रतिनायक, प्रख्यात और धीरोद्धत देव अथवा मानव होते है। इसमे दस पताकानायक होते है जो देव या मानव दोनो प्रकार के हो सकते है। इसमे वध योग्य लोगो के वध का वर्णन नही किया जाता। कुछ नाट्याचार्यो ने ईहामृग के लिये एक अंक की ही रचना पर्याप्त मानी है और देव को ही नायक रूप मे स्वीकार किया है। कुछ अन्य आचार्य ईहामृग के लिये छह नायक आवश्यक मानते है जो किसी दिव्यांगना के लिये परस्पर लड़ते झगड़ते है। इसका उदाहरण कुसुम शेखर विज्ञादि है।

---

1. साहित्य दर्पण - विश्वनाथ - 6/241-244
2. साहित्य दर्पण - विश्वनाथ - 6/245-249

8. अङ्क :-

'उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकताः नराः'[1] उत्सृष्टांक अथवा अंक एक अंक मे ही रचा जाता है जिसमे साधारण पुरूषो को नायक रूप मे चित्रित किया जाता है इसमे नारी विलाप के वर्णन की प्रचुरता के कारण करूण रस अंगी रस होता है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात होता है। सन्धि, वृन्त और अंगो की योजना भाण के समान होती है। इसमे जय़–पराजय युद्ध–नियुद्ध आदि वाणी द्वारा प्रकाशित किये जाते है। साथ ही साथ इसमे निर्वेदप्राय वचनो का भी बाहुल्य रहा करता है। 'शमिष्ठाययातिः' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

9. वीथी :-

'वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते'[2] अर्थात वीथी वह रूपक प्रकार है जिसमे एक ही अंक हुआ करता है और एक ही नायक 'आकाश भाषित' के द्वारा चित्र विचित्र, उत्तर–प्रत्युत्तर–पूर्वक, अन्यान्य काल्पनिक पात्रो से, आलाप–संलाप करते हुये चित्रित किया जाया करता है। इसमे श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति अधिक और अन्य रसो की अभिव्यक्ति कम रखी जाया है। इसमे सन्धियॉ तो केवल 'मुख' और 'निर्वहण' दो ही हुआ करती है किन्तु अर्थ–प्रकृतियॉ पॉच होती है। नाट्यकोविदो ने वीथी के 13 अंग बताये है–

(1) उद्घायक (2) अवगलित (3) प्रपञ्च (4) त्रिगत (5) छल (6) वाक्केलि (7) अधिबल (8) गण्ड (9) अवस्यन्दित (10) नालिका (11) असत्प्रलाप (12) व्याहार (13) मृदव (अथवा मार्दव)।–

---

1. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ – 6/250–252
2. विश्वनाथ – साहित्य दर्पण – 6/253

'अस्यास्त्रयोदशाङ्गानि निर्दिशन्ति मनीषिणः' ।[1]

10. प्रहसन :-

'भाणवत्सन्धिसन्ध्यङ्गलास्याङ्ग............ ।[2] अर्थात– प्रहसन रूपक की वह विद्या है जिसमे सन्धि, सन्ध्यङ्ग, लास्यांग और अंक की रचना 'भाण' की भाति हुआ करती है। इसका इतिवृत्त अधम प्रकति के नायक का इतिवृत्त होता है और कविकल्पित होता है। प्रहसन मे 'आर्यभटी' वृन्ति नही हुआ करती और न विष्कम्भक और प्रवेशक की ही रचना की जाया करती है। प्रहसन का अंगी रस हास्य हुआ करता है। इसमे वीश्यऽग योजना ऐच्छिक है अनिवार्य नही। शुद्ध संकीर्ण और विकृद भेद से 'प्रहसन' तीन प्रकार का होता है।

उपर्यक्त 10 रूपको के अतिरिक्त 18 उपरूपको को भी दृश्य काव्य का प्रकार माना है जो निम्नलिखित है–

'नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम् ।
प्रस्थानोल्लाप्य काव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा ।।
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका ।
दुर्भल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च ।
अष्टादश प्राहुरूपरूपकाणि मनीषिण ।
बिना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम् ।।[3]

अर्थात (1) नाटिका (2) त्रोटक (3) गोष्ठी (4) सट्टक (5) नाटयरासक (6) प्रस्थान (7) उल्लाप्य (8) काव्य (9) प्रेङ्खण (10) रासक (11) संलापक (12) श्रीगदित (13) शिल्पक (14) विलासिका

---

1. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ – 6/255
2. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ – 6/255
3. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ – 6/4-6

(15) दुर्मल्लिका (16) प्रकरणी (17) हल्लीशक (18) भणिका– ये 18 प्रकार के उपरूपक है।

संस्कृत काव्य मे रूपक का स्थान :-

वस्तुतः 'नाटक' दशरूपको का एक भेद है। कालान्तर मे 'नाटक' शब्द अर्थ विस्तार प्राप्त कर सभी रूपको के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त होने लगा। फलतः 'नाटक' या नाट्य' शब्द के रूपक का भाव ग्रहण होना चाहिये। नाट्य शब्द जो रूपकवाची है सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र मे शीर्ष स्थान प्राप्त करता है। ब्रह्मानन्द सहोदर 'रस' की अनुभति काव्य के सरस, सरल और सहज माध्यम से सर्वदा होती रही है। काव्य के अनिवर्चनीय वत्व 'आनन्द' की सत्ता सभी पाष्चात्य वा यौर्वात्य विद्वान स्वीकार करते है। भारतीय ऋषि 'रसोवैसः से जिस रस की उपमा ब्रह्म से देते थे वह 'रस' काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित है।

नाट्य या रूपक दृश्य काव्य है और नाटको मे श्रव्य काव्यो की अपेक्षा हृदयाग्रहिता मनोरंज्जकता, आकर्षकता, भावाभिव्यंजकता, विषय की विविधता और रसानुभूति अधिक होती है। इसलिये वह जनप्रिय होता है। यही कारण है कि काव्य मे नाटको को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है– 'काव्येषु नाटकं रम्यं।'

संस्कृत साहित्य की विश्व प्रसिद्ध मे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' जैसे उच्च कोटि के नाटक की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। काव्य मे नाटक की सर्वोच्च प्रतिष्ठा करते हुये कविता–कामिनी के चतुर चितेरे महाकवि कालिदास कहते हैं।

'त्रैगुण्योद्भवयत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाटयं भिन्नरूर्चेजनस्य बहुधात्येकं समाराधनम्।।'[1]

---

1. कालिदास – मालविकाग्निमित्रं –1/4

काव्य के श्रवण की अपेक्षा रंगमंच का आकर्षण अधिक होता है। काव्यानन्दानुभूति मे मनुष्य स्वसत्ता भूलकर नाटक के पात्रों मे स्वयं को निरूपित कर लेते हैं तथा उनका सुख दुख स्वयं का मानने लगते हैं। इस सन्दर्भ मे आचार्य वामन कहते है।–

'सन्दर्भेषु रूपकं श्रेयः तद्धि चित्रं।

चित्रपटवत विशेषसाकल्यात्।।'[1]

'नाटक' लोकवृत का अनुकरण होता है। इसमे तीनों लाकों के भावों का अनुकीर्तन होता है। आचार्य भरतमुनि नाट्यवेद को सार्ववर्णिक कहते है। नाटक मे विश्व की समस्त भावनाओ का प्रदर्शन तथा विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं का चित्रण होता है–

'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाटयं भावानुकीर्तनम्।[2]

नाना भावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तशत्यकम्।

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम।।[3]

नाटक के द्वारा दर्शकों मे उत्साह की वृद्धि होती है। अल्पज्ञ विशिष्ट बोध को प्राप्त कर लेता है तथा विद्वान और विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते है। यह धनिकों के लिये मनोरंजन, दुःखितो के लिये आश्वासन व्यावसायियों के लिये आय का साधन और व्याकुलों के लिये शान्तिप्रद होता है–

'अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि'।[4]

ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्य दुःखार्दितस्य च।

---

1. काव्यालड.ार सूत्र– वामन – 1/3/30–31
2. नाट्यशास्त्र – भरत मुनि – 1/107
3. नाट्यशास्त्र – भरत मुनि – 1/112
4. भरत मुनि – नाट्यशास्त्र – 1/110

अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरूद्विग्नचेतसाम्।[1]

नाटक दुख से व्याकुल, श्रम से परिश्रान्त और शोक से सन्तप्त दीन–दुखियो, के लिये समय पर विश्राम देने वाला तथा धर्म, यश आयु का सम्वर्द्धक, हितकारी, बुद्धि बढाने वाला और लोकोपदेश जनक होता है।

'दुःखर्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।।
धर्म्य यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।[2]

कवि विल्हण ने 'विक्रमांकदेवचरितम्' मे काव्य रूपी अमृत को साहित्य समुद्र के मंथन से उत्पन्न कहा है–

'साहित्य पाथो निधिमन्थनोत्थं
काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।'

भरत नाट्यशास्त्र को कलाओं का विश्वकोष कहा जाता है। भरतमुनि कहते है ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग, और कर्म नही है, जो नाट्य मे न दिखाई देता हो।

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृष्यते।।[3]

सारांशतः कहा जा सकता है कि रूपक संस्कृत काव्य राशि की अमूल्य निधि है। विश्ववाङ्गमय में संस्कृत रूपक सर्वोच्च पद प्रतिष्ठित है। रूपक मे गद्य और पद्य दोनो का सुष्ठु मणिकान्चन संयोग होता है। इसकी श्रेष्ठता को परिलक्षित करते हुये ही अलंकारिकों ने 'नाटकान्तंकवित्वम्' कहा है।

---

1. नाट्यशास्त्र – भरत मुनि – 1/111
2. नाट्यशास्त्र – भरत मुनि – 1/114–115
3. नाट्यशास्त्र – भरतमुनि – 1/116

4. *नाटक का उद्देश्य*

कला का उत्तम रूप काव्य है और सर्वोत्तम रूप नाटक है जिसका प्रतिपादक सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है जो अपनी विचारों की व्यापकता, अभिगम्यता, स्पष्टता एवं सारगर्मिता के साथ साथ विषयगत समग्रता से परिपूर्ण है। भारतीय नाट्य काव्य परम्परा पर विचार करते समय नाट्यशास्त्र सर्वप्रथम आ जाता है, क्योंकि यह अपने अनुषर्गिक विषयों जैसे, काव्य, संगीत, नृत्य, अन्यान्नललित कलाओं का भी कोष है।

प्राचीन भारत मे नाट्य कला के स्वरूप तत्व तथा प्रकृति को पूर्णतया हृदयगंम करने के लिये नाटक की एक मात्र आलम्बन था, नाटक मे काव्य, संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं का पर्याप्त समावेश होता है, इसमे मौलिकता तथा व्यापकता के ऐसे बीज हैं जिसकी शाश्वत स्थिति प्राचीनकाल से लेकर आज भी नाट्यकला मे देखी जा सकती है।

नाट्क का उद्देश्य काव्य, संगीत तथा नृत्य जैसी सुकुमार ललित कलाओं के द्वारा मनुष्य के शाश्वत जीवन की अवधारणाओं रंगमंच के माध्यम् से सर्वविदित करना है। यद्यपि आज के नाटकों मे और उनकी अभिनय पृवृत्ति मे प्राचीन परम्परा पूर्णतया स्थिर नही रह गयी है, परन्तु नाट्य शास्त्र मे समाज मे प्रतिदिन होने वाली घटनाओं एवं व्यवहारिक जीवन से सम्बन्धित क्रियाविधि का दृश्यांकन कर उनकी मूलभावनाओं को नाटक के माध्यम् से दिखाया जाता है।

अभिनवगुप्त ने अपने प्रसिद्ध नाट्यशास्त्रीय व्याख्या अभिनवभारती मे नाटक की विशेषताओं के बारे मे लिखते हुये कहा है– "कि नाटक वो कला है जो दर्शकों के मनोभावों मे अपना पूर्ण नियन्त्रणकर मनुष्य की अव्यवहारिक क्रियाओं को त्याग देने के लिये प्रेरित करता है।

एक अन्य विद्वान श्री रामकृष्ण कवि इस तर्क से सहमत नही है उनका कहना है–''कि नाटक, दृश्य, एवं श्रव्य दोनों विधाओं से युक्त होने के कारण नाट्यशास्त्र की अपनी उत्कृष्टता अलग ही है।

धनञ्जय ने अपने नाट्यशास्त्र मे विवेचना करते हुये लिखा है–''कि भारतीय नाटक अपनी नाट्य परम्परा मे सर्वश्रेष्ठ है और विषयगत समानता के साथ–साथ अपने नाट्यशास्त्र को भी विषय विस्तारों से जोड़कर एक नये आयाम कों तार्किक सहारा देने योग्य बनाता है।

नाटककारों का उद्देश्य नाट्यकला को विकसित करने तथा मंच पर पात्रों के माध्यम से सांस्कृतिक, सामाजिक एवं चीजों को दर्शाना है।

एक नाटककार का मत है कि दृश्य तथा श्रव्य होने के कारण नाटक अपनी मौलिकता को आज भी अक्षुण्य बनाये हुये है। नाटक सांस्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक परिदृश्य को दर्शकों के समक्ष स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है जिसका प्रभाव ह्रदय पर सीधे पड़ता है इस प्रकार नाट्यकला का उद्देश्य जन–जन तक सामाजिक उतार चढ़ाव के बारे मे पहुचाना है।

नाटक दृश्य काव्य की अपेक्षा श्रव्य काव्य का व्यापक क्षेत्र है, इसकी प्रतिपादन शैली तथा विषय के उपस्थापन का दृश्य स्पष्ट एवं मौलिक होता है तथा नाटक के विषय को भाव के आधार पर गृहण करते हुये दर्शकों के समक्ष रंग मंच मे सप्रमाण चेष्टा की जाती है। इसमें भाव, रस, नायक, नायिका स्वरूप, कथावस्तु अभिनय आदि के प्रसङ्गो को उत्कृष्ट रूप से दिखाया जाता है। यही कारण है कि सभी काव्यों मे नाट्यकाव्य को सर्वश्रेष्ठ काव्य की संज्ञा दी गई है।

V. *रामायण और महाभारत काल मे नाट्यकला :-*

महामहोपाध्याय पण्डित रामअवतार शर्मा जी का इस मत से सहमत

होना अतीव युक्ति संगत लगता है। नाट्यकला एक ऐसा रसशिक्त मनोरम आह्लादकारी काव्य है जिसमे दृश्य, पश्य और श्रृव्य तीनो काव्यो का सम्मिश्रण एक उत्कृष्ट भाव, सामाजिको के हृदय मे उत्पन्न कर देता है। यही कारण है कि नाट्य साहित्य उत्तरोत्तर सफलता की सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ता चला गया धीरे धीरे विद्वानो की रूचि बढ़ने लगी और नाट्य साहित्य अपनी उत्कृष्टता के लिये समग्र रूप से जाना जाने लगा सर्वप्रथम नाटको की सुरूवात पुत्तलिका नृत्य से मानी जाती है। संस्कृत भाषा के साथ–साथ प्राकृत भाषा मे भी लिखे हुये नाटक पाये जाते है। अतः इससे सिद्ध होता है कि नाट्य साहित्य का उद्भव कालिदास के पूर्ववर्ती काल मे हो चुका था। क्योंकि कालिदास के समय के पहले से प्राकृत भाषा की लिपियाँ उपलब्ध है।

नाटक का मंचन दर्शकों के सभी इन्द्रियगत व्यवहारों को क्रियाशील करके प्रेरित करते हुये परिणाम की ओर स्वतः भेज देता है। रामायण और महाभारत काल मे भी नाट्यकला अपने अस्तित्व व पूरे सबाब मे थी उस काल मे तो अन्यान्य उत्कृष्ट नाटककारों नाट्यकृतियाँ प्राप्त थीं। धीरे–धीरे करके नाट्य सूत्रों के आधार पर बहुत कुछ परिमार्जन भी किया जा चुका था लगभग नन्दी, सूत्रधार, विदूषक, नायक, उपनायक, नायिका, उपनायिका आदि सब सूत्रबध्य किये जा चुके थे। प्रत्येक की अलग–अलग परिभाषायें और आसय स्पष्ट किये जा चुके थे। इतना ही नही नाटक के मुख्य पात्र नायक और नायिका के सम्बन्ध मे शास्त्र सम्मत उपभेद भी किये जा चुके थे और साथ ही प्रत्येक उपभेद के लक्षण भी निर्धारित किये जा चुके थे जैसे धीरोदात्य धीरोद्धत नायक आदि।

रामायण काल के नाटक जैसे– प्रतिमानाटकम् और अभिषेक,

प्रतिमानाटकम् :-

इसके अन्तर्गत राम का वनवास, सीताहरण आदि अयोध्या काण्ड से लेकर रावण वध तक की घटनाओं का वर्णन किया गया है इस नाटक मे प्राचीन काल से कला विषयक नवीन वृत्तान्त का पता लगता है। प्राचीन काल मे राजाओ के देवकुल होते थे जिनमे मृत्यु के अनन्तर राजाओ की बड़ी मूर्तियाँ स्थापित की जाती थी इक्ष्वाकुवंश का भी ऐसा देवकुल था जिसमे मृत नरेशो की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थी। कैकयी देश से आते समय अयोध्या के समीप देवकुल मे स्थापित दशरथ की प्रतिमा को देखकर ही भरत ने उनकी मृत्यु का अनुमान लगा लिया था इसी आधार पर इस नाटक का प्रतिमानाटक नाम पड़ा।

अभिषेक :-

इसमे राम के राज्याभिषेक का वर्णन किया गया है नगर की सजावट, तोरण द्वार, मणियों से जगमगाते हुये सभामण्डप, राज्यसिंहासन, सोने का छत्र, दण्ड आदि का विस्त्रित्र वर्णन है। इसके अनन्तर सामान्यतयः रामायण के सभी घटना स्थलों का वर्णन मिलता है। बालकाण्ड को छोड़कर शेष सभी काण्डों की कथा इस नाटक के अन्तर्गत आ जाती है।

भास न रामायणीय रूपको की कथावस्तु मे विशेष नवीनता नही लायी है वे प्रसिद्ध घटनाओ को नाटक के रूप मे रखने वाले सामान्य नाटक है। प्रतिमानाटक मे भास ने एक नवीन कल्पना के कथानक को लगाया है। देवकुल की कल्पना उस युग की एकमान्य कल्पना थी। जब प्रत्येक राजा के महल मे एक पृथक मन्दिर प्रतिष्ठित था जिसमें राजा की मृत्यु के अनन्तर उसकी पाषाण मूर्ति वहाँ स्थापित की जाती थी। यह भास की कोई कल्पना नही प्रत्युत्त एक ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित है। अजात शत्रु तथा

विम्बसार की पुरूषाकृति मूर्तियो से इस तथ्य को पर्याप्त पुष्टि मिलती है भास ने बिना किसी कारण के राम के द्वारा बालि का वध दिखाकर उसे सदोष बना दिया है बालि की रंगमंच के ऊपर मृत्यु दिखाना पूर्णतया नाट्य शास्त्र की प्रचलित कथा के विरूद्ध है।

इसी प्रकार महाभारत से लिये गये कथानको पर महाकवि भास ने प्रमुखतः पंचरात्र, मध्यमव्यायोग, कर्णभार, दूतघटोत्कच, बालचरित, दूतवाक्य, उरूभंङग आदि नाटकों की रचना है जिनके कथानक यहाँ पर संक्षेप मे दिये जा रहे हैं।

पंचरात्र :-

इस नाटक मे यज्ञ की समाप्ति पर द्रोण दुर्योधन से दक्षिणा मे आधा राज्य मांगते है। दुर्योधन इसे इस रूप मे स्वीकार करता है कि यदि पाँच रात्रियों के अन्दर पाण्डव मिल जायेगे तो वह आधा राज्य दे देगा। द्रोण के प्रयत्न से पाण्डव मिल जाते है तथा उन्हे आधा राज्य दे दिया जाता है।

मध्यम व्यायोग :-

यह एकांकी है इसमे मध्यम पाण्डव भीम द्वारा घटोत्कच के हाथ से एक ब्राह्मण पुत्र की रक्षा करना और भीम की पुत्र दर्शन से आनन्दानूभूति तथा हिडिम्बा से पुनर्मिलन का वर्णन है।

कर्णभार :-

यह भी एक एकांकी है। इसमें कर्ण का ब्राह्मण वेष धारी इन्द्र को दान में कवच व कुण्डल देने की कथा है।

दूतघटोत्कच :-

इस नाटक मे अभिमन्यु की मृत्यु के पश्चात् श्री कृष्ण का घटोत्कच को दूत के रूप मे दुर्योधन के पास भेजना दुर्योधन द्वारा अपमान तथा दुर्योधन का

यह कथन है कि "मै अपने बाणो से उनको उत्तर दूँगा।" इत्यादि कथा वर्णित है।

दूतवाक्य :-

इस रूपक मे महाभारत के युद्ध से पूर्व श्री कृष्ण का पाण्डवो की ओर से सन्धि का प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास जाना और मनोरथ विफल हो जाने के बाद लौटने का वर्णन है।

उरुभंग :-

यह भी एक एकांकी है। इसमे द्रौपदी के अपमान के प्रतिकार स्वरूप भीम द्वारा दुर्योधन की जंघा भंग करके उसको मारने का वर्णन है। संस्कृत साहित्य मे यही दुःखान्त नाटक है।

शास्त्रीय दृष्टि से अनुशीलन करने के पश्चात् यह देखा गया है कि वास्तव मे रामायण और महाभारत कालीन नाट्य परम्परा कम ससक्त नही रही महाभारत कालीन नाटकों का नाट्य विषय अपने सुदृढ साहित्यिक विधा सामाजिक स्थिति का वर्णन, देशकाल स्थिति का वर्णन एवं पात्र चयन, नाटककारों की प्रमुख महत्ता रही है। इसी कारण रामायण कालीन नाटकों में प्रतिमानाटक में वर्णित भरत के ससक्त चरित्र के माध्यम् से समाज मे समाजिकों के उत्तरदायित्वों को भली भाँति निभाने का संकेत दिया गया है। पारिवारिक सम्बन्धों मे भाई का भाई के प्रति, पिता का पुत्र के प्रति, एवं अन्य सगे सम्बन्धों का निर्वहन किस प्रकार किया जाना चाहिये इसके ज्वलन्त प्रतीकमान उदाहरण इन नाटकों मे मिलते है।

इसके साथ—साथ महाभारत कालीन नाटकों मे सामाजिकता के साथ—साथ राजनीति का भी पुट दिया गया है। बालचरित मे श्री कृष्ण के द्वारा गोप गोपिकाओ को आनन्दित करना, दूतवाक्य मे श्री कृष्ण के द्वारा सन्देश वाहक

बनकर सन्धि प्रस्ताव के माध्यम से किसी तरह युद्ध टालना, उरूभङग में एक भारतीय नारी के सम्मान की रक्षा का प्रण करना तथा दूत घटोत्कच मे पुत्र स्नेह एवं पत्नी से पुनर्मिलन आदि के द्वारा समाज में अपने दायित्वों का पूर्णरूपेण पालन करना आदि दर्शाया गया है।

VI. *पाणिनि अष्टाध्यायी और नटसूत्र*

संस्कृत के महान वैय्याकरण पाणिनि अपनी 'अष्टाध्यायी' के कारण अमर हैं। उन्होने अपनी अद्भुत प्रतिभा शक्ति का परिचय संस्कृत जैसी विस्तृत भाषा को नियमित एवं संक्षिप्त करने मे दिया उनका समय "डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार 400 ई0पू0 500 ई0पू0 के मध्य है।"[1] व्याकरणशास्त्र के इतिहास मे पाणिनि, काव्यायन, और पतञ्जलि को मुनित्रय के नाम से स्मरण किया जाता है।

अष्टाध्यायी मे 4 हजार सूत्र है। इसका विभाजन आठ अध्यायों मे किया गया है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद है। प्रथम अध्याय में व्याकरण सम्बन्धी संज्ञाओं तथा परिभाषाओं की विवेचना, दूसरे में समास और कारक प्रकरण हैं। तीसरे और आठवें अध्याय में कृन्दन का विशद विवेचन है। चतुर्थ और पंचम मे स्त्री प्रत्यय और तद्धित प्रकरण है। छठे–सातवें में सन्धि, आदेश और स्वर प्रक्रिया से सम्बन्धित विस्तृत और प्रौढ़ विवरण है। पाणिनि को संस्कृत भाषा के बृहद रूप को सूत्रबद्ध करके उसका व्यवस्थित व्याकरण प्रस्तुत करना था। उन्होंने छोटे–छोटे, अर्थ–गौरव से पूर्ण सूत्र रखे। उनका ध्यान संक्षेप की ओर था उन्हें व्याकरण के प्रत्येक अंग का रहस्य सूक्ष्म रूप से ज्ञात था और वे प्रत्येक नियम को संक्षिप्त करके प्रस्तुत करना चाहते थे। उन्होने संक्षेप करने के लिये प्रत्याहार विधि को अपनाया। प्रत्याहार का प्रथम अक्षर हल् या इत्संज्ञक नही होना चाहिये और दूसरा वर्ण निश्चित रूप से हल् रहता है। इन प्रत्याहारों का निर्माण 14 माहेश्वर सूत्रों के आधार पर होता है; यथा अक् प्रत्याहार के अन्तर्गत अ, इ, उ, ऋ और लृ वर्णों की गणना होती है। चौदह माहेश्वर सूत्रों से कुल 42 प्रत्याहार बनते है। चौदह माहेश्वर सूत्र इस प्रकार

---

1. पाणिनि कालीन भारत वर्ष – डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल – पृ0 464

है–

उ इ उ ण्। 1। ऋ लृ क्। 2। ए ओ ङ। 3। ए ओ च्। 4। ह्ा ब र ट्। 5। ल ण्। 6। अ म ङ ण न म्। 7। झ भ ञ्। 8। ध ढ़ ध प। 9। ज ब ग ड द श्। 10। ख फ छ ठ थ च ट त व्। 11। क प य्। 12। श ष स् र। 13। ह ल्। 14।

पाणिनि ने संक्षिप्तीकरण की प्रत्याहार के अतिरिक्त जो अन्य विधियाँ अपनायीं वे इस प्रकार है–

1. गण
2. अनुबन्ध या इत्संज्ञा।
3. अनुवृत्ति या मण्डूकप्लुप्ति न्याय।
4. संज्ञाएँ तथा परिभाषाएँ, यथा वृद्धि, सम्प्रसारण, संयोग लोप, आदेश, आगम।
5. संधि सम्बन्धी परिभाषाएँ यथा एकादेश, पररूप, पूर्वरूप और प्रकृतिभाव।

_अष्टाध्यायी के वार्तिककार :-_

वररूचि कात्यायन का समय 400 ई0पू0 से 300 ई0पू0 के बीच माना जाता है। इनका दूसरा लोकप्रिय नाम वररूचि है। इन्होने वार्तिको की रचना की। इसके 4000 वार्तिक है जिनमे पाणिनि के 1250 सूत्रों की आलोचनात्मक व्याख्या की गई है। इन्होंने वाजसनेयी प्रातिशाख्य की रचना भी की। पाणिनि के सूत्रों की समीक्षा मे वररूचि से कुछ भूले भी हुई हैं जिनका उल्लेख पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य मे किया है।

महाभाष्य मे पतञ्जलि ने काव्यायन के अतिरिक्त छः अन्य वार्तिककारों के नाम दिये हैं वे इस प्रकार है– भारद्वाज, सुनाग, क्रोष्टा, वाडव, व्याघ्रभूति, वैयाध्रपद।

वार्तिकों के भाष्य :-

पाणिनि की अष्टाध्यायी पर लिखे गये वार्तिको के भाष्य हुए। इन वार्तिक–भाष्यों का पता हमे महाभाष्य से चलता है उपरोक्त आठों वार्तिककारों पर भाष्य लिखे गये। भाष्यकारों ने अपने सभी भाष्यों में दुरूहता से सरलता की ओर तथा अज्ञात से ज्ञात की ओर की विधियाँ अपनायी है।

नट सूत्र 4। 3। 129 में जिस नाट्य का उल्लेख है, वह भी नटों से सम्बन्धित कोई ग्रंथ था। काशिका में लिखा है उस नाट्य ग्रन्थ की आम्नाय या छन्दः जैसी प्रतिष्ठा थी (चरणाद् धर्माम्नाययोः तत् साहचर्यात् नट् शब्दादपि धर्माम्नाययोरेव भवति)। शिलाली और कृशाश्व आचार्यों के चरणों में नटसूत्रों को जो विकास हुआ था वह प्रतिष्ठा में किसी आम्नाय ग्रंथ से कम न था (4/3/110–111) भरत के नाटयशास्त्र में नटों को शैलालक कहा गया है। पाणिनि ने उन्हें शैलालिनः कहा है। भारतवर्ष की यह प्रथा है कि कोई भी महत्वपूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थ सर्वथालुप्त न होकर पीछे के ग्रंथ में विलीन हो जाता था। इस साहित्यिक प्रथा को प्रतिसंस्कार कहते थे।

सम्भावना यही है कि शिलालिन् के नटसूत्रों की सामग्री वर्तमान नाट्यशास्त्र में परिग्रहीत कर ली गई। उस विषय का अध्ययन ऋग्वेद के चरण के अन्तर्गत आरम्भ हुआ था। शिलालि–चरण के अन्तर्गत एक ब्राह्मण ग्रन्थ का भी विकास हुआ था, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में उसे शैलालि ब्राम्हण कहा गया है (6/4/7)। किसी समय जिस नाट्य विद्या का इतना सम्मानित पद था, कालान्तर में उसका सामाजिक ह्रास होने लगा। कहा पाणिनि के समय में या उनसे पूर्व नट सूत्रों को वैदिक चरण में स्थान मिला था और कहाँ पतंजलि उसे नियमपूर्वक अध्ययन के क्षेत्र से बहिर्भूत मानते है! न तो अध्यापन कराने वाले नटों को 'आख्याता' गुरू माना जाता था और न उनके अध्यापन का

उपयोग ही[1] (आख्यातोपयोगे 1/4/29) सूत्र 3/2/21। में पाणिनि ने नान्दीकर का उल्लेख किया है। नाटक के आरम्भ में नान्दी पाठ करने वाले के लिये यह संज्ञा प्रयुक्त होती थी।

---

1. भाष्य- उपयोग इतिकिमर्थम्? नटस्य श्रृणोति, ग्रन्थिकस्य श्रृणोति। उपयोग इत्युच्चमानेडप्यल प्राप्नोति, एषोडप्युपयोगः। आतश्च उपयोगे। यदारश्भकाः रंग गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामो ग्रन्थिकस्य श्रोष्यामः। एवं तर्हिं उपयोग इत्पुच्यते। सर्वश्र्चोपयोगः तत्र प्रकर्षगति विंज्ञास्यते, साधीयो य उपयोग इति? कश्र्च साधीयः यो ग्रन्थार्थयोः अथोपयोगः को भवितुमर्हति यो नियमपूर्वकः तदयथा उपयुक्ता माणवका इच्युचन्ते य एते नियम पूर्वक मधीतवन्तो भवन्ति।

VII . *नाट्यशास्त्र व भरतमुनि*

भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ही संस्कृत नाट्यशास्त्र का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है। भरत मुनि से पूर्व तीन प्रमुख नाट्य शास्त्रियों का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम ये है– शिलालिन, कृशाश्व, और कोहल। नाट्य शास्त्र एक विशाल ग्रन्थ है जिसमें भरत मुनि ने प्राचीन समृद्ध परम्परा का प्रौढरूप प्रस्तुत किया है। पाणिनि के अष्टाध्यायी में नटसूत्र और भिक्षुसूत्र नाम से दो सूत्रों का और शिलालिन तथा कृशाश्व दो आचार्यों का उल्लेख किया है। अनुमान है कि भरत से पूर्व इन नाटसूत्रों का प्रचार रहा होगा किन्तु भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के प्रणयन के बाद और व्यापक प्रचार के कारण वे सूत्र लुप्त हो गये। डा0 एस0के0डे0 के अनुसार कोहल भरतमुनि के पूर्ववर्ती न होकर उनके शिष्य एवं परवर्ती थे।

नाट्यशास्त्र 37 अध्यायों का विशाल ग्रन्थ है। डा0 मनमोहन घोष का निष्कर्ष है कि यह अपने मूल रूप में 200 ई0 की रचना है। डॉ0 कीथ और पी0वी0 कामे भी नाट्यशास्त्र का यही समय स्वीकार करते है। नाट्यशास्त्र का प्रयोजन नाटककारों का मार्ग प्रशस्त करना ही नही वरन् अभिनेताओं तथा दर्शकों को भी शिक्षित करना है। उद्देश्य की व्यापकता के आधार पर यह रचना अत्यन्त व्यापक स्थिति पर दिखाई देती है। इसमें नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक पौराणिक कल्पना–प्रधान कथा है। इसमें प्रेक्षाग्रहों एवं अभिनय के प्रकारों का विशद वर्णन है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ नाटककार और अभिनेताओं दोनों के लिये समान रूप से उपयोगी है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की चार प्रमुख विशेषताये इस प्रकार है–

1. इसमें नाट्य–कला के अंग–प्रत्यंग का विवेचन समग्र रूप में प्रस्तुत किया है। भरतमुनि ने नाटक या रूपक को अनिवार्यतः दृश्य काव्य के रूप में स्वीकार किया है। उन्होने नाटक की सफलता शास्त्रीय नियमों के पालन के आधार पर निश्चित न करके प्रेक्षक की अनुकूल प्रतिक्रिया पर निश्चित की है।
2. भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाटक को जीवन से संयुक्त करके देखा है। उनका मत है कि जो मानव–स्वभाव, उसकी शक्तियों और दुर्बलताओं, उसके सुखों और तर्क शक्ति का अध्ययन कर चुका हो, केवल उसी को नाटक की रचना करनी चाहिये।
3. भरत ने नाटक मे जीवन की समग्रता को स्थान दिया है। उन्होंने नाटक को नानाभावों एवं अवस्थाओं से सम्पन्न लोकवृत का अनुकरण माना है।
4. भरत ने नाटक की प्रेषणीयता को विशेष महत्व दिया है। उनकी दृष्टि में आदर्श नाटक वह है जिसे साधारण ग्रामीण भी भली भाँति समझ सके।

नाट्यशास्त्र के आदिकालीन आचार्यों में शिलालिन, कृशाश्व भरत, कोहल धूर्तिल, शाण्डिल्य, वात्स्य, वादरायण आदि है। भरत के अतिरिक्त अन्य आचार्यो का उल्लेख मात्र मिलता है। जिन्होने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की व्याख्यायें प्रस्तुत की है। उनमें भट्टलोल्लट (9 वीं शती का पूर्वाद्ध), शंकुक (9 वीं शती का प्रारम्भ), भट्टनायक (9 वीं शती का उत्तरार्द्ध) तथा अभिनव गुप्त (नवम शताब्दी) ये चार प्रमुख है। इन्होने नाट्य शास्त्र के रससूत्र को ही विशेष रूप से विवेच्य बनाया और उसकी विशद व्याख्या की है।

नाट्यशास्त्र के उत्तरवर्ती आचार्यों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण दशरूपक के

लेखक धनञ्जय है। इनका समय 10 वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इन्होने नाट्यशास्त्र को संक्षेप में चार प्रकाशों मे प्रस्तुत किया है। पहले प्रकाश में अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं, सन्धियों अर्थोपक्षेपकों का वर्णन है। दूसरे प्रकाश में नायक–नायिका के लक्षण वृत्तियों आदि का वर्णन है। तीसरे प्रकाश में अंक, विधान, अंकों मे पात्रों की संख्या, रूपक के दस भेद आदि है। चतुर्थ प्रकाश में रस और उसके अंगो पर विचार किया है।

नाटक लोकवृत्त का अनुकरण होता है। इसमें तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन होता है। आचार्य भरतमुनि नाट्यवेद को सार्ववर्णिक कहते है। नाटक में विश्व की समस्त भावनाओं का प्रदर्शन तथा विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं का चित्रण होता है।

'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।[1]

नाना भावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्।।[2]

नाटक के द्वारा दर्शकों में उत्साह की बृद्धि होती है। अल्पज्ञ विशिष्ट बोध को प्राप्त कर लेता है तथा विद्वान और विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते है। यह धनियों के लिये मनोरंजनः दुःखितों के लिये आश्वासन, व्यावसायियों के लिये आय का साधन और व्याकुलों के लिये शान्तिप्रद होता है–

'अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि।[3]

ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्यच।

अर्थोपजीवनामर्थो धृतिरूद्विग्नचेतसाम्।[4]

---

1. नाट्यशास्त्र – भरतमुनि – 1/107
2. नाट्यशास्त्र – भरतमुनि – 1/112
3. नाट्यशास्त्र – भरतमुनि – 1/110
4. नाट्यशास्त्र – भरतमुनि – 1/111

नाटक दु:ख से व्याकुल श्रम से परिश्रान्त और शोक से सन्तप्त दीन–दुखियों के लियें समय पर विश्राम देने वाला तथा धर्म, यश, आयु का सम्वर्द्धक, हितकारी, बुद्धि बढ़ाने वाला, और लोकोपदेश जनक होता है।

'दु:खार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।[1]

विश्रान्ति जननं काले नाट्यभेतद् भविष्यति।

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्धनम्।

लोकोपदेशजननं नाट्यभेतद् भविष्यति।।"

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को कलाओं का विश्वकोष कहा जाता है। भरतमुनि कहते है ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग, और कर्म नही है जो नाट्य मे न दिखाई देता हो।

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं नसा विद्या न सा कला।

नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृष्यते।।'[2]

नव सारांशतः नाट्यशास्त्र की परम्परा में भरतमुनि का नाट्यशास्त्र आधार स्थानीय ग्रंथ है।

---

1. नाट्यशास्त्र – भरतमुनि – 1/114–115
2. नाट्यशास्त्र – भरतमुनि – 1/116

VIII. *भास का स्थितिकाल*

कतिपय विद्वानो को छोड़कर प्रायः संस्कृत कवियो ने अपने विषय मे कुछ नही लिखा है। फलतः इनका काल निर्धारण इतिहासकार विद्वानो के लिये एक चुनौतीपूर्ण कार्य रहा है। महाकवि भास भी अपने काल वंशादि के विषय मे मूक है। कुछ साक्ष्यो, बिन्दुओ को आधार मानकर विद्वानो ने भास का समय निर्धारित करने का श्रमसाध्य प्रयास किया है, जिनमे से कुछ निम्नलिखित है–

(1). इतना तो निःसदिग्ध है कि भास का कालिदास के पूर्ववर्ती है, क्यो कि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्रं' मे भास का आदर पूर्वक नामोल्लेख किया है– ***'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमान कवे कालिदासस्य कियायां कथं परिषदो बहुमानः।'***[1] प्रथितयशसां पद से ज्ञात होता है कि कालिदास के समय तक भास पर्याप्त प्रसिद्ध प्राप्त कर चुके थे। कालिदास का स्थित काल प्रथम शताब्दी ई0पू0 निश्चित सा हो चुका है अतः भास का समय ई0पू0 से 100 वर्ष पूर्व का माना जा सकता है।

(2). कौटिल्य ने भासकृत प्रतिज्ञायौगन्धरायण का एक श्लोक– ***'नव शरावं सलिलैः'***[2] अपने अर्थशास्त्र मे उद्धत किया है चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का मन्त्री था चन्द्रगुप्त मौर्य 321 सिंहासनारूढ हुआ। भास का समय चाणक्य से कम से कम 50 वर्ष पूर्व मानना चाहिये। फलतः भास का समय 370 ई0पू0 के बाद माना जा सकता है।

---

1. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास – डा0 कपिलदेव द्विवेदी – पृष्ठ – 283
2. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास – डा0 कपिलदेव द्विवेदी – 283

(3). शूद्रक का 'मृच्छकटिक' नाटक 'चारूदत्त' का ही परिवर्धित रूप माना जाता है। शूद्रक का समय 220–196 ई0पू0 निश्चित हो चुका है। अतः भास की स्थिति 220 ई0पू0 से पूर्व ठहरती है।

(4). प्रो0 मैक्डोनल पाणिनि का समय 400 ई0पू0 मानते है। अतः भास को इस समय के आस–पास का ही माना जा सकता है, क्योकि भास के नाटको में अपाणिनीय प्रयोग प्राप्त होते है। महामहोपाध्याय टी गणपति शास्त्री भी भास का समय 400 ई0पू0 स्वीकार करते है।

भास के नाटकों मे देश, काल, घटना का अन्वय सामान्यतः उचित रूप से हुआ है। भास की भाषा सरल और प्रभावोत्पादक है कालिदास की तरह उपमाओ की अधिकता पर नही जाते संवादो का चयन, समन्वय, एवं शैली भास के नाटको के प्राण है। छोटे–छोटे और सरल वाक्यो के माध्यम से दर्शको पर सीधा प्रभाव डालना भास की नाट्यकला का अपना वैशिष्ट्य है।

भास की शैली प्रसाद और माधुर्य गुण से प्रचुर रूप से परिपूर्ण है और प्रसंगतः ओजगुण से अन्वित हो जाती है। प्रसंग और पात्र के अनुरूप भाषा–शैली में यह विशिष्टता सहज ही स्फुट हो जाती है। अलंकारों का प्रयोग भी भास ने इतनी प्रचुरता से किया है कि वे कही पर भी आरोपित प्रतीत नही होते अपितु वास्तविक अलंकरण प्रतीत होते है।

भास का प्रकृति और देशकाल का अन्वीक्षण बड़ा सूक्ष्म तथा मार्मिक होता है। प्रातः काल ही सूर्योदय से प्राकृत पशुःपालक अपने–अपने पशुओ की सेवा मे संलग्न हो जाते है। गायो का खिलाना, पिलाना, दुहना, फिर चरने के लिये छोड़ना यह सामान्य धर्म है। इस सम्पूर्ण तथ्य को भास ने संकेत द्वारा केवल इतना ही कहा कि जगत की मातायें गायो को सूर्योदय से पूर्व प्रणाम करो। ये गाये अमृत से पूर्ण है। इस प्रकार पशु–पालन–प्रक्रिया का रूप इस

तरह से स्पष्ट रूप से चित्रित हो जाता है।

"अनुदितमात्रे सूर्ये प्रणमत सर्वादरेण शीर्षेण

नित्यं जगन्मातृणां गवाममृतपूर्णानाम् ।।"[1]

इसी प्रकार बालचरित के तृतीय अंक मे 'हल्लीसक' नृत्य का जो सजीव वर्णन है वह बड़ा आनन्दकारी है। गोपकुमारियो के सौन्दर्य और वेष–विन्यास का वर्णन कवि ने कितनी सजीवता से किया है–

'एताः प्रफुल्लकमलोत्पलवक्त्रनेत्रा[2]

गोपाङ्गना कनकचम्पकपुष्पगौराः।

नानाविरागवसना मधुरप्रलापाः

क्रीडन्ति वन्यकुसुमाकुलकेशहस्ताः ।।

रक्तैर्वेसुकडिण्डिमैः प्रमुदिताः केचित्रदन्तः स्थिताः।

घोषे जागरिमा गुरूप्रमुदिता हुम्भारशब्दाकुलैः

वृन्दारण्यगते समप्रमुदिता गायन्ति केचित् स्थिताः ।।

भास के नाटको का सूक्ष्म निरूपण करने पर यह पता चलता है कि उनके नाटको के वाक्य भाषा शैली आदि सब नपे तुले कुछ शब्दो मे होते है नाटकीय परम्परा का पूर्णतया परिपालन करते हुये भास कुछ ही संकेतो मे एक अत्यन्त गोपनीय रहस्य से परदा उठा देते है। यद्यपि भास कालिदास से पहले हैं। इसीलिए यह मानना समीचीन होगा कि भास की स्थितिकाल के बारे मे जो कुछ भी समीक्षको व लेखको ने लिखा है वह अपनी वास्तविकता पर खरासाबित होता है।

---

1. बालचरित – भास – 3/1
2. बालचरित – भास – 3/2–3

भास का प्राचीन ग्रन्थो मे उल्लेख

संस्कृत नाटको की अपनी एक अलग विशेषता है संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओ का मिश्रण। संस्कृत नाटक लोक व्यवहार को दृष्टि मे रखकर निर्मित हुये है। उसी युग मे सामान्य जनता के बीच मे प्राकृत ही सामान्य बोल चाल की भाषा थी, परन्तु संस्कृत समझने की योग्यता प्रायः सबमे पायी जाती थी नायक तथा उच्चवर्गीय पात्र संस्कृत का ही प्रयोग करते थे, परन्तु स्त्रियॉ तथा निम्नवर्गीय पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते थे।

''कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना मे सूत्रधार के मुख से स्पष्ट ही प्रश्न करवाया है कि प्रख्यात कीर्ति वाले भास, सौमिल्य, कविपुत्र आदि कवियो के प्रबन्धो को छोड़कर कालिदास की कृति का इतना अधिक आदर क्यो हो रहा है?''[1]

इस प्रश्न से अच्छी तरह ज्ञात होता है कि कालिदास के समय मे भास के नाटक अत्यन्त लोकप्रिय थे। कालिदास के परवर्ती कवियो ने भी भास के रूपको का अतिसय आदर किया। –''वाणभट्ट का कहना है कि भास ने सूत्रधार से आरम्भ किये गये भूमिका वाले पताका से सुशोभित मन्दिरो के समान अपने नाटको से खूब ही यश पाया।''[2]

''राजशेखर ने भी भास के नाटको की अग्निपरीक्षा तथा स्वप्नवासवदत्त के न जलने की बात लिखी है।''[3]

---

1. ''प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिकम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः (मालविकाग्निमित्रं)
2. ''सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैबर्हुभूमिकैः।
   सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव।।'' (हर्षचरित)
3. भासनाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
   स्वप्नवासदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः।।''

राजशेखर ने दशमी शती के आरम्भ मे भास के एक मान्य नाटक के नाम का उल्लेख किया है और यह उल्लेख बड़े ही महत्व का है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे सर्वसाधारण मे भास के नाटको का खूब प्रचार था। भास का एक विशाल नाटक–चक्र था।

स्वर्गीय पण्डित रामावतार शर्मा की सम्मति मे कुछ नाटको के कतिपय अंश भासरचित अवश्य हैं, किन्तु सभी नाटकों की रचना भास ने नही की अतः इन नाटको को भासकृत मानना उचित नही है।

"डाक्टर बार्नेट भी इन नाटको के रचयिता को प्रसिद्ध भास मानने को तैयार नही है।"[1]

कतिपय भारतीय विद्वान केरल देश मे ही इनकी उपलब्धि होने से कुछ संदेह कर रहे है। वे इसे भासनिर्मित न मानकर किसी केरलीय नाटककार की रचना समझ रहे है, परन्तु शंका का समाधान इस प्रकार सिद्ध हो जाता है।"[2]

यद्यपि 'स्वप्नवासवदत्ता' ही भास की एक मात्र रचना साधारण रीति से ज्ञात होती है, फिर भी प्राचीनकाल मे भास के एक से अधिक रूपको के होने का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। वाणभट्ट के पूर्वोद्धृत 'सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैः' पद्य मे प्रयुक्त 'बहुबचनान्तर्नाटकैः' पद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सातवी सदी मे भास के नाम से अनेक नाटक प्रचलित थे। राजशेखर ने तो भास के 'नाटकचक्र' का स्पष्टतः उल्लेख किया है। इन सब प्रमाणो पर दृष्टि रखते हुये स्पष्ट प्रतीत होता है कि भास के नाटको की प्राचीन मे खूब प्रसिद्ध थी और उनके नाटको का प्रचार सभी जगह था। यदि इस नाटक चक्र की

---

1 . Dr. Bulletin of School of oriental studies pp 233 and J.R. A.S. 1919p. 587.

2 . Thomas- Plays of Bhasa J.R.A.S. 1922 p. 79.

संस्कृत तथा प्राकृत भाषा पर उचित ध्यान दिया जाय, तो इसकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध हो जायेगी। विद्वानो का कहना है कि इसकी प्राकृत कालिदासीय प्राकृत से भी प्राचीन है।

भास की संस्कृत के विषय मे भी पूर्वोक्त सिद्धान्त अतिशय सत्यता से प्रयुक्त किया जा सकता है। इनमे ऐसे अपाणिनीय प्रयोग मिलते है जिनकी उपलब्धि केवल रामायण तथा महाभारत मे ही प्रचुरता से होती है अन्यत्र नही। इससे भास की प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

संस्कृत साहित्य मे कतिपय विशेषण भास के लिये प्राचीन कवियो ने व्यवहृत किये है। यदि इन विशेषणो के अनन्तशयन मे प्रकाशित ग्रन्थावली के कर्ता के विषय मे भी व्यवहृत होने का कारण मालूम हो तो इन्हे भासकृत मानने मे अधिक संशय न होगा।

संस्कृत नाटको का साधारण नियम है कि नान्दी के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है, परन्तु इन नाटकों मे नान्दी का सर्वथा अभाव है। ये नाटक नान्दी से आरम्भ न होकर सूत्रधार के द्वारा आरम्भ किये गये हैं। ये विशेषता भास के नाटको मे पायी जाती थी, जिसका स्पष्ट उल्लेख बाणभट्ट 'सूत्रधारकृतारम्भैः' विशेषण के द्वारा स्वयं किया है। यह विलक्षणता उन्हें संस्कृत के अन्य नाटकों से पृथक करती है। इसका इन रूपको मे पाया भास की रचना होने का स्पष्ट प्रमाण है।

"जयदेव ने भास को कविता कामनी का ह्रास माना है।"[1] इस विशेषण से हास्यरस के वर्णन मे भास की प्रवीणता प्रतीत होती है। उपलब्ध नाटको मे भी हास्य रस के प्रसंग अच्छे ढंग से दिखलाये गये है। इनमें हास्य के उद्धत

1. 'भासो ह्रासः कविकुलगुरूः कालिदासो विलासः।।
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय"।। (प्रसन्नराघव)

तथा सुकुमार दोनों रूपों का समुचित वर्णन मिलता है। कालिदास के ग्रन्थो मे केवल सुकुमार हास्य के ही दर्शन होते है, परन्तु उद्धत हास्य की प्रतिमा तो केवल इन नाटको मे ही दीख पडती है। अतः जयदेव का कथन इन नाटको के कर्ता के विषय मे भी पूरे तौर से घटता है। अतएव विद्वानो को इन प्रमाणो के आधार पर इन नाटको को भासकृत मानने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही की इसी प्रकार भास की प्राचीन ग्रन्थो मे उपस्थित का उल्लेख सिद्ध होता है।

भास के नाटको मे संस्कृत के अनेक आर्ष प्रयोग मिलते है। जो इनकी प्राचीनता के स्पष्ट द्योतक है भास की प्राकृत कालिदास से पूर्ववर्तनी सिद्ध होती है तथा भास मे कालिदास के समान लालित्य तथा सौन्दर्य का अभाव है परन्तु यह भी पूर्वभाविता के साथ प्राचीनता का द्योतक सिद्ध होता है इन तमाम मतो की समीक्षा के पश्चात् मेरी धारणा यही है कि भास की प्राचीन ग्रन्थो मे उपस्थित निर्विवाद है यहॉ तक कि कालिदास से प्राचीनतर मे है अतः इन्हे प्रथमशती से प्राचीन मानना ही उचित प्रतीत होता है।

भास की रचनाओ के सम्बन्ध मे विभिन्न मत

भास की रचनाओ के सम्बन्ध मे अन्य प्रमाण यहाॅ उपस्थित किये जाते है–

(1). नाट्यशास्त्र के अनुसार निर्मित नाटको की आरम्भिक भूमिका 'प्रस्तावना' कहलाती है और नाटक तथा कवि का नाम होना नितान्त आवश्यक होता है, परन्तु इन नाटको मे प्रस्तावना के स्थान पर 'आमुख' है और उसमे न नाटक का नाम है और न कवि का। यह विलक्षणता शास्त्रीय परम्परा के प्रचलित होने से निःसन्देह पहले की है।

(2). नाटको के आदि और अन्त प्रायः एक समान है। अनेक नाटको के आदि मे मुद्रालंकार के द्वारा पात्रो का अभिधान होता है और प्रत्येक नाटक मे भरतवाक्य 'इमाभपि न यहीं कृत्स्नां राजसिहः प्रशास्तु नः' ही है, या तत्सम अन्य कोई पद्य है।

(3). राजशेखर ने दशम शती के आरम्भ मे 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक को भासकृत सर्वोत्तम रूपक स्वयं बतलाया है और उपलब्ध नाटक क संविध ाानक द्वारा इस अभिधान की यथार्थता स्फुट रूप से प्रकट होती है।

(4). प्राचीन ग्रन्थकारो के द्वारा इन नाटको के कही नाम संकेतित है तो कहीं श्लोक उद्धृत किये गये हैं प्राचीनतम आलंकारिक भामह ने 'प्रतिज्ञायौग न्धरायण नाटक की मूल कथा की विस्तृत आलोचना ही नही की, प्रत्युत उसके एक प्राकृत पद्य को भी संस्कृत रूप से उद्धृत किया है। दण्डी ने 'लिम्पतीवतमोऽङ्गानि' पद्य के अलंकार की मीमांसा बडे पाण्डित्य के साथ की है और यह पद्य बालचरित तथा दरिद्रचारूदत्त दोनो नाटकों मे उपलब्ध होता है।

(5). आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वप्नवासवदत्ता का नाम तथा उसके एक पद्य को उद्धृत किया है। अभिनव भारती (1/7/09) मे 'क्वचित क्रीडा, यथा स्वप्नवासवदत्तायाम्' कहकर जो निर्देश किया है वह छपे ग्रन्थ के

द्वितीय अंक के नाटयनिर्देश मे मिलता है लोचन ने 'स्वप्न' नाटक से यह पद्य उदधृत किया है।

'सञ्चित–पक्षकपाटं नयनद्वारं स्वरूपतऽनेन।

उद्धाटय सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा।।''[1]

यह पद्य तो छपेग्रन्थ मे नही मिलता, परन्तु सम्भव है कि यह पद्य अभिनवगुप्त के समय मे मूलग्रन्थ मे उपलब्ध रहा होगा।

(6). इनमे भरत के नाटयशास्त्रीय सिद्धान्तो का पूर्णतया पालन न होना, निषिद्ध दृश्यो का भी रंगमंच पर अभिनय करना उस युग की ओर संकेत करते है जब भरत का मान्य ग्रन्थ अभी पूर्णतः प्रतिष्ठित नही हो सका था।

(7). इन नाटको का आधार रामायण, महाभारत तथा लोककथा है। उदयन से सम्बद्ध नाटक ऐतिहासिक घटनाओ के ऊपर आश्रित है। उदयन तथा दर्शक छठी शती वि0पू0 से सम्बद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति है। रामायण और महाभारत का समय भी छठी शती के आसपास है। इससे स्पष्ट है कि इन नाटको के रचनाकाल के लिये छठी शती वि0पू0 अपरितन अवधि है।

(8). प्रतिमा नाटक मे उल्लिखित विधाओ का काल षष्ठ शतक वि0पू0 से प्राचीनतर है।–''मानवीय धर्मशास्त्र (वर्तमान मनुस्मृति मनुस्मृति का मूलरूप) धर्मसूत्रकार गौतम के द्वारा निर्दिष्ट होने से छठी शती वि0पू0 से प्राचीनतर है। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र महाभारत मे निर्दिष्ट है और कौटिल्य के द्वारा अर्थशास्त्र मे बहुशः स्वीकृत है। मेघातिथि का न्यायशास्त्र मेघातिथि–रचित मनुस्मृति भाष्य नही है, प्रत्युत गौतम

---

1. स्वप्नवासवदत्ता - भास - पृष्ठ - 40

रचित प्राचीन न्यायशास्त्र है। माहेश्वर योगशास्त्र पातंजल योगशास्त्र से प्राचीन शैवसम्प्रदायानुसार कोई पुराना योगशास्त्र है। पाशुपत योग पातंजल योग से अनेक सिद्धान्तो मे पार्थक्य रखने वाला एक प्राचीन योगसम्प्रदाय है जिसका उल्लेख पुराणो मे विशेषतः शिवपुराण मे बहुशः किया गया है। 'प्राचेतस–श्राद्धकल्प' का अभी तक परिचय नही मिलता।"[1]

(9). बाणभट्ट (7वीं शती) ने भास के नाटकचक्र की विशिष्टता का पूरा परिचय दिया है।

(10). वामन (9वी शती) ने अपनी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति मे व्याजोक्ति के उदाहरण मे यह पद्य उद्धृत किया है–

'शरच्चन्द्रांशुगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम्।।'[2]

यह पद्य स्वप्नवासवदत्ता (4/3) मे मिलता है। केवल 'चन्द्रांशु' के स्थान पर 'शशांक' तथा 'कृतं' के स्थान पर 'मम' मिलता है। वामन ने चारूदत्त (1/2) तथा प्रतिज्ञा (4/2) के भी पद्यों का उद्धरण अपने ग्रन्थ (4/1/3, 5/2/13) मे किया है।

(11). शूद्रक ने अपने मृच्छकटिक का निर्माण भास के चारूदत्त नाटक के आधार पर ही किया है। दोनो की समानता आश्चर्य–जनक तथा व्यापक है।

(12). अश्वघोषं (द्वितीय शतक) ने अपने 'बुद्धचरित' (12/60) मे यह श्लोक लिखा है–

---

1. यो काश्यपगोत्रोऽस्मि, साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रम्, माहेश्वरं योगशास्त्रम्, वार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।
(भरतमुनि नाट्यशास्त्र)

2. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति– वामन– 4/3/25

''काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशं भूमिं खनन् विन्दति चापि तोयम्।
निर्बन्धिनः किञ्चन नास्त्यसाध्यं न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम्।।''[1]

जो भास के प्रतिज्ञा—नाटक (1/98) से शब्दतः तथा अर्थतः साम्य रखता है।

(13). कालिदास का निर्देश प्रकट करता है कि उनके समय मे भास एक नितान्त लब्धप्रतिष्ठ नाटककार थे और इसी से दोनो के नाटको में अनेक बातों मे समानता मिलती है।

(14). कौटिल्य के अर्थशास्त्र (10/3) मे श्लोक उद्धृत है—'तदीहश्लौकौ भवतः' कहकर। इनमे से दूसरा श्लोक प्रतिज्ञा (4/2) मे भी उपलब्ध है जिसमे शूरों को युद्ध के लिये प्रोत्साहित करने का प्रसंग है।—

'नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णसुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद् यो भर्तपिण्डस्य कृते न युध्येत्।।''[2]

कौटिल्य ने इस पद्य को अपने प्रसंग के लिये बहुत ही उपयुक्त पाया और इसीलिए संभावतः भास से ही उद्धृत किया। यदि यह पद्य किसी स्मृतिग्रन्थ का होता, तो वे अवश्य ही इसके पूर्व 'इतिस्मृतौ' लिखते।

भास के नाटक मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रो का सूक्ष्मता से अंकन करते है कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। इसीलिए उनके नाटको मे विविधता पारदर्शिता, बहुलता, देखने को मिलती है उनके नाटको मे सभी नाटकीय रूप है जिसका संकेत कामसूत्र मे मिलता है भास ने अपने नाटको मे नाटक के तत्व, उपयोगिता सामाजिको की इच्छा, आदि का पूरा ध्यान रखा है कुछ नाटक जैसे स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायोगन्धरायण, आदि पूर्ण विकसित नाटक है परन्तु उरूभंग, दूतवाक्य, घटोत्कच, कर्णभार आदि एक ही अंक के नाटक है जो

---

1. बुद्धचरितम्- अश्वघोष- 2/60
2. अर्थशास्त्र- कौटिल्य - 4/2

रंगमंच की दृष्टि से पूर्णतया उपयोगी है साथ ही संवाद छोटे एवं प्रभावशाली है जो दर्शको की भावहीनता का कारण नही बनते क्यों कि लम्बे, चौडे संवादों से दर्शक ऊब से जाते है। भास के इन नाटकों मे ऐसा कुछ नहीं है इससे ये आभास होता है कि भास संवादतत्व के मर्मज्ञ हैं।

भास की रचनाओं के सम्बन्ध में जितने भी मत हैं सब मे भिन्नता पायी जाती है परन्तु कालिदास से पूर्व होने का प्रमाण सिद्ध करते है कि उन्हे पहली शती या चौथी शती के बीच का होना चाहिये। प्रायः संस्कृत कवियो की ये विशेषता रही है कि उन्होंने अपने बारे मे कोई भी उल्लेख अपनी रचनाओं मे नही दिया अगर कही दिया भी है तो अत्यन्त सूक्ष्म संकेत दिया है जिसका विद्वानो ने अपने अपने ढंग से विश्लेषण किया है इसलिये भास के भी बारे मे निश्चित काल, कार्यक्षेत्र, साहित्यिक गतिविधि, आदि का निर्धारण करना बड़ा कठिन है।

कुछ भी हो भास एक कुशाग्रबुद्धि, आगमविद् सैधान्तिक निरूपण, तथा नाटक विद्या के श्रेष्ठ ज्ञाता है, भास के नाटकों मे रूपकों की भी प्रधानता है, इसी लिये भास के रूपक शास्त्र की दृष्टि से सरल तथा अभिनेय है। रामायण कालीन नाटको मे भास ने ज्यादा नवीनता नही दिखाई ये नाटक यथावत घटना प्रधान है। परन्तु सभी नाटकीय तत्वों से युक्त है।

इस प्रकार मेरी दृष्टि से भास की सही प्राचीनता का सही निर्णय न होते हुये भी वह निर्विवाद एक उत्कृष्ट नाटककार है। उनके नाटको मे कही भी कोई कल्पना शक्ति दृष्टिगोचर नही होती अतः वह संस्कृत नाट्य साहित्य मे सदैव अस्मर्णीय रहेगे।

प्रथम अध्याय

भास के नाटकों में चित्रित भारतीय राजनीति

प्रथम अध्याय
भास के नाटकों मे चित्रित भारतीय राजनीति

भास एक समृद्ध नाटककार थे उनकी नाट्यशैली की अपनी एक विशिष्ट विलक्षणता है। कथानक पात्रचयन, देशकाल, स्थिति भास के नाटको मे जितनी भाषागत सम्पन्नता पाई जाती है उतनी अन्य नाटको मे देखने को नही मिलती भास को यदि हम नाट्य शैली सम्राट की संज्ञा दे तो कोई अत्युक्ति नही होगी इसके साथ साथ इनको दशवी शती का मानना मुझे युक्ति संगत प्रतीति नही होता। कालिदास से पूर्ववर्ती होने के साक्ष्य अधिकाधिक प्राप्त होते है। भास के नाटको मे राजनैतिक एवं सामाजिक चित्रण जितना उत्कृष्ट मिलता है उससे उनकी बौद्धिक विलक्षणता का मान होता है। मुख्यतः उनके नाटको के कथानक का आधार रामायण और महाभारत ही है। इसीलिये ये आवश्यक हो जाता है कि हमारे तत्कालीन भारत की संस्कृति, राजनीति, अर्थनीति, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र का भी विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। अतः हम यहॉ भास के नाटको की भौगोलिक सीमा विस्तार के साथ साथ, नदी, पहाड़, वन, जातियॉ, वन–जीव, खेती, सामाजिक स्तर, पशुपालन आदि का समुचित उल्लेख यहॉ प्रस्तुत करे।

1. राज्य-सीमा

भास ने अपने नाटकों में भूगोल का विवेचन किया है। ये सामग्री भारतीय इतिहास के लिये मूल्यवान है। राज्य सीमा की विस्तृत जानकारी पाणिनि ने भी अपने ग्रन्थ मे दी है। मध्य एशिया से लेकर कंबोज जनपद असम के सूरमस जनपद तक फैले हुये अनेक जनपदों का पुराणाभुवन कोषो की भॉति यहॉ मिलता है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य मे कोई भी प्राचीन ग्रन्थ

ऐसा नही है जिसमे भूगोल की सामग्री उतनी अधिक सुरक्षित हो जितनी अष्आध्यायी मे है।

तक्षशिला के दक्षिण–पूर्व मे भद्र जनपद (4/2/131) था जिसकी राजधानी स्यालकोट थी। भद्र देश के जनपद मे उशीनगर (4/2/118) और शिवि जनपद थे। जो वर्तमान मे पंजाब का उत्तर–पूर्वी जो चंबा से कॉगड़ा तक फैला हुआ है, ये प्राचीन त्रिगर्त देश था। यही के राजा शल्य थे जिनका उल्लेख भास के पञ्चरात्रम् नामक नाटक मे आया है–

'द्रोणश्च भीष्मश्च जयद्रथश्च शल्योऽङ्गराजः शकुनिः कृपश्च।

तेषां रथेत्कम्पचलत्पताकैर्भग्ना ध्वजैरेव वयं न बाणै।।'[1]

''महाकवि भास के कर्णभारम् नामक नाटक मे भी शल्य राज का वर्णन है जो महाभारत के युद्ध मे कर्ण के सारथी बने हुये थे–

'शल्यः– भोः कष्टं किं नु खल्विदम्।

कर्णः– शल्यराज! अलमलं विषादेन।'[2]

दक्षिण–पूर्वी पंजाब मे थानेश्वर–कैथल–करनाल–पानीपत का भू भाग भरत जनपद था। जिसका दूसरा नाम प्राच्य भरत (4/2/113) भी था, क्योकि यही से देश के उदीच्य और प्राच्य इन दो खंड़ो की सीमायें बॅट जाती थी।

दिल्ली–मेरठ का प्रदेश कुरू जनपद (4/1/172) कहलाता था। उसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। ''अष्टाध्यायी मे उसका रूप हस्तिनापुर–(4/2/101) है। जैसा कि महाभारत मे भी मिलता है– *'नगरात्हास्तिनपुरात'* [3]

---

1. पञ्चरात्रम् – भास– 2/11/79
2. कर्णभारम् – भास –1/16
3. अष्टाध्यायी – पाणिनि – 6/1/101

पंचरात्रम् एवं भास के अन्य रूपकों में राज्य–सीमा का उल्लेख है–

सर्वैरन्तःपुरैः सार्ध प्रीत्या प्राप्तेषु राजसु।
यज्ञो दुर्योधनस्यैष कुरूराजस्य वर्तते।।"[1]
'भ्रातृणां पैतृकं राज्यं दीयतामिति वञ्चना।
किं परं याचितैर्दतं बलात्कारेण तर्हतम्।।'[2]

'यतपुरा ते सभामध्ये राज्ये माने च धर्षिताः।
बलात्कारसमर्थैस्तैः किं रोषो धारितस्तदा।।"[3]

'वर्षेण वा वर्षशतेन तेषां।
त्वं पाण्डवानां कुरू संविभागम्।
तस्मात् प्रतिज्ञां कुरू वीर! सत्यां
सत्या प्रतिज्ञा हि सदा कुरूणाम्।।'[4]

'द्रोणः'– भो भो यज्ञमनुभवितुमागता राजानः। श्रृण्वन्तु श्रृण्वन्तु भवन्तः। इहात्रभवान् कुरूराज्ञो दुर्योधनः, न, न, न, मातुलसहितः, यदि पाण्डवानां प्रवृत्तिरूपनेतव्या, राज्यस्यार्ध प्रदास्यति किल, ननु पुत्र।[5]

'तेषां राज्यप्रदानार्थमनृतं कथ्यते यदि।
राज्यस्यार्ध प्रदास्यामि यावद् दृष्टे युधिष्ठिरे।।"[6]

---

1. पञ्चरात्रम् – भास – 1/2/3
2. पञ्चरात्रम् – भास – 1/35/36
3. पञ्चरात्रम् – भास – 1/37/38
4. पञ्चरात्रम् – भास – 1/49/51
5. पञ्चरात्रम् – भास – 1/56
6. पञ्चरात्रम् – भास – 3/21/153

'अग्निः कक्ष इवोत्त्सृष्टो दहत् कात्स्र्न्येन मेदिनीम्।
अस्य मे शासनं दीप्तं विषयान्तेऽवसीदर्ति।।''[1]

'वासुदेवः—सदृशमेतद् गान्धारीपुत्रस्य। अथ किमथकिम्। कुशलिनः सर्वे! भवतो राज्ये शरीरे बाह्याभ्यन्तरे कुशलमनामयं च दृष्ट्वा विज्ञापयन्ति[2] युधिष्ठिरादयः पाण्डवाः—

'विचित्रवीर्यो विषयी विपत्ति क्षयेण यातः पुनरम्बिकायाम्।
व्यासेन जातो धृतराष्ट्र एष लभेत राज्यं जनकः कथं ते।।''[3]

'राज्यं नाम नृपात्मजैः सहृदयैर्जित्वा रिपून् भुज्यते
तल्लोके न तु याच्यते न तु पुनर्दीनाय वा दीयते।
काङ्क्षा चेन्नृपतित्वमाप्तुमचिरात् कुर्वन्तु ते साहसं
स्वैरं वा प्रविशन्तु शान्तमतिभिर्जुष्टं शमायाश्रमम्।।'[4]

वसुदेवः— भो भो मधुरावासिनः! श्रृण्वन्तु श्रृण्वन्तु भवन्तः। अस्य खलु दैत्येन्द्रपुरार्गलोत्पाटनपटोः सर्वक्षत्रपराङ्भुखावलोकिनो वसुदेवसम्भवस्य वासुदेवस्य प्रसादात् पुनरधिगतराज्यस्योग्रसेनस्य शासनभिदानीम वधुष्यते।''[5]

विराटनगर, काशी, हिमप्रयाग, रत्नपुरी, सारस्वतनगर, पाञ्चाल, इन्द्रप्रस्थ,

---

1. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - भास - 2/11/63
2. दूतवाक्यम् - भास - 1/27
3. दूतवाक्यम् - भास - 1/22/29
4. दूतवाक्यम् - भास - 1/24/31
5. बालचरितम् - भास - 5/102

विदर्भ आदि नगर शामिल थे।

रामायण ऐसा महाकाव्य है जिसके पयान मे थोड़ी बहुत एकता है। महाभारत एक बहुत बड़ा प्राचीन संग्रह है यह दुनिया के सबसे मुख्य ग्रन्थों मे से एक है। रामायण मे सूर्यवंशी राजाओं का वंश वर्णन वर्णित है जिसमे दशरथ जिनकों चक्रवर्ती राजा कहॉ गया है जो अयोध्या के शासक थे उनकी राज्य सीमा सुदूर हिन्दमहासागर तक फैली थी। काशी, मथुरा, वृन्दावन, नैमिशारण्य आदि इसी राजधानी के अन्तर्गत आते थे।

इस प्रकार दोनो ग्रन्थों मे वर्णित कथानकों की राज्यसीमा अपनी अलग थी जिसके अन्तर्गत तमाम जनपद, ग्राम, नगर आदि आते है।
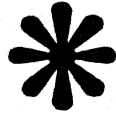
2. जनपद

राजनैतिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक भाषा की दृष्टि से प्रत्येक जनपद एक स्वाभाविक इकाई होता था। काशिकाकार ने गॉवों के समुदाय को जनपद कहा है–"ग्रामसमुदायो जनपदः" (4/2/1)। यहॉ ग्राम शब्द मे नगर का भी अंतर्भाव समझना चाहिए। वस्तुतः जनपद मे नगर और गॉव दोनो शामिल थे। जनपदो की राजनैतिक सीमाएँ बदलती रहती थी। किन्तु उनके सांस्कृतिक जीवन का प्रवाह न टूटता था।

जनपदो का जो विस्तार फैला हुआ था उसमे एक जनपद को दूसरे जनपद से अलग करने वाली नदी–पर्वत आदि की प्राकृतिक सीमाएँ थी एवं दो बड़े जनपदो के बीच मे छोटे छोटे जनपद भी सीमाएँ बनाते थे। काशिकाकार ने लिखा है कि एक जनपद की सीमा दूसरा जनपद ही हो सकता है, गॉव नही (जनपदतदवध्योश्च, 4/1/124 तदवधिरपि जनपद एव ग्रह्यते न ग्रामः)।

जो जनपद विस्तार मे बडे थे उनके कई हिस्सो के अलग–अलग नाम भी पड़ते थे। जैसे– पूर्वभद्र–अपरभद्र (4/2/108), पूर्वपंचाल, अपरपंचाल, (6/2/103)

1. मद्रजनपद –

मद्र जनपद बहुत बड़ा था। यह जनपद रावी से झेलम तक फैला हुआ था। बीच की चनाव नदी उसे दो हिस्सो मे बॉटती थी। स्वभावतः झेलम और चनाब के बीच का पच्छिमी भाग अपरभद्र (आजकल का गुजरात जिला) और चनाब एवं रावी के बीच का भाग पूर्वभद्र (आधुनिक स्यालकोट और गुजरांवाला जिले) कहलाता था। मद्र जनपद की राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट थी) वैसे मद्र ही वास्तविक पंजाब था। यही के राजा शल्य और अंग देश के

राजा कर्ण के झगड़े का वर्णन महाभारत के कर्णपर्व मे आया है जिसमे पंजाब के रहन सहन का वर्णन है। इसी प्रकार शल्य राज का वर्णन पञ्चरात्रम के द्वितीय अंक मे भी आया है।

"द्रोणश्च भीष्मश्च जयद्रथश्च शल्याऽङ्गराजः शकुनिः कृपश्च।

तेषां रथोत्कम्पचलत्पताकैर्भग्ना ध्वजैरेव वयं न बाणै।।"[1]

कर्णभारम् नाटक मे भी शल्य राजा का वर्णन है वो महाभारत के युद्ध मे कर्ण के सारथी बने हुये थे।

शल्यः—'भोः कष्टं किं नु खल्विदम्।

कर्णः—शल्यराज! अलमलं विषादेन।"[2]

2—पंचाल जनपद :—

इसी तरह पंचाल जनपद के तीन हिस्से थे—1.पूर्वपंचाल 2. अपरपंचाल 3. दक्षिणपंचाल (7/3/13) महाभारत के अनुसार दक्षिण और उत्तर पंचाल के बीच गंगा नदी सीमा थी। एटा—फर्रूखाबाद के जिले दक्षिण पंचाल थे। उत्तर पंचाल के भी पूर्व और अपर दो भाग थे, दोनो को राम गंगा नदी बॉटती थी।

जनपद राजनैतिक दृष्टि से दो प्रकार के हो गये थे। —एक संघ और दूसरे एक राज। संघ—शासनवाले जनपदो मे क्षत्रियगणो का राज्य था।

वे क्षत्रिय और जनपद एक नाम से पुकारे जाते थे, जैसा कि हम देख चुके है। इधर एक राज जनपदो मे, जहॉ एक व्यक्ति राजा होता था, स्थिति यह थी कि जनपद के राजा का नाम और जनपद के प्रत्येक

---

1. पञ्रात्रम् - भास - 2/11/79
2. कर्णभारम् - भास - 1/16

नागरिक क्षत्रिय के पुत्र का नाम एक सा होता था।[1] जैसे पंचाल क्षत्रिय का लड़का पांचाल और पंचाल जनपद का राज भी पांचाल कहलाता था।

प्राचीन साहित्य मे माद्री, पांचाली, गांधारी आदि जो नाम मिलते है वे जनपद स्वामी क्षत्रियों की लड़कियो के थे। ज्ञात होता है कि व्यवहार मे इन नामो का बहुत अधिक महत्व रहा होगा और लोग अपने नामो के आगे जनपद वाची विशेषण नियमपूर्वक लगाते रहे होगे, तभी पाणिनि ने विस्तार से इस प्रकार के नामो की व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान दिया है (4/1/168–173)। पञ्चरात्रम् नामक नाटक मे राजा विराट अभिमन्यु के पकड़े जाने पर कहते थे। एक तो वह युधिष्ठिर का पुत्र है, दूसरे हमारे पुत्र की अवस्था का है। क्योकि दूर से दुपद के साथ हमारा कुलक्रमागत सम्बन्ध है अतः वह हमारा नाती होता है। इतना ही नही मै कन्या का पिता हूँ, हो सकता है वह निकट भविष्य मे हमारा दामाद बने यहॉ पर द्रुपद शब्द का प्रयोग जनपद वाची विशेषण है।

'पुत्रो ह्येष युधिष्ठिस्य तु वयस्तुल्यं हि नः सूनना
सम्बन्धो द्रुपदेन नः कुलगतो नप्ता हि तस्मादभवेत्।
जामातृत्वमदूरतोऽपि च भवेत् कन्यापितृत्वं हि नः
पूजार्होऽप्यतिथिर्भवेत् स्वविमवैरिष्टा हि नः पाण्डवाः।।"[2]

---

1. जनपदसमानशब्दात् क्षत्रियादञ् (4/1/168) जनपद का नाम और क्षत्रिय का नाम एक हो तो उस क्षत्रिय से अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। इस पर कात्यायन का वार्तिक है क्षत्रिय समानशब्दाजनपदातस्य राजनि अपत्यवत्, अर्थात जनपद और क्षत्रिय का एक सा नाम हो तो राजा के लिए भी वही प्रत्यय होना चाहिए जो अपत्य के लिए होता था।
2. पञ्चरात्रम् – भास – 2/39/106

पञ्चरात्रम् नाटक मे ही युधिष्ठिर पाञ्चाली के बारे मे कहते है कि आज मेरा जमीन पर पत्ते बिछाकर सोना, राज्यच्युत होना, द्रोपदी का केशाम्बराकर्षण, वेष बदलकर दूसरे के घर मे आश्रय लेना, यह सभी प्रशंसनीय है। द्रोपदी शब्द जनपद वाची विशेषण है जिससे ये ज्ञात होता है कि वो पाञ्चाल नरेश की पुत्री है।

"अद्येदानीं पर्णशय्या च भूमौ राज्यभ्रंशो द्रोपदीघर्षणं वा।
वेषान्यत्वं संश्रितानां निवासः सर्वश्लाघ्यं यत् क्षमा ज्ञायते मे।।"[1]

भास के ऊरूभङ्गम् नामक नाटक मे भी द्रोपदी के बालों को घसीटने के कारण कुपित पाण्डवो में मध्यम भीमसेन तथा दुर्योधन के साथ युद्ध का वर्णन आया है यहाँ भी द्रोपदी शब्द से ये ज्ञात होता है कि पाञ्चाल जनपद का भी भास के नाटको मे जगह जगह उल्लेख है।

"अये एतत्खलु द्रोपदीकेशघर्षणावमर्षितस्य पाण्डवमध्यमस्य भीमसेनस्य भ्रातृशतबधक्रद्धस्य महाराजदुर्योधनस्य च द्वैपायनहलायुधकृष्णविदुरप्रमुखानां कुरूयदुकुलदैवतानां प्रत्यक्षं प्रवृन्तं गदायुद्धम्।"[2]

3. कंबोज जनपद :-

कम्बोज एक राज्य जनपद था यहाँ का राजा और क्षत्रियकुमार दोनों कंबोज कहलाते थे। कंबोज की ठीक पहिचान भारत के अन्तर पच्छिमी भूगोल के लिये महत्वपूर्ण है। गंधार, कपिश, बाल्हीक और कंबोज—इन चार महाजनपदों का एक चौगड्डा था। मध्य एशिया और अफगानिस्तान के नक्शे मे इनकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। कंबोज के दक्षिण मे पूर्व—पश्चिम फैली हुई हिंदुकुश की ऊँची पर्वत—श्रंखला कंबोज को भारत वर्ष से अलग करती

1. पञ्चरात्रम् - भास - 2/10/78
2. ऊरूभंगम - भास - 1/18

थी।

'महाभारत मे द्वयक्ष, त्र्यक्ष और ललाटाक्ष तीन जनपदो के नाम आते है।[1]

कर्णभारम् नामक नाटक मे कर्ण राजा शल्य से कहते है जिनसे युद्ध मे कभी निराशा नही की जा सकती ऐसे गुरूड के समान वेगवान् तथा शोभा वाले ये श्री सम्पन्न कंबोज जनपद मे उत्पन्न हुये घोड़े जिनकी रक्षा मुझे भी करनी चाहिये।

''इमे हि युद्धेष्वनिवर्तिताशा हयासुपर्णेन समानवेगाः।
श्रीमत्सु काम्बोजकुलेषु जाता, रक्षन्तु मां यद्यपि रक्षितव्यम्।।''[2]

''प्रोफेसर लार्से ने कंबोज की पहिचान काशगर के दक्षिणी प्रदेश से ठीक ही की थी।। किन्तु उस पर अधिक ध्यान नही दिया गया।[3]

4. गान्धार जनपद :-

इस जनपद का पुराना नाम गान्धारी एक सूत्र मे (4/1/69) दिया है। वहॉ के राजा और उनके पुत्र दोनों गांधार कहलाते थे। गंधार महाजनपद कुनड़ या काश्कर नदी से तक्षशिला तक फैला हुआ था। पश्चिमी गन्धार की राजधानी पुष्कलावती (यूनानी पिउकलाउती) थी जहॉ स्वात और काबुल नदी के संगम पर वर्तमान चारसद्दा है।

---

1. महाभारत - सभापर्व - 51/17
2. कर्णभारम् - भास - 1/13/17
3. **कम्बोज की ठीक पहचान के लिये मै श्री जयचन्द्र विद्यालंकार और श्री डा0 मोतीचन्द्र का आभारी हूँ (जयचन्द्र, भारतभूमि और उसके निवासी नामक पुस्तक के- पृष्ठ सं0 - 297,303, मोतीचन्द्र, उपायन पर्व, पृष्ठ - 43)**

'मार्कण्डेय पुराण मे 'पुष्कला:' जनपद का नाम आया है।'[1] जिसका नाम पुष्कलावती होना चाहिए। सुवास्तु और गौरी नदियों के बीच मे उड्डियान (प्राचीन उर्दि देश) था, जो गंधार का ही एक भाग था।

'यहॉ के बने हुये कंबल पाडुकंबल कहलाते थे जो पाणिनि के अनुसार रथ मढ़ने के काम आते थे।[2]

भास द्वारा रचित नाटक दूतवाक्यम् ये भी गान्धारराज का वर्णन आया है।

'एष: गान्धारराज:

अक्षाम् क्षिपन् स कितव: प्रहसन् सगर्व
सङ्कोचयन्निव मुदं द्विषतां स्वकीर्त्या।
स्वैरासनो द्रुपदराजसुतां रूदन्तीं
काक्षेण पश्यति लिखव्यभिखं नयज्ञ:।।''[3]

दूतवाक्यम् मे दुर्योधन सभी को अपने अपने आसनो मे बैठने के लिये कहता है। आचार्य यह कूर्मासन आपके लिये है इस पर विराजिये, पितामह यह आसन आपके लिये है इस पर आप बैठिये, मामा जी ये मृग का आसन (चर्मासन) है आप भी बैठिये। आर्य वैकर्ण एव आर्य वर्षदेव! आप भी बैठे। सभी क्षत्रिय गण धीरे धीरे आप लोग भी बैठ जाइये। फिर कहता है मेरे ग्यारह अक्षौहिणी सेना का समुदाय है तो इसका सेनापति होने योग्य कौन आप लोग क्या कहते है कि गान्धारराज शकुनि इसे बतलायेगे।

''उच्यताम्–अस्ति ममकादशा क्षौहिणीबलसमुदय:। अस्य क:

---

1. मार्कण्डेय पुराण – 57/39
2. अष्टाध्यायी – पाणिनि – 4/2/11
3. दूतवाक्यम् – भास – 1/12/17

सेनापतिर्भवतुमहैतीति। किमाहतुर्भवन्तौ–अत्रभवान् गान्धार राजो वक्ष्यतीति।[1]

भास के नाटक पञ्चरात्रम् मे भी गन्धारराज शकुनि का वर्णन आया है।

"द्रोणश्च भीष्मश्च जयद्रथश्च शल्योऽङ्गराजः शकुनिः कृपश्च।

तेषां रथोत्कम्पचलत्पताकैर्मग्ना ध्वजैरेव वयं न बाणैः।।"[2]

भास के दूतघटोत्कचम् नाटक मे धृतराष्ट्र गन्धारराज शकुनि से कहते है। कि सर्वदा जूआ खिलाने मे दक्ष रहकर तुमने निरन्तर जो–जो कर्म किये है उसके परिणाम स्वरूप इस कौरव की द्वेषाग्नि बालक अभिमन्यु की आहूति दी जाने पर भी शान्त नही हो पा रही है।

"शकुनिरेषव्याहरति। भोः शकुने।

त्वया हि यत्कृतं कर्म सततं द्यूतशालिना।

तत्कूलस्यास्य वैराग्निर्बालेष्वपि न शाम्यति।।"[3]

पञ्चरात्रम् नामक नाटक मे भी भास ने गान्धारराज शकुनि का वर्णन किया है। गान्धार राज शकुनि कुल गुरू द्रोण से कहते है कि अगर आप पॉच रात्रियो मे पाण्डवो का पता लगा ले तो आधा राज्य उन्हे दे देगे।

'द्रोण–वत्स! गान्धारराज! अभिधोयताम्।[4]

शकुनिः– यदि पञ्चरात्रेण पाण्डवानां प्रवृत्ति रूपनेतव्या, राज्यस्यार्ध प्रदास्यति कलशमानयतु भवानिदानीम्।

भास ने अपने महाभारत से सम्बन्धित नाटको मे जगह जगह गन्धार राज

---

1. दूतवाक्यम् - भास - 1/8
2. पञ्रात्रम् - भास - 2/11/79
3. दूतघटोत्कचम् - भास - 1/24/32
4. पञरात्रम् - भास - 1/50

शकुनि का वर्णन किया है लेकिन कही पर गन्धार जनपद का खुलकर वर्णन नही किया।

5. सिन्ध्धु जनपद :-

सिंधुनद के पूर्व मे सिंध सागर दुआब का पुराना नाम सिंधु था। सिंधु मे उत्पन्न मनुष्य सिन्धुक कहलाता था। (सिन्ध्वपकाराभ्यां कन् 4/3/32)। सिंधु जनपद मे जिसके पूर्वज रहते थे। उनको सैंधव कहा जाता था। जहॉ के लोग सत्तु खाने के अभ्यासी थे वह भाग सक्तु–सिंधु और जहॉ के लोग पान के शौकीन थे वह पान सिंधु कहलाने लगा।

'सक्तुप्रधानाःसिंधवःसक्तुसिन्धवः पानप्रधानाः सिन्धवः पानसिन्धवः'।[1]

मालूम होता है ये नाम उत्तरी और दक्षिणी सिंधु जनपद के लिये प्रयुक्त होते थे। उत्तरी सिंधु दुआब मे जिला डेरा इस्माईल खॉ की तरफ आज भी सक्तु वहॉ का जातीय भोजन है। स्त्रियॉ सक्तु की सौगात भेजती है और यात्रा मे यात्री सक्तु साथ बांधकर चलते है।

'महाभारत मे सिंधु के राजा जयद्रथ को क्षीरान्नभोजी कहा गया है।'[2]

जयप्रथ सौवीर (आधुनिक सिन्ध का उत्तरी भाग) और उसके ऊपर दक्षिण सिन्धु जनपद का राजा था। क्षीर–भोजन दक्षिण सिन्धु की विशेषता समझाा जाता था। सिन्धु जनपद मे मियॉवाली जिला दक्खिनी रास्ते का नाका था। सिन्धु नदी को पार करके प्राचीन गोमती के किनारे गोमल दर्रे से गजनी को रास्ता जाता था। व्यापारिक और सामरिक दृष्टि से भखर या भक्खर

---

1. पाणिनि कालीन भारतवर्ष – वासुदेवशरण अग्रवाल – पृ0 62
2. महाभारत – वेदव्यास – द्रोणपर्व – 76/18

महत्वपूर्ण घाट था।[1]

दुर्योधन गुरूद्रोण से कहता है कि मै समर्थन चाहता हूँ। तब वह कहते है भीष्म की कृपाचार्य की सिन्धु राज जयद्रथ की 'अश्वस्थामा' की विदुर की माता पिता की या किसी अन्य का बताओ किसका समर्थन चाहते हो

'भीष्मेन कर्णेन कृपेण केन किं सिन्धुराजेन जयद्रथेन।

किं द्रोणिनाऽऽहो विदुरेण सार्ध पित्रा स्वमात्रावदपुत्र! केन।।''[2]

दूतघटोत्कचम् मे जयद्रथ की सेना ने शत्रु की सेना पर आक्रमण कर पाण्डवो को बीच मे ही रोक दिया। भीष्म पितामह के मारे जाने से हम लोगो को जितना दुख प्राप्त हुआ था उसका बदला आज युद्ध मे उनके पुत्र को मारकर तीखे शोकरूपी बाण पाण्डवों के हृदय मे चुभाकर हम लोगों ने ले लिया ये प्रसंङ्ग दुःशासन गांधार राज शकुनि से कहता है।

''रूद्धाः पाण्डुसुता जयद्रथवलेनाक्रम्य शत्रोर्षलं

सौभद्रे बिनिपातिते शरशतक्षेपैद्वितीयेऽर्जुने।

प्राप्तैश्च व्यसनानि भीष्मपतनादस्माभिरद्याहवे

तीव्राः शोकशय कृताः खलु मनस्येषां सुतोत्सादनात्।।''[3]

भास ने अपने नाटक दूतघटोत्कचम् मे लिखा है शकुनि, दुर्योधन से सिन्धुराज जयद्रथ की प्रशंसा करते हुये कहते है कि आज जयद्रथ ने रण क्षेत्र मे ऐसा

---

1. महमूद गजनवी गजनी से सीधे गोमल लाघकर डेराइस्माइल खॉ के जरा नीचे भक्खर पर सिंध पार करता और इसी रास्ते से भारत में आया करता था। (पाणिनि कालीन भारतवर्ष- डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल) - पृष्ठ 63
2. पञ्रात्रम् - भास - 1/42/43
3. दूतघटोत्कचम् - भास - 1/12/18

महान पराक्रम प्रदर्शित किया जो अन्य राजाओं के लिये असम्भव था क्योकि उन्होने युद्ध मे पाण्डवों की सेना पर आक्रमण कर उनके पुत्र का तो वध किया ही साथ ही साथ उनका यश भी विनष्ट कर दिया।

"जयद्रथेनाद्य महत्कृतं रणे नृपैरसम्भावितमात्मपौरूषम्।
प्रसह्य तेषां यदनेन संयुगे समं सुतेनाप्रतिमं हृतं यशः।।"[1]

पञ्चरात्रम् नामक नाटक मे राजा विराट से भट कहता है कि गोहरण युद्ध के लिये अकेले दुर्योधन ही नही पृथ्वी के सभी राजा आये है। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, शल्य, कर्ण, शकुनि, और कृपाचार्य है उनके कम्पमान रथों के चञ्चल पताकों से ही हम लोग पराजित हो गये है बाणो से नही।

"द्रोणश्च भीष्मश्च जयद्रथश्च शल्योऽङ्गराजः शकुनिः कृपश्च।
तेषां रथोत्म्पचलत्पताकैर्भग्ना ध्वजैरेव वयं न बाणैः।।"[2]

पञ्चरात्रम् नामक नाटक मे राजा विराट से युद्ध के दृश्य को बतलाते हुये युधिष्ठिर (भगवान) कह रहे है कि परशुराम के बाणो से जिनका कवच भेदा न जा सका ऐसे भीष्म को, मन्त्र पूर्वक अस्त्रों का प्रयोग वाले आचार्य द्रोण को एवं कर्ण तथा जयद्रथ को तथा अन्यान्य नृपतियो को रथ से विमुख करने वाला कुमार क्या अभिमन्यु को अपने बाणो से पराभूत नही कर देगा। अथवा ऐसा हो सकता है अभिमन्यु के पिता अर्जुन से भयभीत होकर कुमार अभिमन्यु से मेल कर ले। अथवा अपने समान अवस्था देखकर उसकी रक्षाकर रहा हो।

---

1. दूतघटोत्कचम् - भास - 1/13/19
2. पञ्चरात्रम् - भास - 2/11/79

"भीष्मं रामशरैरभिन्नकवचं द्रोणं च मन्त्रायुर्ध
कृत्वा कर्णजयद्रथौ च विमुखौ शेषांश्च तांस्तान्न्तपान्।
सौभद्रं स्वशरैर्न धर्षयति किं भीतः पितुः पृत्ययात्
संसृष्टोऽपि वयस्यभावसदृशं तुल्यं वयो रक्षति।।"[1]

धृतराष्ट्र दुर्योधन से कहते है अनेक पुत्रो से सनाथा इस कुल मे सौ पुत्रो से भी अधिक प्यारी मात्र एक कन्या मुझे प्राप्त हुई जो अब तुम जैसे भाइयो के कारण वैधव्य प्राप्त करेगी।

दुर्योधनः— तात किं चात्र जयद्रथस्य !

धृतराष्टः— तेन किल वरविदग्धेन रूद्धाः पाण्डवाः।"[2]

भारतीय साहित्य मे सिन्धु सौवीर, यह दो जनपद नामो का जोडा प्रसिद्ध हो गया था। भौगोलिक दृष्टि से इन दोनो की सीमाएँ एक दूसरे से सटी हुई थी, जैसा कि सौवीर की पहिचान से ज्ञात होगा।

6. सौवीर जनपद :-

"वर्तमान काल के सिन्धु प्रान्त या सिन्धु नद के निचले काठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रोरूव (संस्कृत रौरूक) वर्तमान रोड़ी है।"[3] यहॉ पुराने शहर के भग्नावशेष है। रोड़ी के उस पार सिन्धु के दाहिने किनारे का प्रसिद्ध स्थान सक्खर है जिसका पुराना नाम 'शार्कर' था इसका उल्लेख चरक—संहिता मे भी मिलता है।

---

1. पञ्चरात्रम् - भास - 2/26/93
2. दूतघटोत्कचम् -भास - 1/23
3 "दंतपुरं कलिगानां अस्सकानांच पोतनम्।
माहिस्सती अवतीनां सौवीरानां च रोरूवम्।।"
पाणिनि कालीन भारतवर्ष - डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल - पृष्ठ 63

पाणिनि ने सौवीर जनपदो के नगरो के नाम बनाने का भी उल्लेख किया है (स्त्रीषु सौवीर साल्वप्राक्षु, 4/2/76) इसका उदाहरण काशिका मे दत्तामित्र की बसाई हुई दात्तामित्री' (दत्तामित्रेण निर्वृत्त) नगरी है। यह उदाहरण पाणिनि से बाद का है 'भारत के यूनानी राजा दिमित्रियस का संस्कृत नाम दत्तमित्र कहा जाता है।[1] उसने एक ओर सिन्धु तक का देश जीत लिया था। वैसे सौवीर जनपद के चार भाग कहे है– उपरला, बिचला, निचला और कच्छ। बिचला सौवीर ब्राह्मण जनपद था और निचला भाग सौवीरकूल था। चौथा भाग कच्छ स्वतंत्र जनपद था।

भास के नाटक अविमारक मे भूतिक महाराज से कहता है कि धूमकेतु नाम का एक महान असुर था, सर्व लोगो को मारने के लिये घूमता हुआ वह एक समय सौवीर देश मे आया और सौवीर राष्ट्र को नष्ट करने लगा।

"भूतिकः– श्रृणोतु स्वामी–अस्ति धूमकेतुर्नामासुरः। सर्वलोकमारणाय परिभ्रमन् स कदाचित् सौवीरराष्ट्रमुत्सादयितुं प्रवृन्तः।"

कुन्तिभोजः– अपूर्वा खलु कथा। ततस्ततः।"[2]

7. कुरू जनपद :-

कुरूराष्ट्र, कुरूक्षेत्र और कुरुजांगल–ये तीन इलाके एक दूसरे से सटे हुये थे। थानेश्वर–हस्तिनापुर–हिसार अथवा सरस्वती–यमुना–गंगा के बीच का प्रदेश इन तीन भौगोलिक भागों मे बटॉ हुआ था। गंगा–यमुना के बीच मे लगभग मेरठ कमिश्नरी का इलाका असली कुरूराष्ट्र था। इसकी राजधानी

---

1. इसी का नाम प्राकृत में दिमित्र या दिमित था। दात्तामित्री नगरी के निवासी दानदाता का उल्लेख नासिक गुफा के लेखों में 'दातामितीयक' नाम से हुआ है। (ल्यूडर्स कृत ब्राह्मी लेख सूची, सं0 1144
2. अविमारक – भास – 6/164

हस्तिनापुर थी।

पाणिनि ने इसे हास्तिनपुर कहा है। जैसा कि महाभारत मे भी मिलता है[1]– (नगरात् हास्तिनपुरात)[2] पाणिनि ने विशेष रूप से 'कुरूगार्हपतम्' रूप की सिद्धि की है।'[3] इस विशेष शब्द का अर्थ कुरू जनपद का वह धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण था जिसके अनुसार गृहस्थ–जीवन मे रहते हुए लोग सदाचार और धर्म का पूरा पालन करते थे।

भास के मध्यम व्यायोग नामक नाटक मे एक बृद्ध ब्राह्मण भीम से कहता है सुनिये मै वास्तव मे कुरूराज महाराज युधिष्ठिर से पहले निवासभूत इस कुरूजाङ्गल (कुरूक्षेत्र) के यूप ग्राम मे रहने वाला माठर ग्रोत्रीय कल्पशाखा का अध्वर्यु केशवदास नामक ब्राह्मण हूँ। उस मेरे गॉव के उत्तर दिशा मे उद्यामक नामक ग्राम मे मेरे मामा यज्ञबन्धु जो कौशिक सगोत्रीय है निवास करते है। उनके पुत्र के उपनयन संस्कार के लिये मै सपत्नीक जा रहा हूँ।

"बृद्धः– श्रूयताम। अहं खलृ कुरूराजेन युधिष्ठिरेणाधिष्ठित पूर्व कुरूजाङ्गले यूपग्रामवास्तव्यो माठरसगोत्रश्र्च कल्पशाखाध्वर्युः केशवदासो नाम ब्राह्मणः। तस्य ममोत्तरस्यां दिश्युद्यामक ग्रामवासी मातुलः कौशिकसगोत्रो यज्ञबन्धुर्नामास्ति। तस्य पुत्रोपनयनार्थ सकलत्रोऽस्मि प्रस्थितः।।"[4]

भास के नाटक दूतवाक्यम् मे वासुदेव कृष्ण जब दूत बनकर हस्तिनापुर के द्वार पर खडे है तब सुदर्शन कहता है। जल कहॉं है? भगवति आकाशगङ्गे।

---

1. अष्टाध्यायी - पाणिनि - 6/1/101
2. पूना संस्करण - पर्वसंग्रह पर्वश्लोक - 149
3. अष्टाध्यायी - पाणिनि - 6/2/42
4. मध्यमव्यायोग - भास - 1/35

आकाशगङ्गे! शीघ्र ही जल दो प्रसन्नता की बात है कि जल गिर रहा है (आचमन कर पास जाकर) भगवान् नारायण सबसे उत्कृष्ट बने रहे (ऐसा कहकर प्रणाम करता है)

"(विलोक्य) अये अयं भगवान् हास्तिनपुर द्वारे दूतसमुदाचारे णोपस्थितः। कुतः खल्वापः कुतः खल्वापः। भगवति आकाशगङ्गे! आपस्तावत्। हन्त स्रवति। (आचम्योपसृव्य) जयतु भगवान नारायणः (प्रणमति)[1]

भास कृत पञ्चरात्रम् मे राजा विराट भट से कहते है। अरे! भाई दुर्योधन का मेरे साथ क्या बैर है? ओः उसके यज्ञ में जो गया नहीं, जाता भी किस तरह कीचकों के विनाश से हम संतृप्त जो थे। अथवा परोक्ष कारण यह भी हो सकता है कि हमें पाण्डवो से स्नेह है। अस्तु सर्वथा लड़ना ही होगा। हस्तिनापुर मे निवास करने के कारण भगवान दुर्योधन के स्वभाव से परिचित होगे ही।

"राजा—भोः! किन्नु खलु दुर्योधनस्य मामन्तरेण वैरम। आ यज्ञमनुभवितुमनागत इति। कथमनुभवामि। कीचकानां विनाशेन वयमुन्नीतसन्तापाः संवृताः। अथवा परोक्षमणि पाण्डवानां स्निग्ध इति सर्वथा योद्धव्यम्। हास्तिनपुर निवासाच्छीलज्ञो भगवान दुर्योधनस्य[2]

पञ्चरात्रम् नाटक में भास ने कुरूराज दुर्योधन की यज्ञसमृद्धि विलक्षण है ऐसा कहाँ है।

"अहो कुरूराजस्य यज्ञसमृद्धिः।

सूत्रधार—भवतु, विज्ञातम्।"[3]

---

1. दूतवाक्यम् - भास - 1/49
2. पञ्चरात्रम - भास - 2/73
3. पञ्चरात्रम - भास - 1/3

मध्यम व्यायोग नामक नाटक मे बृद्ध भीम से कहता है। सुनिये मै वास्तव मे कुरूराज महाराज युधिष्ठिर से पहले निवासभूत इस कुरूजाङ्गल (कुरूक्षेत्र) के यूप ग्राम का रहने वाला माठर गोत्रीय कल्पशाखा का अध्वर्यु केशवदास नामक ब्राह्मण हूँ। उस मेरे गाँव के उत्तर दिशा मे उद्यामक नामक ग्राम मे मेरे मामा यज्ञबन्धु जो कौशिक सगोत्रीय है निवास करते है। उनके पुत्र के उपनयन संस्कार के लिये मैं सपत्नीक जा रहा हूँ।

"बृद्ध—श्रूयताम्—अहं खलु कुरूराजेन युधिष्ठिरेणाधिष्ठित पूर्व कुरूजाङ्गले यूपग्रामवास्तव्यो माठरसगोत्रश्र्च कल्पशाखा ध्वर्यु: केशवदासो नाम ब्राह्मणः। तस्य ममोत्तरस्यां दिश्युद्यामक ग्रामवासी मातुलः कौशिकसगोत्रो यज्ञबन्धुर्नामास्ति। तस्य पुत्रोपनयनार्थ सकलत्रोऽस्मि प्रस्थितः।"[1]

ऊरूभङ्गम् नामक नाटक मे अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है कि गदापात तथा केशाकेशि युद्ध मे भीमसेन ने तुम्हारी दोनों जंघाओ को तोड़ा ही साथ मे तुम्हारा स्वाभिमान भी नष्ट कर दिया।

"अश्वत्थामा—भोः कुरूराज

संयुगे पाण्डुपुत्रण गदाधातकचग्रहैः।

समूमरूद्रयेनाद्य दर्पोऽपि भवतो हतः।।"[2]

इस उद्धरण मे कुरूराज दुर्योधन के लिये कहाँ गया है जो कुरूक्षेत्र के राजा थे।

---

1. मध्यमव्यायोग - भास - 1/35
2. ऊरूभंग - भास - 1/62/67

8. मगध जनपद :-

गंगा के दक्षिण का प्रदेश मगध जनपद था जहाँ राजतंत्र शासन था।

भास कृत नाटक दूतवाक्यम् मे दुर्योधन दूत के रूप मे आये हुये श्रीकृष्ण से कहता है कि जब अपने दामाद (कंस) की मृत्यु से व्यथित हो क्रोध से भरे मगधेश्वर जरासंध ने तुम्हारे ऊपर आक्रमण किया उस समय भय से त्रस्त हो भागते हुये तुम्हारी यह शूरता कहाँ चली गई थी।

"जामातृनाशव्यसनाभितप्ते रोषाभिभूते मगधेश्वरेऽथ।
पलायमानस्य भयातुरस्य शौर्य तदेतत् क्व गतं तवासीत्।।"[1]

दूतघटोत्कचम् नामक नाटक मे घटोत्कच दुःशासन से कहता है कि जिन्होंने जरासन्ध के कारागार से बड़े–बड़े माना क्षत्रियों को जो अपने मान के भ्रष्ट हो जाने से सर्वथा दीन हो चुके थे मुक्त किया जिन्होने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे समस्त राजमण्डल के देखते देखते भीष्म के हाथ से अर्ध्य ग्रहण किया, जिनके श्री वृक्षरूप शय्या मे श्री लक्ष्मी अनुरक्त रहकर आज्ञा पालन के लिये तत्पर रहती है ऐसे राजेश्वर तुम्हारी दृष्टि मे राजा क्यों नहीं है।

"मुक्ता येन यदा पुरा नृपतयः प्रभ्रटमानोच्छया
येनार्ध्यं नृपमण्डलस्य भिषतो भीष्माग्रहस्ताद्धृतम्।
श्रीर्यस्याभिरता नियोगसुमुखो श्रीबृक्षशय्याग्रहे
श्लाध्यः पार्थिव पार्थिवस्तव कथं राजा न चक्रायुधः।।"[2]

---

1. दूतवाक्यम् – भास – 1/28/34
2. दूतघटोत्कचम् – भास – 1/41/50

9. कुन्ति जनपद :-

एकराज जनपदो में कुंति और अवंति की भी गणना थी। महाभारत के अनुसार कुंति अंवति जनपद का पडौसी था।[1] उस राज्य में से अश्र्व नदी बहती थी जो संभवतः चबंल की शाखा कुमारी नदी थी।[2] सहदेव ने अपनी दक्षिण की दिग्विजय में कुंति देश को जीता था। यमुना और चंबल के काँठे में प्राचीन कुतिं राष्ट्र (वर्तमान ग्वालियर राज्य) था। जो अब कोंतवार कहलाता है। पाणिनि ने कुंति–सुराष्ट्र, चिति–सुराष्ट्र और अवंति–अश्मक इन पाँच जनपदों के नाम लोकप्रसिद्ध भौगोलिक जोड़ों के रूप में लिखे है जो मध्यभारत और पच्छिमी भारत मे थे। कुन्ति का उल्लेख भाष्य मे सर्वत्र कुरू और अवन्ति के साथ हुआ है। जिससे इसका जनपद होना स्पष्ट है। भाष्य के अनुसार कुन्ति का राजा कौन्त्य तथा कुन्तिराज की पुत्री कुन्ती कहलाती थी।

महाकवि भास ने भी अपने नाटक कर्णभारम् मे कुन्तिराज की पुत्री कुन्ती का उल्लेख इस प्रकार किया है कि पूर्व मे कुन्ती से उत्पन्न होकर तदनन्तर राधेय के नाम से संसार मे प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डुपुत्र मेरे छोटे भाई है।

"पूर्व कुन्त्यां समुत्पन्नो राधेय इति विश्रुतः।
युधिष्ठिरादयस्ते मे यवीयांसस्तु पाण्डवाः।।"[3]

---

1. महाभारत - वनपर्व - 308/7
2. वृहत्संहिता - 10/15
3. कर्णभारम् - भास - 1/7/9

10. अवन्ति जनपद :-

यह मध्य भाग का प्रसिद्ध जनपद था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। 'अवन्ति जिसे अवन्तिका भी कहते थे भारत के पश्चिमी भाग मे नर्मदा के किनारे पर स्थित था। अवन्तिषु प्रतीच्या वै।''[1]

'रीज डेविड्स के अनुसार अवन्ति विध्यपर्वत के उत्तर मे तथा बम्बई–प्रदेश के उत्तर–पूर्व मे थी।[2]

आपके मत से दूसरी शताब्दी के अन्त तक यह प्रदेश अवन्ति कहा जाता रहा, किन्तु बाद में इसका नाम मालव पड़ गया।[3]

अवन्ति के दक्षिणी और उत्तरी दो भाग थे। दक्षिणी भाग की राजधानी माहिष्मती और उत्तरी भाग की उज्जयिनी थी, जो शिप्रा नदी के तट पर बसी थी। वर्तमान मालवा, निमाड़ और पास–पडोस का क्षेत्र इसके अन्तर्गत था। प्राचीन भारत में अवन्ति–क्षत्रिय बड़ी शक्तिशाली जाति के थे। अवन्ति के राजा को आवन्त्य और उसकी पुत्री को भाष्य मे अवन्ती कहा है।'[4]

महा जनपद–युग के सोलह जनपदों के नाम बौद्ध साहित्य मे प्रायः आते है। उनमें से मगध, काशि, कोसल, वृजि, कुरू, अश्मक, अवंति, गंधार और कंबोज, कंबोज से मगध तक और दक्षिण से अश्मक–अवंति तक का प्रदेश आ जाता है। राजनैतिक दृष्टि से पाणिनि के समय मे मगध, कलिंग, सूरमस (असम प्रांत) कोसल कुरू, पृव्यग्रन्थ (पंचाल) अश्मक शाल्वेय, गांधारि,

---

1. महाभारत - वनपर्व - 3/89
2. साम्स ऑफ दि ब्रदरेन - पृ0 107
3. बुद्धि0 इण्डि0 - पृ0 28
4. बुद्धि0 इण्डि0 - पृ0 4-1-170, पृ0 164 तथा 4-1-14, पृ0 37, 1-2-39 पृ0 548

साल्व, कंबोज अवंति कुंति एक राज शासन के आधीन थे।

इस प्रकार और भी आन्यन्न विदर्भ, शारस्वत, सिंधु, सौवीर, किष्किंधा (आधुनिक गोरखपुर) भद्र केकैय आदि जनपदों का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन दोनों से सम्बन्धित ये जनपद भास के समय स्थित थे और भास ने अपने नाटकों मे इनका उल्लेख किया है।
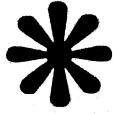
3. पर्वत

1. हिमालय :-

हिमालय के भूगोल से ही संबंधित दो महत्वपूर्ण नाम अंतर्गिर और उपगिरि थे। हिमालय की पच्छिम से पूर्व की ओर फैली हुई तीन श्रृङ्खलाएँ है। मैदानों की तरफ से सबसे पहले तराई की भूमि आती है। इस मैदान को नेपाल मे तराई, नैनीताल मे भाभर और देहरादून मे दून कहते है। इसकी ऊँचाई लगभग 1000 फुट से 2000 फुट तक है। हरिद्वार से देहरादून की चढ़ाई और छोटे टीले इसी के अंग है। हिमालय की इस उपत्यका या बहिःश्रृङ्खला का नाम उपगिरि था। देहरादून से केवल सात मील पर स्थित राजपुर से एकदम चढ़ाई आरम्भ हो जाती है। और सात मील के भीतर हम मंसूरी की 6500 फुट की ऊँचाई पर पहुँच जाते है। हिमालय की इस बीच की श्रृङ्खला में मंसूरी, नैनीताल, शिमला, धर्मशाला, श्रीनगर आदि स्थानों की चोटियाँ है। इसे पाली साहित्य में चुल्ल हिमवंत (अंग्रेजी मे 'लेसर हिमालय) कहा गया है। इसका प्राचीन नाम बहिर्गिर था। इससे ऊपर उठकर हिमालय की तीसरी श्रृङ्खला है जिसमें अठारह–बीस हजार से लेकर तीस हजार फुट तक की आकाश को छूने वाली चोटियाँ है। कांचनचंघा, गौरीशंकर, धवलगिरि, नन्दादेवी, नंगापर्वत आदि हिमालय के उन्तुंग गिरिश्रृङ्ग इस श्रृङ्खला मे है। इसे पाली साहित्य के भूगोल मे महा हिमवंत अंग्रेजी मे ग्रेट सेंटल हिमालय कहा गया है। इसी का प्राचीन संस्कृत नाम अंतिर्गिरि था।

"महाभारत में अर्जुन की दिग्विजय–यात्रा का वर्णन करते हुये कहा गया है कि उसने अंतर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि को जीता था।"[1]

---

1. महाभारत – सभापर्व – 27/3

महाकवि भास ने अपने नाटक बालचरित मे कहा है कि देवकी पुत्र श्री कृष्ण एकच्छत्र से चिह्नित हिमालय और विन्ध्य से आवेष्टित सागर पर्यन्त पृथ्वी पर शासन करे।

'इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्य कुण्डलाम्।

महामेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः।।''[1]

महाकवि भास ने यही बात अपने नाटक दूतवाक्यम् मे भी कही है।

'इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्य कुण्डलाम्।

महामेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः।।''[2]

महाकवि भास ने अपने नाटक मध्यम व्यायोग मे कहा है कि घटोत्कच भीम पर शैलकूट और गिरिकूट नामक पर्वत शिखर को उखाड़ कर प्रहार करता है।

'एतद् गिरिकूटमुत्पाट्य प्रहरामि।

शैलकूटं मयाक्षिप्तं प्राणनादाय यास्यति।।''[3]

पाणिनि मे बीच की श्रृङ्खला बहिर्गिरि का नाम न देकर केवल अंतर्गिरि और उपगिरि का ही नाम दिया है। ज्ञात होता है कि तराई की उपत्यका के लिये उपगिरि नाम था, और शेष हिमालय जिसमे उसकी नीची और ऊची चोटियॉ सम्मिलित थीं अंतर्गिरि (हिमालय का भीतरी प्रदेश) था। हिमालय पर जमने वाली बर्फ का अम्बार 'हिमानी' कहलाता था। श्रृगो पर जमी हुई बर्फ ग्रीष्म काल मे पिघलती है। जिससे नदियो मे पुर आता है। इसे 'हिमश्रथ' भी कहा जाता है यह हिमश्रथ हिमालय से निकलने वाली नदियो को सतत् जल

---

1. बालचरित - भास - 5/20/105
2. दूतवाक्यम् - भास - 1/56/63
3. मध्यमव्यायोग - भास - 1/47

प्रदान करता रहता है। इन नदियो मे गंगा का उल्लेख विशेषतः है।

2. अञ्जन पर्वत :-

किंशुलकागिरि जिसका पारद के अर्थ मे हिंगुल शब्द का प्रयोग मध्यकाल मे पाया जाता है। संभवतः लाल हिंगुल का उत्पत्ति स्थान होने के कारण यह स्थान किंशुलक कहलाया। वस्तुतः हिंगुलाज मे शको की नयना देवी का प्रसिद्ध मंदिर था, जिसकी मान्यता मुसलमान भी 'नानी' के नाम से करते है।

इससे आगे दूसरी बडी श्रृखला सुलेमान पर्वत की है। टोवा काकड़ और श्रीनगर के साथ उसकी तीन और चोटियॉ है वही पर त्रिककुत पर्वत था। जहॉ का प्रसिद्ध अञ्जन वैदिक काल से ही सारे पंजाब मे जाता था यही अञ्जनागिरि है।

'महाभारत के अनुसार पंजाब की गोरी स्त्रियॉ मनसिल के समान चमकीले अपांगयुक्त नेत्रो मे त्रिककुट् का अञ्जन डालती थी।'[1]

महाकवि भास ने अपने नाटक बालचरित मे भी अञ्जन पर्वत का इस प्रकार उल्लेख किया है।

'किं गर्जसे भुजगतो मम गोवृषेन्द्रः।

पातप्रवृद्धइव वार्षिककालमेघः।।

एहि क्षिपाभि धरणीतलमभ्युपेहि

वज्राहतस्तट इवाञ्जन पर्वतस्य।।''[2]

---

1. महाभारत - कर्णपर्व - 44/18
2. बालचरित - भास - 3/14/69

3. गोवर्धन पर्वत :-

गोवर्धन पर्वत की चर्चा आनुषंगिक रूप मे आयी है। प्राचीन काल मे नन्दयशोदा के द्वारा गोवर्धन पूजा का महत्व था। कहॉ जाता है भगवान कृष्ण के द्वारा इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन की पूजा करवाने पर इन्द्र रूष्ट हो गया और उसने प्रलय कालीन मेघो को जल वर्षाने का आदेश दे दिया। यह देखकर भगवान श्री कृष्ण ने समस्त वृजवासियो की रक्षा के लिये गोवर्धन पर्वत को अपनी कनिष्का उगली मे धारण किया था।

"गोवर्द्धनोद्धरणमप्रतिमप्रभावं
बाहुं सुरेश! तव मन्दरतुल्यसारम्।
का शक्तिरस्ति मम दग्धुमिमं सुवीर्यं
यं संश्रितारिन्नभुवनेश्वर ! सर्वलोकाः।।"[1]

महाकवि भास ने अपने नाटक बालचरित मे गोवर्धन पर्वत का उल्लेख किया है।

4. मन्दर पर्वत :-

यह एक विशाल वक्रतुलाकार पारसकर पर्वत है। यह गैरिकादि मिश्रित धातुओ से युक्त है प्राचीन काल मे देवताओ और दैत्यो के द्वारा समुद्रमंथन के लिये इस पर्वत को मथानी के रूप मे प्रयोग किया गया था। ऐसा शास्त्रो मे वर्णित है जिसमे रस्सी के रूप मे प्रयुक्त होने के लिये देवताओ और दैत्यो ने वासुकी नाग से निवेदन किया था।

महाकवि भास ने अपने नाटक ऊरूभ्ङ्गा मे मन्दर पर्वत का वर्णन करते हुये कहॉ है कि बलदेव जी कहते है कि जिसका श्री युक्त शरीर युद्ध के चंदन रूपी रक्त से अनुलिप्त होने के कारण शोभित हो रहा है, जो पृथ्वी पर पेट के

---

1. बालचरित - भास - 4/11/81

बल सरकने कारण धूलि से धूसरित भुजावाले बालक की भूमिका मे अपने को स्थित कर दिया है, जो इस समय अमृत मन्थन हो जाने के बाद देवता और असुरो द्वारा मंदर पर्वत से मुक्त अपने शरीर को समुद्रजल मे धीरे–धीरे खींचते हुये परिश्रान्त वासुकि नाग की भॉति दिखाई पड़ रहा है।

"श्रीमान् संयुगचन्दनेन रूधिरेणार्द्रानुलिप्तच्छवि–
भूर्ससंसर्पणरेणुपाटलभुजो बालवृतं ग्राहितः।
निर्वृत्तेऽमृतमन्थनने क्षितिधरान्मुक्तः सुरैः सासुरैः–
राकर्षन्निव भोगमर्णवजले श्रान्तीज्झितो वासुकिः।।"[1]

महाकवि भास ने ऊरूभङ्ग मे भी मन्दर पर्वत तथा उसकी कन्दराओ का वर्णन करते हुये कहॉ है।

"किं मेघा निनदन्ति वज्रपतनैश्चूर्णीकृताः पर्वता
निर्धातैस्तुमुलस्वनप्रतिभयैः किं दार्यते वा मही।
किं मुञ्चत्यनिलावधूतचपलक्षुब्धोर्मिमालाकुलं
शब्दं मन्दरकन्दरोदरदरीः संहत्य वा सागरः।।"[2]

महाकवि भास ने अपने नाटक दूतवाक्यम् मे भी मन्दर पर्वत का वर्णन किया है। वासुदेव से सुदर्शन कहते है कि मै अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिये क्या मेरू और मन्दर को उखाड़ फेकू अथवा सारे मकरालय (समुद्र को) संक्षुब्ध (मन्थन से मलीन अथवा चञ्चल) कर दूँ अथवा आकाश मण्डल से समस्त नक्षमण्डल को पृथ्वी पर गिरा दूँ। हे देव तम्हारी कृपा से मेरे लिये कुछ भी अशक्य नहीं है।

---

1. ऊरूभंगम् – भास – 1/29/33
2. ऊरूभंगम् – भास – 1/15/17

"किं मेरुमन्दरकुलं परिवर्तयामि
संक्षोभयामि सकलं मकरालयं वा।
नक्षत्रवंशमखिलं भुवि पातयामि
नाशक्यमस्ति मम देव ! तव प्रसादात्।।"[1]

5. विंध्य पर्वत :-

विन्ध्य की चर्चा भाष्य में आनुषंगिक रूप से ही आई है– कोई चाहे तो छोटी सी धान्य राशि को विन्ध्य कह सकता है। इससे स्पष्ट है कि कवि विन्ध्य की ऊँचाई से परिचित थे। इसीलिये, उन्होंने वर्धितक की उपमा हिमवान् से न देकर विन्ध्य से दी है।[2] स्कन्द पुराण मे इसे भारतवर्ष के मध्य मे स्थित और कुमारी खण्ड का दूरतम छोर बतलाया है। पार्जिटर के मत से पारियात्र वर्तमान भोपाल के पश्चिम मे स्थित विन्ध्य भाग तथा अरावली पर्वतों का प्राचीन नाम था।[3]

'पतंजलि काल मे विन्ध्य शब्द वर्तमान विन्ध्य पर्वत की उस श्रेणी के लिये प्रयुक्त होता था, जो नर्मदा और ताप्ती का उद्गम स्थल है और जिसे टालेमी ने ओइण्डन कहा है।

महाकवि भास ने अपने नाटक बालचरित मे विन्ध्य पर्वत का इस प्रकार उल्लेख किया है–

'इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्।
महामेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः।।"[4]

---

1. दूतवाक्यम् - भास - 1/44/50
2. मैकिंडिलः टालेमी - 2-3-50, पृ0 442
3. ला0 माउ0 ऑफ इण्डिया - पृ0 17-18
4. बालचरित - भास - 5/20/105

6. अन्य पर्वत :-

महाकवि भास ने उरूभङ्गम् नामक नाटक मे सुमेरू पर्वत का वर्णन इस प्रकार किया है गदा युद्ध मे जब दुर्योधन के द्वारा भीम पर गदा का तीव्र प्रहार किया और शत्रु के खून से लथपथ शरीर वाले गदा के प्रहार से फटे हुये जिसके मस्तक से रूधिर बह रहा है, पर्वत की चोटी के समान जिसके दोनो कंधे टूट फूट गये है– हार जनित बहते हुये घने रूधिर की धारा से जिसका वक्षः स्थल भीग गया है ऐसा यह भीम गदा के आघात से निकलते हुये रूधि र से आर्द्र एवं क्षतविक्षत व्रण युक्त होकर गैरिकादि धातु मिश्रित सलिल धारा से उपलिप्त पत्थरों वाले सुमेरू पहाड़ की शिला की भॉति सुशोभित हो रहा है।

'निभिन्नागृललाटवान्तरूधिरो भग्नांसंकूटद्वयः।
सान्द्रै निर्गलितैः प्रहाररूधिरैरार्द्रीकृतोरः स्थलः।।
भीमोभातिगदाभिधातरूधिररक्लिन्नावगाढब्रणः
शैलोमेरूरिवैष धातुसलिलासरोपदिग्धोपलः।।[1]

इसी प्रकार सीताहरण के बाद जब हनुमान जी द्वारा ब्राह्मण वेशधारण कर राम और लक्ष्मण का पूर्व परिचय प्राप्त कर संतुष्ट हो जाते है उस समय राम और सुग्रीव की मित्रता होने के पश्चात् बालि बध के सन्दर्भ मे ऋष्यमूक पर्वत का उल्लेख भास ने प्रतिमानाट्कम् मे किया है–

'सुग्रीवोभ्रंशितो राज्याद्भ्राता ज्येष्ठेन बालिना।
हृतदारो बसञ्छैले तुल्यदुःखेन मोक्षितः।।''[2]

यद्यपि शैल शब्द का ही प्रयोग आया है परन्तु उस समय बालि

---

1. ऊरूभंगम् - भास - 1/18/21
2. प्रतिमानाटकम् - भास - 6/10/193

ऋष्यमूक पर्वत पर ही रहता था। जहाँ उसने सुग्रीव का राज्य, पत्नी सहित छीन लिया था।

इसी प्रकार अविमारक के चतुर्थ अंक मे विद्याधर अपनी प्रिया से कहता है कि प्रातः काल मैने उत्तरकुरू मे व्यतीत किया, पुनः मानसरोवर मे स्नान किया, मन्दराचल की कन्दरा मे जवानी का सुखभोग किया, क्रीडा के लिए लुभाई आँखें हिमालय पर विचरती रहीं अब हम लोग मध्याह्नकाल के निद्रासुख का अनुभव मलय के चन्दन पर्वत पर करेगे।

'प्राक्सन्ध्या कुरूषून्तरेषु गमिता स्नातं पुनर्मानसे
भूयो मन्दरकन्दरान्तरतटेष्वामोदितं यौवनम्।
क्रीडार्थं हिमवद्गुहासु चरिता दृष्टिश्र्च संलोभिता
यास्यावो मलयस्य चन्दननगान्मध्याह्ननिद्रासुखान।।''[1]

महाकवि भास ने अपने नाटक ऊरूभङ्गम् मे अस्ताचल का वर्णन इस प्रकार किया है–

'मौलीनिपातचलकेशमयूखजालै गार्त्रैर्गदानिपतन क्षत शोणितार्दैः।
भाव्यस्तभस्तकशिलातलसंन्निविष्टः सन्ध्यावगाढ एव पश्र्चिमकाल सूर्यः।।[2]

इसी प्रकार बालचरित नामक नाटक मे क्रोञ्च पर्वत का उल्लेख महाकवि भास ने इस प्रकार किया है–

''अहं हि नीलः कलहस्य कर्ता सङ्ग्रामशूरो न पराङ्मुखश्र्च।
निहन्मि कंसं युधि दुर्विनीतं क्रौञ्च यथा शक्तिधरः प्रकृष्टः।।''

इसीप्रकार मलयपर्वत, उदयाचल पर्वत, ऋष्यमूक पर्वत, क्रौञ्च पर्वत, अस्ताचल पर्वत, हिमालय पर्वत, विंध्य पर्वत आदि का भी वर्णन नाटककार ने

1. अविमारक - भास - 4/10/105
2. ऊरूभंगम् - भास - 1/59/64

किया है जिससे ये स्पष्ट होता है कि उस काल मे ये सारे पर्वत अपने अस्तित्व मे थे, और भौगोलिक सीमा का ज्ञान नाटककार को भली भाँति था।

4. ग्राम :-

भास के नाटको का गहन अध्ययन करने के पश्चात इस तथ्य पर पहुँचते है कि नाटकों मे गाँव का वर्णन बहुत ही कम मिलता है कही कही पर गाँव के कुछ संकेतिक शब्द मिलते है– जैसे घोष, अग्नि, नन्दी, मात्रक देवमात्रक आदि प्रमुख है परन्तु विषय को दृष्टिकोण मे रखते हुये कुछ गाँव के बारे में यहाँ दिया जा रहा है।

क. घोष :-

कूलसूदस्थलकर्षाः संज्ञायाम्'–(6/2/129) अहीर ग्वालो का छोटा गाँव घोष कहलाता था। – कूल, सूद, स्थल और कर्ष काशिका के अनुसार ये चार उत्तरपद स्थानवाची नामो के अन्तर्गत आते थे उदाहरण के लिये कपिस्थल (करनाल जिले मे कैथल) आज भी अपने पुराने नाम से प्रसिद्ध है। काबुल (कूभाकूल) और गोमल (गोमती कूल) नामो मे कूल उत्तर पद ज्ञात होता है। राजतरंगिणी (1/167) और भी सूदेदामोदरीये, 1/157) के अनुसार दामोदर के बसाये स्थान को दामोदर सूद कहॉ गया है। इसके साथ साथ काकतीर, पल्वलतीर, और वृकरूप्य, शिवरूप्य नाम भी मिलते है। ब्याकरण के मूर्धन्य विद्वान पंतजलि का नाम वाहीक था।

ख. अग्नि :-

अग्नि नामवाची गावो से अभिप्राय उन गावो से है जहाँ कि ऊसर जमीन अग्नि की भाँति जलती है दूसरे शब्दों मे जिसे जलता हुआ ऊसर कह सकते है। अग्नि नामवाची गावो को अग्नि विभुजाग्नि और कांडाग्नि ये दो नाम मिलते है। विभुजाग्नि कच्छभुज के उत्तर–पश्चिम के बड़े रन का और

कांडाग्नि उसके उत्तर पूर्व के छोटे रन (जहाँ काँडला है) का नाम था।

ग. कच्छ :-

कच्छांत नामो का व्यवहार समुद्रतट के रेवाकाँठे से सिंध के नदीमुख तक प्रचलित था। काशिका में दारूकच्छ और पिप्पलीकच्छ ये दो नाम मिलते है। दारूकच्छ काठियावाड़ और पिप्पलीकच्छ महीरेवा का काँठा था।

इस प्रकार के गाँव का सम्बन्ध भास के नाटकों मे बहुत कम हुआ है। यद्यपि उस समय इन नामों के गाँव जरूर उपस्थित थे लेकिन भास ने अपने नाटकों मे इनका कही प्रयोग नही किया।

घ. गर्त :-

(4/2/126)– काशिका मे गर्त उत्तरपद वाले नाम का उदाहरण त्रिगर्त प्रसिद्ध है। चक्रगर्त और बहुगर्त ये दोनों पुराने नाम जान पड़ते है। बहुगर्त संभवतः साबरमती (प्राचीन स्वभ्रमती) के काँठे का नाम था, जिसके नाम का श्वभ्र शब्द गड्ढे का पर्यायवाची है। चक्रगर्त संभवतः प्रयासक्षेत्र मे स्थित चक्रतीर्थ की संज्ञा थी। गर्तांत नामो मे 'गर्तोत्तर पदाच्छः' (4/2/137) सूत्र पर वृकगर्त और श्रृगालगर्त एवं भाष्य मे पूवादिगर्त नाम भी आए है।

इससे ज्ञात होता है सरपत झुण्डो के लिये पलद् शब्द लोक मे प्रचलित था जो काव्य मे गॉव के लिये प्रचलित था।

5. अरण्य

पाली साहित्य मे हजार, हजार बृक्षों वाले आम के वनो का उल्लेख है। प्राचीन कम्पिलपुर आधुनिक जिला फरूखाबॉद मे इस तरह का एक वन था इससे भी बड़े आम के बागो के लिये हिन्दी मे लखफेरा नाम अभी तक प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक वनो के नाम भास के नाटको मे वर्णित है। जो अलग अलग नाटको के कथानक से जुड़े हुये है। दूतवाक्यम् मे भगवान कृष्ण जब दुर्योधन की सभा मे दूत बनकर जाते है तब दुर्योधन के द्वारा पाण्डवों के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले अपशब्दो के जवाब मे किरात वेशधारी शंकर जी को जब अर्जुन ने युद्ध मे संतुष्ट किया था। उस समय उस घटना का सम्बन्ध 'खाण्डव वन' से था। जिसको अर्जुन मे अपने बाणो से ढ़क लिया था और वन मे लगी हुई आग को इन्द्र के द्वारा की गई वर्षा भी शान्त नही कर पायी थी।

'कैरातंवपुरास्थितः पशुपतिर्युद्धने संतोषितो।
वहैः खाण्डवमश्नतः सुमहृतो वृष्टिः शरैश्छादिता,
देवेन्द्रार्तिकरा निवातकवचा नीताः क्षयंलीलया
नन्वेकेन तटाविराटनगरे भीष्मादयोनिर्जिताः।।''[1]

अभिषेक नाटक मे जब राजा दशरथ सुमन्त से वनवासी राम के बारे मे पूछते है। उस समय अधीनस्त अरण्यो का वर्णन आया है–

'सुमन्त्र– महाराज। या मैवमङ्गल वचनानि भाविष्ठाः। अचिरादेवतान् द्रक्ष्यसि।
राजा– सत्यमयुक्तमभिहितं मया। नायं तपस्विनामुचितः प्रश्नः तत् कथ्यताम्।
अपितपस्विनां तपोवर्धते? अप्यरण्यानि स्वाधीनानि विचरन्ती वैदेही न परिखिद्यते?[2]

---

1. दूतवाक्यम् – भास – 1/37/32
2. प्रतिमानाटकम् – भास– 2/71

अभिषेक नाटक मे त्रिकूट नाम के कानन का उल्लेख मिलता है। जहाँ रावण प्राकृतिक सुन्दरता, सुगन्धित बहने वाले हवा के झोके, कोयल की मधुर आवाज तथा नाना प्रकार के पक्षियो के कलरव का आनन्द लेता था उसी वन को हनुमान जी ने चूर्ण बनाने की अपने मन मे ठान ली थी–

'परभृतगणजुष्टं पद्यषण्डाभिरामं
सुरूचिरतरूषण्डं तोयदाभं त्रिकूटम्।
करचरणविभर्दैः काननं चूर्णयित्वा
विगतविषयदर्पं राक्षसेशं करोमि।।''[1]

स्वप्नवासवदत्तम् मे राजा उदयन वीणा के लिये कहते है कि अरी मधुर शब्द करने वाली वीणा तू तो कभी वासवदत्ता के स्तनो पर कभी कटयग्रभाग मे सोती रहती थी। वही तू आज इस समय चिड़ियो के मल से दूषित दण्ड वाली होकर यह भयानक अरण्यवास कैसे करती हो–

'श्रुतिसुखनिनदे! कथं नु देव्या
स्तनयुगले जघनस्थले च सुप्ता।
विहगणरजोविकीर्णदण्डा
प्रतिभयमध्युषिताऽस्यरण्यवासम्[2]

इस प्रकार महाभारत और रामायण दोनो कालो का जब हम सम्यक् विवेचन करते है तो ये पाते है कि नाटको मे वर्णित वनो के अलावा प्रमदवन, कुमुदवन, साम्यकवन, द्वैतवन, आखिण्डतवन, हितवन, कदलीवन, खण्डितवन, नैमिषवन भी उस समय अपनी अक्षुण्यवन सम्पदा उत्कृष्टता अभिरक्षण आदि से युक्त थे। जिनका उल्लेख महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थो मे किया गया है।

1. अभिषेकनाटक – भास – 2/43/26
2. स्वप्नवासवदत्तम् – भास – 6/1/173

6. नगर :-

भाष्यकार ने चार प्रकार की बस्तियाँ बतलाई है– ग्राम, घोष, नगर और संवाह। 'संस्त्यायविशेषो ह्योते ग्रामो घोषों नगरं संवाह इति'[1] जिस बस्ती मे कुछ ब्राह्मण, कृषक तथा पंचकारूकी रहते थे, वह गॉव कही जाती थी। जिस स्थान मे गाय–भैस आदि पशु पालने वाले लोग प्रमुखता से रहते थे, उसे घोष कहते थे। जिस बडी बस्ती मे भिन्न जातियो के बहुत से लोग अलग–अलग अपने मुहल्ले बनाकर रहते थे, वह नगर कहलाती थी तथा नगर के समान बसी हुई, किन्तु उससे भी बड़ी बस्ती को संवाह कहते थे। भाष्य मे नगरी का भी उल्लेख है, किन्तु नगर मे उसका भेद स्पष्ट नही किया गया है।

1. मथुरा नगर :-

मथुरा नगर कई शताब्दियों तक बौद्ध धर्म का केन्द्र रहा है। पतंजलि–काल मे वहॉ जैन पर्याप्त संख्या में बस चुके थे। कुषाण–काल से पूर्व मथुरा में बाध्पाल, धनभूति और उनके पूर्वजों का शासन था।

'रामायण मे कहॉ गया है कि शत्रुघ्न ने अपने दो पुत्रों श्वभु और शूरसेन के साथ यहॉ शासन किया।'[2]

'महाभारत और पुराणों के अनुसार यहॉ यादवों का शासन रहा।'[3] अन्धक और वृष्णि यहॉ पहले निवास करते थे।'[4] बाद में वे राक्षसों से भयभीत होकर यहॉ से चले गये और उन्होंने द्वारावती को राजधानी बनाया।[5] मगध राज जरासन्ध ने इसे आक्रान्त किया।[6]

---

1. व्याकरण महाभाष्य – 7/3/14, पृ0 180
2. रामायण 7/62/6
3. विष्णु पुराण – 4/13/1 तथा वायुपुराण – 96/1,2
4. ब्रह्म पुराण – अध्याय 34
5. हरवंश पुराण – अध्याय 37
6. स्कन्ध पुराण – विष्णुखण्ड

'पार्जिटर के अनुसार शत्रुघ्न ने लवणासुर को मारकर और मधुवन के अरण्य को काटकर मथुरा नगर को बसाया था।[1]

ग्रीक इतिहासकारों ने इसे मधुरा या मेडोरा कहा है। बौद्ध–जैनग्रन्थों, फाह्यान, ह्वेन्सांग, टालेमी के वर्णनों से स्पष्ट है कि ईसा–पूर्व 300 से तीसरी शती के अन्त तक यह नगरी बहुत ही महत्वपूर्ण थी।

भास के नाटक बालचरित मे मथुरा नगर का वर्णन उस समय का है जब वसुदेव बालक को लेकर जा रहे है।

'वसुदेवः– देवकि ! अर्धरात्रः खलु वर्तते। प्रसुप्तो मधुरायां सर्वो जनः। तस्माद् यावन्न कश्चित् पश्यति, तावद् बालं गृहीत्वाऽपक्रामामि।'[2]

प्राचीन मथुरा यमुना के दक्षिण तट पर इन्द्रप्रस्थ और कौशाम्बी के मध्य स्थित थी।

2. हस्तिनापुर नगर :-

'कुरूओं की यह प्राचीन राजधानी उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले मे थी। पतंजलि ने इसे गंगा–तट पर बसा हुआ बतलाया है।'[3] कनिंघम ने इसे मेरठ की भवाना तहसील का एक पुराना कस्बा माना है।[4]

विविध तीर्थकल्प के अनुसार इस नगर को राजा हस्तिन ने भागीरथी तट पर बसाया था। भगवान महावीर यहॉ कई बार गये थे। भगवती–सूत्र (2–9) हरिवंश पुराण (20–1–53, 54) तथा भागवतपुराण (9–21–20) इन तथ्यों की पुष्टि करते है। पार्जिटर के अनुसार हस्तिन के दो पुत्र हुये–

---

1. एन इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन – पृ0 170
2. बालचरित – भास – 1/9
3. अनुगङ्गम् हस्तिनपुर – पतंजलि – 2/1/16, पृ0 273
4. एनशियेंट ज्याग्राफी आफ् इण्डिया – कर्निंघम – पृ0 702

3. कौशाम्बी :-

भास ने अपने नाटक मे भी कौशाम्बी नगर का उल्लेख किया है। पतंजलि ने भी बिना कोई विशेष विवरण दिये बारह बार कौशाम्बी का उल्लेख किया है। इससे केवल इतना पता चलता है कि यह अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान था और वे इससे बहुत अधिक परिचित थे। काशिकाकार ने इसे कुशाम्ब द्वारा बसाई गई नगरी कहा है।

"यह वत्स जनपद की राजधानी थी। इलाहाबाद जिले कोसमग्राम, जो प्रयाग से 30 मील दूर दक्षिण–पश्चिम मे यमुना के किनारे स्थित है, कौशाम्बी का वर्तमान रूप है। जैन आज भी इसे कौशाम्बी कहते है।"[1]

पौराणिक परम्परा के अनुसार पुरूवंशीय वत्सराज उदयन यहाँ के प्रसिद्ध राजा हुए। पुरू लोगों की राजधानी हस्तिनापुर और राज्य कुरूक्षेत्र था। जब हस्तिनापुर को गंगा ने नष्ट कर दिया, तब परीक्षित के वंशज राजा यहाँ चले आये। महाभारत के अनुसार यमुना वत्स में होकर बहती थी। कौशाम्बी साकेत को श्रावस्ती एवं प्रतिष्ठान से जोड़ने वाले व्यापार–मार्गो का केन्द्र स्थल थी। कोसम मे प्रद्योत का बनवाया हुआ ईटों का किला आज भी विद्यमान है। महाकवि भास ने अपने नाटक प्रतिज्ञायौगन्धरायण मे वत्सराज उदयन का वर्णन है।

'अहं चैतेनोक्तः–भण यौगन्धरायणाय यथासमर्थिता समर्थना न रोचते मे। समाने गमने प्रद्योतस्यावमानविशेष श्चिन्त्यते। मा कामप्रधान इति मामवभन्यस्व। अवमानस्यापचितिमन्वियामीति।[2]

महाकवि भास ने अपने नाटक मे कहाँ है कि यौगन्धरायण कहता है–

---

1. आर्कियालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट –कर्निघम – भाग 1, पृ0 303
2. प्रतिज्ञायौगन्धरायण – भास – 3/98

कि मै शत्रु के वशीभूत वत्सराज को छुड़ाकर युद्ध मे अपनी तलवार के टूट जाने से शत्रु के द्वारा पकड़ लिया गया अब अपने स्वामी वत्सराज की दुःख दूरकर अपनी विजय मानता हुआ राजकुल मे सुखपूर्वक प्रविष्ट हो रहा हूँ।

'रिपुगतमपनीय वत्सराजं

ग्रहणमुपेत्य रणे स्वशस्त्रदोषात्।

अयमहमपनीतभर्तृदुःखोजितिमिति

राजकुले सुखं विशामि।।''[1]

महाकवि भास के अविमारक नामक नाटक मे वैरन्त्य नगर आदि उस काल मे अपने स्थित होने का संकेत देते है।

'पिता कुरङ्गया भूपालो वैरन्त्यनगरेश्र्वरः।

दुर्योधनस्य तनयः कुन्तिभोजोभवाननु।।''[2]

महाकवि भास ने अपने नाटक दूतवाक्यम् मे विराट नगर का वर्णन करते हुये इस प्रकार कहाँ है कि उस अर्जुन ने किरातवेषधारी शंकर को युद्ध मे संतुष्ट किया। खाण्डव वन में जब आग लगी तो बाणों की वर्षा कर उसे ढॅक दिया जिससे उसकी रक्षा के लिये की जाने वाली इन्द्र की वृष्टि व्यर्थ हो गई। देवेन्द्र इन्द्र को पीड़ा पहुचाने वाले निवास कवच नामक राक्षसों का जिसने लीलापूर्वक वध कर दिया। बहुत कहने से क्या जिसने अकेले उस समय जब विराट नगर मे गो हरण किया गया था तो तुम्हारे भीष्मादि सब यौद्धाओं को भी पराजित कर दिया।

'कैरातं वपुरास्थितः पशुपतिर्युद्धेन संतोषितो

वह्नेः खाण्डवमश्नतः सुमहतो वृष्टिः शरैश्छादिता।

---

1. प्रतिज्ञायौगन्धरायण - भास - 4/5/119
2. अविमारक - भास - 6/13/173

देवेन्द्रार्तिकरा निवातकवचा नीताः क्षयंलीलया
नन्वेकेन तदा विराटनगरे भीष्मादयो निर्जिताः।।''[1]

महाकवि भास ने अपने नाटक पञ्चरात्रम् मे विराट नगर का उल्लेख किया है।–

'महाराजस्य विराटस्य वर्षवर्धनगोप्रदाननिभिन्तमस्यां नगरोपवननीथ्याभागन्तुं गोधनं सर्वे च कृतमङ्गलामोदा गोपदारका दारिकाश्च अरे गोमित्रक ! अरे गोमित्रक गोपदारकाणां दारिकाणांष्याहर।'[2]

वैसे तो भास के नाटकों मे नगरों का वर्णन कम ही मिलता है परन्तु नाटकों के कथानक अधिकांस रामायण और महाभारत पर लिखे गये है। उस समय भारत का सीमा विस्तार अफगानिस्तान तक था, और तमाम बड़े बड़े नगर स्थित रहे होगे परन्तु विराट–नगर, हिमप्रयाग शारस्वत नगर, वरूण नगर, चन्द्रनगर, अवध नगर, विदर्भ नगर आदि प्रमुख थे। जिनका वर्णन रामायण और महाभारत में अशिकाशतः मिलता है।
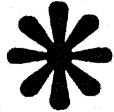
1. दूतवाक्यम् – भास – 1/32/37
2. पञ्चरात्रम् – भास – 2/64

7. नदियाँ

1. गंगा नदी :-

गंगा हिमालय से निकलती है और उससे प्राप्त होने वाले जल से सदा भरपूर रहती है। इसीलिये उसे हैमवती कहते है। गंगा के किनारे हस्तिनापुर और वाराणसी नगरियॉ बसी है। गंगा मध्य प्रदेश की सर्वाधिक प्रसिद्ध नदी है गंगा नदी के तट पर हस्तिनापुर, वाराणसी, हरिद्वार, पटना, इलाहाबाद आदि पवित्र तीर्थस्थल बसे है। 'संस्कृत लेखकों के अनुसार गंगा की मुख्य सहायक नदियॉ उन्नीस है।''[1] गंगा इतनी पवित्र मानी जाती थी कि उसकी पूजा–प्रतिष्ठा मे मेले लगते थे एवं यज्ञादि किये जाते थे जो गंगामह कहलाते थे।[2] यमुना गंगा की प्रथम और सबसे बडी सहायक नदी है। यमुनोत्री तथा कमेत पर्वतमाला से निकलकर यमुना शिवालिक नग–श्रेणी की घाटी और गढ़वाल से होकर मैदान मे उतरती है और समानान्तर बहती चलती है। प्रयाग के पास वह गंगा मे मिल जाती है।

महाकवि भास ने भी अपने नाटक ऊरूभङ्गम् मे गंगा नदी का वर्णन इस प्रकार किया है जब दुर्योधन की जंघा टूट जाती है तब वह कहता है अहो मेरे मन की बात पूरी हो गई। अब मेरे प्राण मुझे छोड़ना ही चाहते है ये यहॉ पर शान्तनु प्रभृति मेरे पिता एवं पितामह आये है, ये मेरे सौ भाई है जो कर्ण को आगे कर खड़े है, ऐरावत हाथी पर बैठा हुआ काकपक्षधारी यह अभिमन्यु इन्द्र के हाथो का सहारा लिये क्रोधित होकर मुझसे कुछ कह रहा है। उर्वशी आदि अप्सरायें मुझे चारों ओर से घेर ली है। ये समुद्र शरीर धारी होकर तथा गंगादि महानदियॉ आई हुई है। सहस्रहंसो से युक्त वीरों को वहन करने वाला विमान

---

1. मैकिण्डिलः ऐन0 इन्डियन - पृ0 136
2. मैकिण्डिलः ऐन0 इन्डियन - 5-1-12, पृ0 302

जो धर्मराज द्वारा मेरे लिये प्रेषित है।–

'हन्त कृतं मे हृदयातुज्ञातम्। परित्यजन्तीव मे प्राणाः। इमेऽत्रभवन्तः शान्तनुप्रभतयो मे पितृपितामहाः। एतत्कर्णमग्रतः कृत्वा समुत्थितं भ्रातृशतम्। अयमप्यैरावतशिरोविषक्तः काकपक्षधरो महेन्द्रकरतलमबलम्ब्य कुद्धोऽभिभाषते मामभिमन्युः (इमाः) उर्वश्यादयोऽप्सरसो मामभिगताः। इमे महार्णवा भर्तिमन्तः। एता गङ्गाप्रभृतयो महानद्यः। एष सहस्रहंसप्रयुक्तो मा नेतुं वीरवाही विमानः कालेन प्रेषितः।[1]

महाकवि भास ने स्वप्नवासवदत्तम् मे गंगा नदी का वर्णन इस प्रकार किया है महामन्त्री रूमण्वान् महाराज से कहते है कि आपके शत्रुओ मे परस्पर भेद उत्पन्न कर दिया गया है। आपके दया, दाक्षिण्यादि गुणों मे अनुरक्त नागरिको को धैर्य प्रदान कर दिया गया है। आपके आक्रमण काल मे सेना के पृष्ठभाग की रक्षा की विधि भी सोच ली गई है। इस प्रकार शत्रुओ के विनाश के जितने भी उपाय है वह सब मैने तैयार कर लिया है। इतना ही नही हमारी सेनाओं ने गङ्गा के उस पार जाकर डेरा डाल दिया है।

"भिन्नास्ते रिपवो भवद्गुणरताः पौराः समाश्वसिताः
पार्ष्णी यापि भवत्प्रयाणसमये तस्या विधानं कृतम्।
यद्यत् साध्यम्रिप्रमाथजननं तत्तन्मयानुष्ठितं
तीर्णा चापि बलैर्नदीत्रिपथगा वत्साश्च हस्ते तव।।"[2]

2. यमुना नदी :-

यमुना बौद्धों की प्रसिद्ध पॉच नदियो मे से एक है। इसके किनारे भी अनेक तीर्थ है। ग्रीक लेखकों ने इसे हिरण्यवाह कहा है। स्कन्दपुराण के

1. ऊरूभंगम् – भास – 1/70/71
2. स्वप्नवासवदत्तम् – भास – 5/12/164

अनुसार इसकी एक सहायक नदी बालुवाहिनी भी है। यमुना गंगा की प्रथम और सबसे बड़ी सहायक नदी है। यमुना के उद्‌गम स्थान को यमुनोत्री के नाम से जाना जाता है यमुनोत्री कमेत पर्वतमाला से निकल कर यमुना शिवालिक नगश्रेणी की घाटी और गढ़वाल से होकर मैदान मे उतरती है।

महाकवि भास ने अपने नाटक बालचरित मे यमुना नदी का वर्णन उस समय किया है जब राजा वसुदेव श्री कृष्ण को लेकर यमुना नदी पार कर रहे है और यमुना का जल बड़ा हुआ है।

"एष मार्गः। यावदपक्रामामि। अये इयं भगवती यमुना काल वर्ष—सम्पूर्णा स्थिता। अहोव्यर्थो मे परिश्रमः। किमिदानी करिष्ये। भवतुद्रष्टम्।"[1]

बालचरित नामक नाटक मे ही वसुदेव बडी हुयी यमुना को पार करते हुये कहते है। मन से भी दुष्पार, ग्राह तथा सर्पो से भरी एवं उत्ताल तरंगो वाली इस नदी को निश्चित बुद्धिवाला मै भुजारूपी नौका से पार कर यदि भाग्य शेष होगा तो सिद्धि प्राप्त करूँगा।

'इमां नदी ग्राहभुजङ्गसङ्कुलां
मघोर्मिमालां मनसापि दुस्तराम्।
भुजप्लवेनाशु गतार्थविक्लवो
वहामि सिद्धिं यदि दैवतं स्थितम्।।"[2]

महाकवि भास ने बालचरित मे यमुना नदी का वर्णन करते हुये कहाँ है कि जब वसुदेव का मन यमुना नदी के जल को देखकर घबड़ा रहाँ था तब यमुना जी स्वयं उनको निकलने का रास्ता दे देती है।—

'हन्त द्विधा छिन्नं जलम्, इतः स्थितम् इतः प्रधावति। दत्तो मे भगवत्या

---

1. बालचरित – भास – 1/14
2. बालचरित – भास – 1/18/14

मार्गः। यावदपक्रामामि निष्क्रान्तोऽस्मि यमुनायाः।[1]

महाकवि भास ने बालचरित मे ही यमुना का वर्णन इस प्रकार किया है।—

'सितेतराभुग्नदुकूल कान्तिद्रुतेन्द्रनीलप्रतिमानवीचिम्।

इमामहं कालियधूमधूम्रां सान्तर्विषाग्नि यमुनां करोमि।।''[2]

महाकवि भास ने बालचरित मे यमुना का वर्णन करते हुये लिखा है कि जब कृष्ण भगवान यमुना नदी मे प्रवेश करते है तो सभी उन्हे मना करते है कि यह दुष्ट महान सर्प के कुल का निवास स्थान है। तब श्री कृष्ण कहते है कि विषाद मत करिये। आप लोग देखे, पक्षियो एवं वन्य पशुओ से रहित, भय से हाथियों के समूह से अवलोकित जलवाले, समुद्र तुल्य इस हद मे प्रवेश कर उसे क्षुब्ध करते हुये शङ्कित गोपियों के सुन्दर वचनों द्वारा रोके जाते हुए मै यमुना निवास के प्रेमी इस अत्यन्त बलवान कालिय नाग को परास्त करूँगा।

'निष्पक्षिव्यालयूथं भयचकितकरिव्रातविप्रेक्षिताम्भो

गम्भीरं स्निग्धनीरं ह्रदमुदधिनिभं क्षोभयन सम्प्रविश्य।

गोपीभिः शङ्किताभिः प्रियहितवचनैः पैशलैर्वायमाणः

कालिन्दीवासरक्तं भुजगमतिबलं कालियं घर्षयामि।।''[3]

महाकवि भास ने पञ्चरात्रम् नामक नाटक मे भी नदी का वर्णन करते हुये कहाॅ है कि ये अग्निदेव वृक्ष, झाड़ी और लताओं समेत इस वन को खाकर पेट भर जाने पर कुशा के सहारे नदी मे उतर रहे हैं मानों भोजनोपरान्त आचमन करने के लिये जा रहे हों।

---

1. बालचरित - भास - 1/14-15
2. बालचरित - भास - 4/4/75
3. बालचरित - भास - 4/2/73

'वनं सवृक्षक्षुपगुल्ममेतत् प्रकाममाहारमिवोपभुज्य।
कुसानुसारेण हुताशनोऽसौ नदीमुपस्प्रष्टुमिवावतीर्णः।।"[1]

3. नर्मदा नदी :-

मालवा पठार की यह प्रमुख नदी है। यह अमरकण्टक की पहाड़ियों से दस सौ सन्तावन मीटर की ऊँचाई से निकलती है। इसे पुराणों में रेवा नाम से पुकारा गया है। यह विभ्रंश घाटी से बहती हुई अरब सागर मे गिरती है। इसके उत्तर मे विन्ध्य श्रेणी और दक्षिण सतपुड़ा की पहाड़ियाँ है। जबलपुर के समीप भेड़ा घाट की संगमरमर की शैले और धुआधार प्रपात के मनोहर दृश्य है। भास के नाटक प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् मे नर्मदा नदी का कई स्थलों मे वर्णन प्राप्त होता है। इस नाटक मे यौगन्धरायण हंसक से कहते है कि जब प्रातः काल होने मे कुछ समय शेष था और जब सवारी से चलने योग्य सुखदायक रात्रि की बेला हो रही थी उस समय स्वामी बालुका पूर्ण घाट से नर्मदा नदी पारकर समीपस्थ वेणु वन मे स्त्रियों को ठहराकर हाथी के शिकार करने में दक्ष अपनी थोड़ी सी सेना जिनके हाथ मे छत्र के अतिरिक्त कुछ न था – उसे लेकर मृगों को आनन्दित करने वाले मार्ग से नागवन की ओर चल पड़े।

'श्रृणोत्वार्यः सावशेषप्रत्यूषायां रजन्यां वाहनसुखायां वेलायां वालुकातीर्घेन नदीं नर्मदां तीर्त्वा वेणुवनेकल त्रमावास्य छत्रमात्रपरिच्छदेन गजयूथविभर्दयोग्येन बलेन मार्गमदन्या वीथ्या नागवनं प्रयातो भर्ता।"[2]
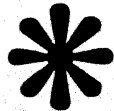
1. बालचरित - भास - 1/15/14
2. प्रतिज्ञायौगन्धरायण - भास - 1/15

द्वितीय अध्याय

भास के नाटकों में सामाजिक जीवन

द्वितीय अध्याय
भास के नाटकों में सामाजिक जीवन

1. वर्ण और जाति :-

भाषा और लोक मे सदा घनिष्ठा सम्बन्ध रहता है। लोक–जीवन के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित शब्द भाषा में प्रयुक्त होते है। शब्द भूतकालीन संस्थाओं के प्रतीक बनकर उनके स्मारक की भाँति भाषा मे रह जाते है। शब्दों का प्रयोग भी भिन्न–भिन्न रहता है, और अनेक शब्द जन्म लेते और कुछ काल तक लोक के कंठ से रहकर विलीन हो जाते है। भास के नाटकों मे वर्ण और जाति प्राचीन परम्परा से मिलती जुलती है उस समय मूलभित्ति वर्ण और आश्रम की व्यवस्था थी।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है, वैसे वैदिक भाषा का वर्ण शब्द ज्यादातर व्यवहारिक रूप मे प्रचलित था परन्तु धीरे–धीरे जाति शब्द भी प्रचलित हो चुका था। जाति की परिभाषा के अन्तर्गत गोत्रों और चरणों को भी गिना गया है। जाति शब्द का आसय गोत्र और चरण दोनों से है। भास के समय तक अनेकों जातियां विकसित हो चुकी थी जिनकी संख्या 1000 में थी और उनका स्वरूप अलग–अलग जातियों मे संगठित हो चुका था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये प्रमुख चार वर्ण थे और गोत्र छोटी–छोटी जातियों या उपजातियों के मानक थे। जैसा कि देखा जाता है कि आज भी पीढ़ी दर पीढ़ी बहुत से नाम चले आ रहे है जैसे– अरोड़ा, खत्री, चोपे, खेते, यादव, कश्यप, खगार, धुरियाँ, बसोर, हंस, कान्सकार, स्वर्णकार, धूमर आदि गोत्र नामों से सम्बन्धित जातियाँ आज भी पायी जाती है।

भास के समय में योनि–सम्बन्ध और विद्या–सम्बन्ध इन दो प्रकार के

सम्बन्धों पर समाज का अधिकांश संगठन था। योनि–सम्बन्ध गोत्रों के रूप में और विद्या–सम्बन्ध के रूप में अपना जातिय सम्बन्ध बना रहे थे इसी कारण जाति की परिभाषा मे गोत्र और चरण दोनों को सम्मिलित किया गया है। भाष्य 4/1/63) रक्त–सम्बन्ध और विद्या–सम्बन्धों के कारण छोटे–छोटे गिरोहों की अलग–अलग जातियाँ बन रही थीं। कुछ ऐसा लगता है कि जहाँ बेटे के पोतों से फूलते–फलते प्रथक–प्रथक सौ घर किसी एक ख्यात के अन्तर्गत बढ़ जाते थे, वही उन कुटुम्बों के सदस्य समाज मे अपने पृथक अस्तित्व का भान और स्मृति एक छोटी उपजाति के रूप मे कर लेते थे।

'महाभारत मे कहा है कि सावित्री पुत्रों के सौ घराने थे।'[1]

इस प्रकार कुछ पैतृक नामों से, कुछ व्यापारिक नामों से, कुछ शहरों के नामों से और कुछ पदों के नाम से उपजातियों का नाम हुआ। हमारी दृष्टि से जाति तथा वर्ण सम्बन्धी सामग्री की पहिचान एक स्वतन्त्र खोज का विषय है और इसका अधिकांश भाग उत्तर–पश्चिमी प्रदेश और वाहीक की स्थानीय समाज–व्यवस्था से सम्बन्ध रखता है।

1. ब्राह्मण :-

चारों वर्णो मे ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। पाणिनि काल मे ब्रह्मन् शब्द ब्रह्मणोचित अध्यात्मिक गुण सम्पत्ति के लिये प्रयुक्त होता था और ब्राह्मण जन्म पर आश्रित जाति के लिये ब्राह्मण के भाव और कर्म आचार विचार के द्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मण की संज्ञा दी जाती थी। भास के नाटकों में

---

1. त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवान् जनयिष्यति।
 ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः।।
 ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्र्च भविष्यन्तीहशाश्र्वताः।
 (वनपर्व– 297/58/49)

ब्राह्मणों का उल्लेख इस प्रकार है जब घटोत्कच ब्राह्मण से उसके एक बेटे को माँगता है और कहता है कि यदि तुम अपने बेटे को नही दोगे तो शीघ्र कुटुम्ब सहित विनाश को प्राप्त करोगे, उस समय भीम ने घटोत्कच से कहा कि तुम किन कारणों से इन ब्राह्मण जन कोसता रहे हो ये तीन पुत्र रूपी नक्षत्रों से घिरे हुये, मनोज्ञ पत्नी रूपी चन्द्रिका वाले इस ब्राह्मण रूपी चन्द्रमा को ग्रसने के लिये तुम राहु बनकर आये हो क्या, पुनः भीम घटोत्कच से कहते है कि यह ब्राह्मण तो सांसारिक व्यवहारों से मुक्त हो चुका है इसलिये स्त्रीपुत्र सहित इसको छोड़ दो, नीति एवं धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि सभी प्रकार के अपराध करने पर भी उत्तम ब्राह्मण अबध्य होता है। तत्पश्चात उस ब्राह्मण को बचाने के लिये क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न भीम स्वतः उद्यत हो कहता है कि मै अपने शरीर से ब्राह्मण शरीर का विनिमय करना चाहता हूँ।

''ब्राह्मणः श्रुतवान वृद्धः पुत्रं शीलगुणान्वितम्।
पुरूषादस्य दत्वाहं कथं निर्वृतिमाप्नुयाम्।।''[1]

''यद्यर्थितो द्विजश्रेष्ठ। पुत्रमेकं न मुञ्चसि।
सकुटुम्बः क्षणेनैव विनाशमुपयास्यसि।''[2]

'पुत्रनक्षत्रकीर्णस्य पत्नीकान्तप्रभस्य च।
वृद्धस्य विप्रचन्द्रस्य भवान् राहुरिवोत्थितः।।''[3]

---

1. मध्यमव्यायोग – भास – 1/13/17
2. मध्यमव्यायोग – भास – 1/14/17
3. मध्यमव्यायोग – भास – 1/33/37

"निवृत्तव्यवहारोऽयं सदारस्तनयैः सह।
सर्वापराधेऽवध्यत्वान्मुच्यतां द्विजसत्तमः।।"[1]

"मा मैवम्। क्षत्रियकुलोत्पन्नोहम। पूज्यतमः खलु ब्राह्मणः।
तस्मान्मच्छरीरेण ब्राह्मणशरीरं विनिमातुमिच्छामि।"[2]

'महाकवि भास ने अपने नाटक दूतवाक्यम् में दुर्योधन के क्रियाकलापों से दुःखी धृतराष्ट्र कहते हैं कि पाण्डवों का कल्याण करने वाले, ब्राह्मण प्रिय एवं ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का बखान करने वाले, देवकी नन्दन भगवान, वासुदेव का वर्णन किया है साथ ही राम का वनवास होने के पश्चात कैकेय देश से आये हुये भरत जब प्रतिमाग्रह में जाते हैं तब पुजारी जी कहते हैं कि कहीं ब्राह्मण होकर इन राजाओं की मूर्तियों को प्रणाम ने कर लेना क्योंकि ये क्षत्रिया की प्रतिमायें है देवताओं की नही

□□प्रतिमानाट्कम् में ब्राह्मणों की सेवा में अपनी समस्त सम्पत्ति को दानक –र देने वाले महाराज रघु का वर्णन आया ह

–□'क्व न खलु भगवान नारायणः। क्व न खलु भगवान पाण्डव श्रेयस्कर।□क्व नु खलु भगवान विप्रप्रियः। क्व न खलु भगवान देवकी नन्दनः।[1]

'न खल्वेतेः कारणैः प्रतिषेधयामि भवन्तम्। किन्तु देव शङ्कया
ब्राह्मणजनस्य प्रणामं परिहरामि। क्षत्रियाः ह्यत्रभवन्तः।"[4]

---

1. मध्यमव्यायोग – भास – 1/34/38
2. मध्यमव्यायोग – भास – 1/43
3. दूतवाक्यम् – भास – 1/62
4. प्रतिमानाटकम् – भास – 3/96

'अहो बलवान मृत्युरेतामपि रक्षामतिक्रान्तः। नमोऽस्तु ब्राह्मण जनावेदित राज्य फलाय। अभिधीयतां कस्तावदत्रभवान्।।'[1]

प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् नामक नाटक मे भी ब्राह्मणों का वर्णन मिलता है। अविमारक नाटक में कुन्तिभोज को नारद जी द्वारा दिये गये आशीर्वाद का भी प्रमाण मिलता है जिसमें नारद जी कहते है कि तुम गौ, ब्राह्मणों सहित सारी प्रजा को सुख प्रदान करो इसी क्रम मे पञ्चरात्रम् मे इस प्रकार का वर्णन किया गया है कि ब्राह्मणों के द्वारा उच्छिष्ट अन्नो से सभी दिशायें ऐसी प्रतीत हो रही है मानों सर्वत्र काशों के फूल खिले हो, क्रमशः पञ्चरात्रम् मे ही ब्राह्मणों की विशेषताये बताते हुये कहा गया है कि जिनके चराणों मे प्रणाम करते समय राजाओं के सिर की पगड़ी नीचे आ जाती है, और वृद्धावस्था मे भी जिनके वृत नियम बढ़ते ही जा रहे है, जिनकी वाणी अत्यन्त विमल और स्वध्याय मे प्रवीण है जिनके शरीर वृद्ध हो जाने के कारण शैथिस्य भाव को प्राप्त हो रहे है, जो छड़ी के सहारे अपने शिष्यों के कंधो पर हाथ रखकर बूढे हाथी के समान धीरे–धीरे चल रहे है। यहा तक कहा गया है कि राजा को अपना सारा धन ब्राह्मणो को देकर अपने पुत्र के लिये केवल धनुष ही छोड़ना चाहिये।

'आर्य आश्र्चर्य निर्वत्तम्। भर्तुः शान्तिनिमित्तमुपस्थित भोजर्न ब्राह्मणजनं प्रेक्ष्यकेनापि किलोन्मत्तवेषधारिणा ब्राह्मणेनोच्चं हसित्वोक्तं–स्वैरं स्वैरमश्नन्तु भवन्तः, अभ्युदयः खल्वस्य राजकुलस्य भविष्यतीति ततो वचन समकाल मेवादर्शनं गतः।'[2]

---

1. प्रतिमानाटकम् - भास - 3/98
2. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - भास - 1/39

'ग्रोब्राह्मणानां हितमस्तु नित्यं
सर्वप्रजानां सुखमस्तु लोके।'[1]

'द्विजोच्छिष्टैरन्नैः प्रकुसुमितकाशा इव दिशो
हविर्धूमैः सर्वे हृतकुसुमगन्धास्तरूगणाः।
मृगैस्तुल्या व्याघ्रा वधनिभृतसिंहाश्र्चगिरयो
नृपेदीक्षां प्राप्ते जगदपि समं दीक्षितमिव।।''[2]

'राज्ञां वेष्टनपट्टधृष्टचरणाः श्लाध्यप्रभूतश्रवा
वार्द्धक्येऽप्यभिवर्धमाननियमाः स्वाध्यायशूरैर्मुखैः।
विप्रायान्ति वयः प्रकर्षशिथिला यष्टित्रिपादक्रमाः
शिष्यस्कन्धनिवेशिताञ्चितकरा जीर्णा गजेन्द्रा इव।।''[3]

'बाणाधीनां क्षत्रियाणां समृद्धिः पुत्रापेक्षी वञ्च्यते सन्निधाता।
विप्रोत्सङ्ेग वित्तमावर्ज्य सर्व राज्ञादेयं चापमात्रं सुतेभ्यः।।''[4]

इस प्रकार हम देखते है कि भास के नाटकों मे सर्वत्र ब्राह्मण को श्रेष्ठपद पर नियुक्त किया गया है तथा ब्राह्मण को सत्यनिष्ठ, धर्मनिष्ठ और क्षत्रिय को कर्मनिष्ठ की संज्ञा देते हुये श्रेष्ठ माना गया है।

---

1. अविमारक - 6/184
2. पञ्चरात्रम् - भास - 1/3/4
3. पञ्चरात्रम् - भास - 1/5/6
4. पञ्चरात्रम् - भास - 1/24/22

2. क्षत्रिय :-

आनुश्र्व्य क्रम से ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय का स्थान था। ब्राह्मण से कुछ ही नीचे उतरकर क्षत्रिय आते थे। क्षत्रिय या राजन्य शासक वर्ण था। अभिषिक्त क्षत्रिय राजन्य कहलाते थे। राजन्य क्षत्रियों की विशेष उपजाति भी थी। राजन्यों के निवास का देश भी राजन्य या राजन्यक कहलाता था।

क्षत्रिय वर्ण मे भी ब्राह्मणों के समान वर्ण से भिन्न स्वतन्त्र गोत्र या जातियॉ थी। गोत्र पहले तो पौत्र–प्रभृति अपत्य से प्रारम्भ होते थे। बाद मे ये पारिभाषिक गोत्र से भिन्न हो गये द्रुह्यु, पुरू, अन्धक, वृष्णि, कुरू, उपगु, कापटु ये क्षत्रियो के लौकिक गोत्रों के नाम थे। नकुल, सहदेव, साम्ब, अर्जुन, दुर्योधन आदि क्षत्रिय नामों का उल्लेख भास ने अपने नाटकों मे किया है।

क्षत्रिय वर्ण और जाति के लोग देश भर में बिखरें थे। किसी–किसी जनपद मे इनकी विशिष्ट शाखा के लोगों की संख्या इतनी अधिक थी कि उस जनपद का नाम ही उस गोत्र या जाति के नाम पर पड़ गया था। जैसा कि ज्ञात है पांचाल क्षत्रियों के बसने के कारण ही जनपद का नाम पांचाल पड़ा था। ऐसे जनपदों की संख्या बहुत अधिक थी।

इक्ष्वाकु, विदेह, क्षुद्रक, मालव, पुरू, पाण्डु, साल्व, गान्धार, मगध, कलिंग, सूरमस, अंग, बंग, पुण्ड, सुहा, मगध, कोसल, अम्बण्ठ, सौवीर, कुरू, कम्बोज आदि क्षत्रिय जनपद थे। इनके राजा भी इन्ही क्षत्रिय वंशो के थे, इसलिये उनके नाम भी इन्ही के आधार पर पड़ गये थे।

क्षत्रिय क्षत्र शब्द से अपत्य अर्थ मे बना है। क्षत्र भी क्षत्रिय का ही वाचक है। रक्षा उसका धर्म था। इसीलिये उसे विशेष विद्या का अभ्यास करना पड़ता था, जिसे क्षत्र विद्या कहते थे।

महाकवि भास ने अपने नाटक मध्यम व्यायोग मे क्षत्रिय का वर्णन करते

हुये इस प्रकार कहा है कि भीम के वचनो को सुनकर घटोत्कच कहता है कि यह क्षत्रिय है, इसी से इतना गर्वीला है। अच्छा तो मै इसी को मारकर ले चलता हूँ। किसने मेरे साथ चलने से इसे मना किया।

'एवम् क्षत्रियोऽयम्। तेन गर्वः भवतु इममेव हत्वा नेष्यामि। अथ केनार्यं वारितः।[1]

महाकवि भास ने अपने नाटक प्रतिमानाटकम् मे क्षत्रियों का वर्णन करते हुये इस प्रकार कहा है।

'न खल्वेतैः कारणैः प्रतिषेधयामि भवन्तम्। किन्तु देवशङ्कया ब्राह्मणजनस्य प्रणामं परिहरामि। क्षत्रिया ह्मत्रभवन्तः।[2]

महाकवि भास ने पञ्चरात्रम् नामक नाटक मे क्षत्रियो के बारे मे इस प्रकार का उल्लेख किया है। इस प्रकार का उल्लेख किया है। इस नाटक मे कर्ण मामा शकुनि से कहता है कि क्षत्रियों की संपत्ति उनके बाणों पर निर्भर है। जो क्षत्रिय अपने पुत्र के लिये धन एकत्रित करता है वह विधाता द्वारा ठगा जाता है राजा को तो अपना सारा धन ब्राह्मणों को देकर पुत्रों के लिये मात्र धनुष ही छोड़ना चाहिये।

'बाणाधीनां क्षत्रियाणां समृद्धिः पुत्रापेक्षी वञ्च्यते सन्निधाता।
विप्रोत्सङ्गे वित्तमावर्ज्य सर्व राज्ञा देयं चापमात्रं सुतेभ्यः।।''[3]

इसी क्रम मे एक अन्य उल्लेख भी दृष्ट्व्य है, भीष्म, गुरू द्रोण से कहते है कि कहाँ आप और कहा मै इतना न्यून। क्योकि मै माता के द्वारा उत्पन्न हूँ आप स्वयंभू अयोनिज है, मेरी जीविका आयुध है, आपकी जीविका सर्वप्राणि

---

1. मध्यमव्यायोग - भास - 1/43
2. प्रतिमानाटकम् - भास - 3/96
3. पञ्चरात्रम् - भास - 1/24/22

सुहृदत्व स्नेह, है, आप ब्राह्मण है, मै क्षत्रिय हूँ आप गुरू है, और मै आप के शिष्यों का पितामह हूँ।

'अहं हि मात्रा जनितो भवान् स्वयं ममायुधं वृत्तिरपह्ववस्तव।

द्विजो भवान् क्षत्रियवंशजा वयं गुरूर्भवान् शिष्यमहत्तरावयम्।।''[1]

इसी प्रकार का एक अन्य प्रमाण जब अभिमन्यु विराट नगर मे बन्दी था, तब वह कहता है कि नीच लोग क्षत्रिय कुमारों का नाम लेकर पुकारें क्या यहॉ का ऐसा शिष्टाचार है, अथवा बंदी होने के कारण मुझे अपमानित किया जा रहा है।

'नीचैरप्यभिभाष्यते नामभिः क्षत्रियान्वयाः।

इहायं समुदाचारो ग्रहणं परिभूयते।।''[2]

भास के नाटकों मे क्षत्रिय वंशो का सूक्ष्म निरूपण करने के पश्चात् हम इस तथ्य पर पहुचते है कि ज्यादातर राजा इन्ही क्षत्रिय वंशो के थे, और उन्ही के नामों से राज्यों का नामकरण भी हुआ जैसे– पाञ्चाल, मगध, पाण्डु, गान्धार, आदि। इन सारे राजाओं का कार्य अपने राज्य की सीमाओं को सुरक्षित रखना तथा प्रजा की भलाई के लिये अनेक कल्याणकारी कार्य जैसे–तालाब, कुऑ, सड़को के किनारे वृक्ष लगवाना आदि, करवाना था। इसी कारण से इन्हे आयुधों की विशेष शिक्षा भी प्रदान की जाती थी, क्याकि प्रजा की रक्षा का सम्पूर्ण दायित्व राजा पर ही होता है। भास के नाटकों का कथानक अधिकाशतः महाभारत से सम्बन्धित होने के कारण क्षत्रियों के वंश का उल्लेख अधिकाशतः महाभारत मे हो जात है जिससे किसी प्रकार की कोई भ्रान्ति नही होती।

---

1. पञ्चरात्रम् - भास - 1/27/25
2. पञ्चरात्रम् - भास - 2/47/113

3. वैश्य :-

क्षत्रिय और वैश्य की स्थिति ब्राह्मण और शूद्र के मध्य थी। वैश्य को विट भी कहते थे इनके नाम पलितान्त या गुप्तान्त होते थे, जिससे स्पष्ट है कि वे समाज द्वारा रक्षित रहते थे। मौर्य–शुंग युग मे गृहपति समृद्ध वैश्य व्यापारियों के लिये प्रयुक्त होने लगा था, जो बौद्ध–प्रभाव को स्वीकार कर रहे थे। उन्ही से 'गहोई' वैश्य प्रसिद्ध हुए।

महाकवि भास ने अपने नाटको मे वैश्य जाति का वर्णन बहुत कम किया है।

4. शूद्र :-

शूद्रो का स्थान अन्तिम था। शूद्रो की अनेक जातियॉ थी। जो लोग भृति लेकर काम करते थे, वे सब शूद्र माने जाते थे। कात्यायन ने महाशूद्र जाति भी मानी है। काशिका के अनुसार आभीर को महाशूद्र कहते है। धीवर भी शूद्रों मे गिने जाते थे। भाष्यकार ने भी आभीर को शूद्र कहा है। रथकारों का स्थान शूद्रों मे सबसे ऊँचा था। वे त्रिवर्ण से कुछ ही नीचे थे।[1] तन्तुवाय, कुम्भकार, नापित, त्वष्टा, कर्भार, अयस्कार, रजक, चर्मकार, ये सब शूद्रों के अन्तर्गत थे। सारी 'कारि' जातियॉ शूद्र थीं। कटकारों का स्थान शूद्रों मे भी नीचा था।

शूद्रों की संख्या बहुत अधिक थी। वास्तव मे आर्यावर्त्तीय त्रिवर्णो को छोड़कर शेष सब की गणना सामान्य शूद्रों में की जाती थी।

शूद्र अशिक्षित थे। व्याकरणादि का ज्ञान इन्हे न था तथा तीनों वर्णो की सेवा का भार शूद्रों पर था, अतः उनको चाहिये था कि समाज मे किसी प्रकार का गंदा वातावरण न फैले इस लिये उन्हे हर समय ऐसा भाव लिये तत्पर रहना चाहिये ऐसा भाव पाणिनि अष्टाध्यायी आदि पुस्तको मे उपलब्ध है।

---

1. तैवर्णिकेभ्यः किञ्चिन्नयूना रथकारजातिः। – काशिका – 4-1-151

महाकवि भास ने वैसे तो विस्तृत रूप से शूद्र जाति की चर्चा किसी भी नाटक मे नही की है। परन्तु प्रतिमानाटकं मे ऐसा वर्णन है। ये कोई देवता है ऐसा समझकर इन्हें प्रणाम करना उचित जान पड़ता है किन्तु इस प्रकार का प्रणाम प्रतिमा मे देवता के निश्चय के अभाव से अमन्त्र कार्चा रहित शूद्र के समान है।

'कामं दैवतभित्येव युक्तं नमयितुं शिरः।

वार्षलस्तु प्रणामः स्यादमन्त्रार्चितदैवतः।'[1]

भवभूति के नाटक उत्तररामचरितम् मे शूद्र का वर्णन मिलता है शम्बुक नामक शूद्र पृथ्वी परंतपकर रहा है। हे राम, वह तुम्हारे द्वारा शिर काटे जाने योग्य है, उसे मारकर ब्राह्मण पुत्र को जीवित करो

'शम्बुकोनाम वृषलः पृथिव्यां तप्यते तप।

शीर्षच्छेद्यः स ते राम तं हत्वा जीवय द्विजम्।।''[2]

शारांसतः भास ने अपने नाटको मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी जातियों का वर्णन किया है।
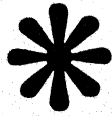
1. प्रतिमानाटकम् - भास - 3/5/94
2. उत्तररामचरितम् - भवभूति - 2/8/171

2. आश्रम

शास्त्रों के द्वारा जीवन को चार भागों मे विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग आश्रम कहा जाता था। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम को मिलाकर चातुराश्रम्य कहा गया है।

भास के समय मे यह आश्रम व्यवस्था अपने पूर्ण अस्तित्व मे थी। कात्यायन ने चातुराश्रम्य पद दिया है। सूत्र में उनके ये नाम है– ब्रह्मचारी (5/2/134), गृहपति (4/4/90), भिक्षु (3/2/168), और परिव्राजक (6/1/154)।

उस समय मे आश्रम प्रणाली अपनी उन्नत दशा मे थी। इस प्रकार सुविधा की दृष्टि से आश्रमों को चार भागों में विभक्त किया गया है।

1. ब्रह्मचारी :-

प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य था, जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। ब्रह्मचर्य मे दीक्षित बालक ब्रह्मचारी कहलाता था। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते थे।

1. दण्डमाणव 2. अन्तेवासी

दण्डमाणव अल्पायु और निम्नकक्षा के तथा अन्तेवासी बड़ी आयु एवं उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले ब्रह्मचारी होते थे। त्रिवर्ण में प्रत्येक बालक का उपनयन–संस्कार सोलह वर्ष की आयु के भीतर कर दिया जाता था। आयु की मर्यादा का यह अन्तिम छोर था। सामान्यतया उपनयन बारह वर्ष की आयु के भीतर हो जाता था। ब्राह्मण का उपनयन तो गर्भ के आठवे वर्ष मे ही हो जाता था। उपनयन करने वाले को आचार्य कहते थे। इसीलिये उपनयन–कर्म का दूसरा नाम आचार्यकरण भी था। उपनयन के बाद यह माणवक दण्डमाणव बन जाता था। दण्डमाणव और अन्तेवासी प्रायः कमण्डलु भी अपने साथ रखते थे।

ब्रह्मचारी को अन्तेवासी कहते थे। वह 'चरण' या वैदिक शाखा के विद्यालय में रहकर अध्ययन करता था। चरण वैदिक अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्धान के केन्द्र थे। ये ब्रह्मचारी नैष्ठिक होते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचारी अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य–व्रत लेते थे। महानाम्नी ऋचाओं के लिये लिया गया वृत महानाम्नी कहा जाता था। ऋचाओं के साहचर्य के कारण वृत को भी महानाम्नी कहते थे। इस वृत मे दीक्षित ब्रह्मचारी महानाम्निक कहलाता था।

ब्रह्मचारी त्रैवर्णिक ही होते थे। इसीलिये उन्हें वर्णी कहते थे। ब्राह्मणादिक तीन वर्णों को ही वर्णी कहते थे। वर्णी लोग किसी न किसी आम्नाय का अध्ययन करते थे। जो उसके आचार्य के नाम पर प्रचलित होता था। जैसे– काठक (कठ) मौदक (मौद) कालापक (कलाप), पैप्पलादक (पिप्पलाद), छान्दोग्य (छन्दोग) आदि।

इस प्रकार तत्कालीन भारत आश्रम व्यवस्था के लिये सम्यक रूप से विदित था।

नाटक मे जनक जी कहते हैं अरे आज शिष्यों का अनध्ययन है, इसीलिये बचपन वास्तव में सुलभसुखवाला होता है। (अच्छी प्रकार देखकर) अहो, इनके बीच में कौन यह प्रिय राम की बाल्यशोभा के समान प्रतीत होने वाले, सुघटित तथा मनोहर सुकुमार अङगों से हमारे नेत्रों को शीतल कर रहा है।

'जनकः – अये, अद्य खलु शिष्टानध्याय इत्युद्धतं खेलतां वटूनां कलकलः।

कौसल्या – सुलभ सौख्यं तावत् बालत्वं भवति।'[1]

नाटक में ब्रह्मचर्य का उल्लेख इस प्रकार मिलता है– नीलकमल के पत्र के समान मनोहर, श्याम वर्ण वाला, काकपक्षरूप भूषण वाला, पवित्र शोभावाला,

---

1. उत्तररामचरितम् – भवभूति – 4/360

अपनी शोभा से ब्रह्मचारियों के समाज को अलंकृत करता हुआ सा तथा वह मेरा वात्सलय भाजन रघुनन्दन राम फिर बालक हो गया है –

'कुवलयदलस्निग्धश्यामः शिखण्डकमण्डनो
बटुपरिषदं पुण्यश्रीकः श्रियेव सभाजयन।
पुनरपि शिशुर्भूतो वत्सः समे रघुनन्दनो
भटिति कुरूते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृताञ्जनम्।।"[1]

इसी नाटक मे अन्य जगह ब्रह्मचर्य का वर्णन इस प्रकार मिलता है –

'पश्र्चात्पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रं
दीर्घग्रीवः स भवति खुरास्तस्य चत्वारः एव।
शष्पाण्यति प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रामाता–
न्किं व्याख्यातै र्व्रजति स पुनर्द्वरमेह्मेहि यामः।।"[2]

निष्कर्षतः ब्रह्मचर्य की साधना योग मानी गयी है। तथा ब्रह्मचारी गुरू से आज्ञा लेकर ग्रहस्थाश्रम मे प्रवेश करे भास ने भी यही बात अपने नाटकों के द्वारा प्रदर्शित की है।

2. गृहस्थाश्रम :-

महाकवि भास के नाटकों मे गृहस्थ आश्रम का वर्णन भी मिलता है। ब्रह्मचर्य के बाद दूसरा आश्रम गृहपति का था। गृह में प्रवेश के अवसर पर यज्ञादि धार्मिक संस्कार किया जाता था। इस संस्कार के अवसर पर प्रयुक्त होने वाले मन्त्र गेहानुप्रवेशनीय कहे जाते थे। प्रत्येक गृहपति के लिये प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करना आवश्यक था। प्रत्येक घर में आठों पहर यज्ञाग्नि जाग्रत् रहती थी। यह अग्नि ग्रार्हपत्य कहलाती थी। ग्रह का एक भाग इसके लिये

---

1. उत्तररामचरितम् – भवभूति – 4/19/361
2. उत्तररामचरितम् – भवभूति – 4/26/383

नियत रहता था, जिसे आवसथ कहते थे। आवसथ की शुद्धता, पवित्रता का ध्यान रखा जाता था। इस पंचमहायज्ञ को पत्नी के साथ सम्पादित किये जाने के कारण भार्या को पत्नी भी कहा जाता था। भास के समय सामान्यतः संयुक्त परिवार प्रथा थी घर के बड़े बुजुर्ग को ग्रहकार्यभार दे दिया जाता था।

इस प्रकार वो अपने दायित्वों का निर्वहन करते हुये संयुक्त परिवार प्रथा की मर्यादा को ध्यान में रखते हुये अपने राष्ट्र धर्म का पालन करता था।

महाकवि भास ने अपने नाटक प्रतिज्ञायौगन्धरायण मे कहा है कि नाटक मे विदूषक कहता है कि अपने मोदकों से तुम्हारे द्वारा स्वस्ति कहलाऊँगा। मैने भी किसी कुटुम्बी गृहस्थ के यहॉ से इन्हे प्रतिग्रह रूप से प्राप्त किया है। वे आपके लिये उपहार हो जायेगे वह गृहस्थ भी समृद्ध रहे।

'विदूषकेति ही शब्दः सन्तोषे। कौटुम्बिकस्य गृहस्थस्य। प्रतिग्रहगृहीतानि प्रतिग्रहरूपेण लब्धानि। स कौटुम्बिकः ग्रहस्थः। समृद्धः कृतार्थः। एष उन्मत्तकः स्थितः निष्पन्ना।'[1]

भवभूति ने अपने नाटक उत्तररामचरितम् मे भी गृहस्थाश्रम का वर्णन करते हुये कहा है कि नाटक मे रामचन्द्र जी विदेहराजकुमारि से कहते है कि विहित कर्मो की नियतकर्तव्यता, आजादी को छीन लेती है, क्योकि सौग्निक पुरूषो का गृहस्थाश्रम (विहित कर्मो के आचरण से उत्पन्न होने वाले संकटों के कारण दुःखरूप है–

'किन्त्वनुष्ठाननित्यत्वं स्वातन्त्र्यमपकर्षति।

सङ्कटा ह्याहिताग्नीनां पृव्यवायैर्ग्रहस्थता।।''[2]

नाटक मे गृहस्थ आश्रम का वर्णन करते हुये शम्बुक कहता है कि हे राम

---

1. प्रतिज्ञायौगन्धरायण – भास – 3/86
2. उत्तररामचरितम् – भवभूति – 1/8/28

अगस्त ऋषि को अभिवादन करके अक्षय लोक मे प्रवेश करेगे। क्योंकि यह वही वन आज पुनः देखा है जहाँ पहले दीर्घकाल तक बसते हुये स्वधर्मो मे तत्पर सांसारिक सुखों के स्वाद का अनुभव करने वाले गृहस्थ भी हुए थे।

'एतत्तदेवहि वनं पुनरद्य दृष्टं
यस्मिन्नभूव चिरमेव पुरा बसन्तः।
आरण्यकाश्च गृहिणश्च रताः स्वधर्मे
सांसारिकेषु च सुरवेषु वयं रसज्ञाः।।"[1]

3. परिव्राजक :-

सम्पूर्ण घर बार को छोड़कर चले जाने वाले परिव्राजक कहलाते थे। ये अपने साथ त्रिविष्टब्धक रखते थे। यह त्रिविष्टब्धक परिव्राजक का परिचायक था। जिस प्रकार धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार त्रिविष्टब्धक से परिव्राजक की उपस्थिति का अनुमान किया जा सकता था। त्रिविष्टब्धक तीन काष्ठ–खण्डों को एक साथ रस्सी मे बाँधकर त्रिदण्ड के समान बनाया जाता था।

भवभूति ने भी उत्तररामचरितम् मे वानप्रस्थ का वर्णन करते हुये कहॉ है कि रामचन्द्र जी कहते है यह वही वन आज पुनः देखा है जहॉ पहले दीर्घकाल तक बसते हुए हम, स्वधर्मो मे तत्पर वानप्रस्थ तथा सांसारिक सुखों के स्वाद का अनुभव करने वाले गृहस्थ भी हुये थे।

'एतत्तदेवहि वनं पुनरद्य दृष्टं
यस्मिन्नभूम चिरमेव पुरा बसन्तः।
आरण्यकाश्च गृहिराश्च रताःस्वधर्मे
सांसारिकेषु च सुखेषु वयं रसज्ञाः।।"[2]

---

1. उत्तररामचरितम् - भवभूति - 2/22/194
2. उत्तररामचरितम् - भवभूति - 2/22/194

नाटक मे वानप्रस्थ का वर्णन करते हुये कहा गया है कि मांस (भोजन) का परित्याग न करने वालों की ऐसी विधि ऋषि लोग मानते है। किन्तु पूज्य जनक मांस से विरत है क्या कारण है?

वह तभी देवी सीता के भाग्य का विषम परिणाम सुनकर वानप्रस्थ हो गये। और चन्द्रद्वीप तपोवन मे तपस्या करते हुये इनको कुछ वर्ष व्यतीत हो गये है।

'दाण्डायनः— अनिवृत्तमांसानामेवं कल्पमृषयो मन्यते। निवृत्तमांसस्तु तत्र भवाञ्जनकः।

सौधातकिः— किं निमित्तम् ?

दाण्डायनः— स तदैव देव्याः सीतायास्तादृशं दैवदुर्विपाकमुपश्रुत्य वैरवानसः संवृतः। तथाऽस्य कतिपये संवत्सराश्चन्द्रद्वीपतपोवने तपस्तप्यमानस्य।[1]

वानप्रस्थाश्रम का वर्णन भास ने अपने नाटकों मे कम ही वर्णित किया है।

4. भिक्षु :-

भिक्षुओ का उल्लेख भाष्य मे परिव्राजक की अपेक्षा अधिक हुआ है। भिक्षु सर्वस्व का परित्याग कर भिक्षा के सहारे जीवन बिताते थे। इन लोगो के आश्रम का नियामक एक सूत्रग्रन्थ था, जिसके प्रणेता पाराशर्य थे।[2] एक भिक्षुसूत्र कर्मन्दक का भी था।[3] इन दोनो के अनुयायी क्रमशः पाराशरी और कर्मन्दी कहलाते थे।[4] सम्प्रदाय— परम्परा के अनुसार ये स्थण्डिलशायी होते

---

1. उत्तररामचरितम् - भवभूति - 4/325
2. काशिका - 4/3/110
3. काशिका - 4/3/111
4. काशिका - 4/2/66, पृ0 193

थे। यह भिक्षुवृत था। इसलिये, भिक्षु स्थण्डिल्य कहलाते थे। वे चलते समय इधर–उधर न देखकर पैरों पर दृष्टि गड़ाये केवल कुक्कुटीपादभर भूमि को देखते चलते थे। दृष्टि संयम भी उनकी साधना का एक अंग था। इन अविक्षिप्तदृष्टि भिक्षुओ को इसी कारण कौक्कुटिक कहते थे–'देशस्याल्पतया हि भिक्षुरविक्षिप्त दृष्टिः पादविक्षेपदेशे चक्षुः संयम्य गच्छति स उच्यते कौक्कुटिक इति''[1] भिक्षु के लिये बस्ती से दूर अरण्य मे रहने का विधान था। कुछ भिक्षु बस्ती से अलग, किन्तु बस्ती के पास रहते थे। ये नैकटिक कहे जाते थे।[2] भिक्षु की जीविका का आधार भिक्षा थी। भिक्षा मे उन्हे सभी प्रकार के अन्न प्राप्त होते थे। सर्वान्न भक्षण करने के कारण भिक्षु सर्वान्नीन कहलाते थे।[3]

इस साधन–चर्या ने उसे समाज की प्रतिष्ठा का पात्र बना दिया था। भाष्य मे उसे कौशशतिक कहा है, अर्थात भिक्षु का अभिनन्दन सौ कोस पहले से करना चाहिए, यह सामाजिक मर्यादा थी।[4]

'कोशशतादभिगमनमर्हति इति क्रोशशतिको भिक्षुः।[5] यौजनशतिको–

महाभाष्य मे परिव्राजक और भिक्षु शब्द अवश्य आये है, किन्तु वान्प्रस्थ और संन्यास आश्रमों का पृथक स्पष्ट उल्लेख नही है। इसका कारण यह है कि आरम्भ से वैदिक आर्यो में तीन ही आश्रमों की प्रथा थी– ब्रह्मचर्य, गृार्हस्थ्य, और वैखानस। वेदों मे अथर्व और वर्णो में शूद्र के समान आश्रमों में भिक्षु या सन्यास–आश्रम बाद में सम्मिलित किया गया। बौद्धो मे संन्यास का

1. काशिका – 4/4/46
2. काशिका – 4/4/73
3. काशिका – 4/2/9, पृ0 369
4. काशिका – 4/1/113, पृ0 346
5. काशिका – 5/1/74, पृ0 337

महत्व था और वैदिकों मे वैखानस का धीरे धीरे जब वैदिको और बौद्धों मे जब बहुत–सा सांस्कृतिक आदान–प्रदान हुआ, तब वैदिकों ने बौद्धों के अन्तिम आश्रम को भी आत्मसात् कर लिया तो भी दोनों आश्रमों का अन्तर बहुत काल तक स्पष्ट नही हो पाया।

महाभाष्य में जिस प्रकार वेदों को 'त्रैविद्य' भी कहा है और चातुर्वैद्य भी उसी प्रकार चातुराश्रम्य का उल्लेख करते हुए भी विवरण तीन का ही दिया गया है। कालिदास के समय तक यही स्थिति बनी रही। रघुवंश के प्रारम्भ मे उन्होंने तीन आश्रमों का ही उल्लेख किया है और तृतीय आश्रम को 'मुनिवृत्ति' का आश्रम कहा है।

'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।''–(रघुवंश)

अभिज्ञानशाकुन्तल मे भी उन्होने गृहस्थ के बाद वैखानस आश्रम का ही उल्लेख किया है। दुष्यन्त शकुन्तला के विषय मे जिज्ञासु भाव से पूछता है–'वैखानसं किमनया व्रतमाददानाद् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।।'

''बौधायन धर्मसूत्र में संन्यास को असुर–प्रवर्तित कहकर उसकी निन्दा की है।''[1]

भास के नाटकों मे यद्यपि कही पर भी आश्रमों का उल्लेख नही किया गया है फिर भी विषय व्यापार की दृष्टि से आश्रमों का उल्लेख करना युक्ति युक्त प्रतीत होता है जिससे विषय की इतिवृन्तयात्मकता को एक सुद्रढ़ बल मिलता है।

1. बौधायन धर्मसूत्र - प्रश्न-2, ख 11

3. खानपान

समाज को हम भोजन के आधार पर दो भागों मे बॉट सकते है।– अन्नाद और कव्याद। पकाये हुए धान्य या सस्य को अन्न कहते थे और उसे खाने वाले को अन्नाद। इसी प्रकार मांस को पकाकर खाने वाले कव्याद कहलाते थे। धान्य और मांस को बिना पकाये, अर्थात कच्चे रूप मे खाने वालों को क्रमशः आमाद और कव्याद कहते थे।

1. ओदन :-

खानपान मे चावल की कई श्रेष्ठ प्रजापियों का वर्णन मिलता है, शालि, महाशालि, ब्रीहि, महाब्रीहि, हायन, यवन, षष्ठिक एवं नीवार आदि, ये धान्यों के प्रमुख भेद है। जिसका अनुमोदन चरक ने भी किया है, सुश्रुत ने चावल की जगह महाशालि का उल्लेख किया है जो चावल की एक प्रजाति है जब चीनी यात्री नालन्दा विश्वविद्यालय मे ठहरा था तो उसे वहॉ यही महाशालि चावल खाने को दिया गया और फिर उसकों ये सोंधा चावल भूला नहीं, मगध में ये एक अद्भुद जाति का चावल होता है, जिसके दाने बड़े सुगंधित और खाने में अति स्वादिष्ट होते है। इसे धनिकों का चावल कहते है। भास के नाटक चारूदत्त मे भी गुड घी, दही और चावल का उल्लेख मिलता है।

'घृतं गुडो दधि तुण्डुलाश्च सर्वमस्ति'[1]

तण्डुल भारत का मुख्य भोजन था। भाष्यकार ने भी कहा है कि तण्डुल भूख मिटाने मे असमर्थ होता है, किन्तु उनका समूह वर्धितक (ढेर) समर्थ होता है। तण्डुल से बनाये जाने के कारण ओदन को तण्डुल विकार कहते है।[2]

---

1. चारूदत्तम् – भास – 1/4
2. काशिका – 1/4/49, पृ0 173

2. यवागू :-

ओदन के बाद यवागूं का व्यवहार सर्वाधिक था। सक्तु ही इसके समकक्ष थे। यवागू स्वास्थ्यप्रद और सात्विक मानी जाती थी। इसीलिये वृतकाल मे भी उसका व्यवहार विहित था। ब्राह्मण दुग्धपीकर, क्षत्रिय यवागू पीकर और वैश्य अमिक्षा ग्रहण कर व्रत या उपवास रखते थे।[1] ओदन के समान यज्ञ मे यवागू की आहुति दी जाती थी। यह भी प्रसिद्ध था कि जौ का सेवन सुस्पष्ट उच्चारण की शक्ति प्रदान करता है और यवागू मूत्ररोगों को शान्त करती है।[2]

सामान्यतया यवागू यव से बनाई जाती थी, उशीनगर और मद्र जनपदों में जौ की पैदावार अधिक होती थी। इस प्रकार पूर्वीय भाग का मुख्य भोजन चावल था और पश्चिम भारत का यव। भासकालीन नाटकों मे ज्यादातर खानपान ओदन की तरह जौ की लपसी जनता का प्रिय भोजन थी। साल्व जनपद में यवागू लोगों का विशेष प्रिय भोजन था। यह जनपद अलवर से बीकानेर तक फैला था। आज भी वहाँ लपसी खाने का रिवाज है जिसे राबड़ी कहते हैं।[3] वहाँ दो प्रकार की यवागू बनती है। एक पतली जिसे लपसी कहते हैं और जो पी जाती है। धनी लोगों के घरों मे यह मीठी बनायी जाती है। दूसरी कुछ गाढ़ी राबड़ी कहलाती है। नमकीन राबड़ी साधारण लोगों का भोजन है। चरक में यवागू के 28 योग कहे हैं (सूत्र स्थान अ0 2)। सुश्रुत मे मंड, पेया, विलेपी, तीन प्रकार की यवागू कही गई है (सुश्रुत सूत्र, अ046)

---

1. काशिका - 5/1/2, पृ. 294
2. काशिका - 2/3/14, पृ0 417
3. और भी बाह्मणों के लिए ओदन का भोजन- आश्र्चर्यमिदं वृत्तमोदनस्य च नाम पाको ब्राह्मणानां च प्रादर्भाव इति (भाष्य 2/3/65)

सबसे पतली यवागू मंड उससे कम पतली पेया और गाढ़ी विलेपी कहलाती थी।

3. सक्तु :-

सक्तु का प्रचार हर युग मे विशेष जान पड़ता है। सक्तु किसी भी भुने हुये अन्न से बनते थे। सामान्यतया ब्रीहि, यव और गोधूम सक्तु बनाने के काम आते थे। इनके दानों (धाना) को सक्तव्य कहते थे। भूनने के बाद उन्हें चक्की (दृषद्) में पीसना पड़ता था, इसीलिये भाष्यकार ने उन्हें दार्षद कहा है। पिसे हुये सक्तु चलनी में छानकर साफ किये जाते थे। 'भाष्यकार ने व्याकरण द्वारा शुद्ध की गई वाणी की उपमा–चलनी से छाने गये सक्तुओं से दी है।'[1] सक्तु शब्द 'षच्' धातु (सेचने) से तुन् प्रत्यय होकर बना है, जिसका अर्थ है दुश्शोध्य। अथवा कस् (गतौ) धातु से वर्ण–व्यत्यय द्वारा 'विकसन' अर्थ मे प्रपोदरादित्वात् कर्म में तुन् प्रत्यय होकर सक्तु शब्द बनता है। इस प्रकार सक्तु शब्द का अर्थ कठिनता से साफ किया हुआ अथवा फैलने या फूलने वाला होता है और यह पूर्णतः सार्थक है।'[2] सक्तु अधिकतर यव के बनते थे, यव का सत्तु भोजन मे विशेष माना जाता था, सत्तु चीनी तथा पानी में घोलकर भी खाया जाता था तथा सक्तु पानी में घोलकर नमक डालकर आग पर पकाते है और कड़ा हो जाने पर खाते हैं यह आज भी पीठा कहलाता है। 'सिंधु जनपद के लोग भी सक्तु खाने के अभ्यासी थे जिससे वह भाग सक्तु सिंधु कहलाता था।'[3] उत्तरी सिंधु दुआब में जिला डेरा इस्माईल खाँ की तरफ आज भी सक्तु वहाँ का जातीय भोजन है। स्त्रियाँ सक्तु की सौगात भेजती हैं

---

1. सक्तुमिव तितउना पुनन्तः। - भाष्य - अ0 1, पृ0 8
2. वही
3. पाणिनि कालीन भारतवर्ष - वासुदेवशरण अग्रवाल - पृ0 62

और यात्रा मे यात्री सक्तु बाँधकर चलते हैं। महाभारत में सिंधु के राजा जयद्रथ को क्षीरान्नभोजी कहा गया है।[1]

4. संयाव :-

कुल्लूक (संयावो धृतक्षीर गुड, गोधूम, चूर्ण सिद्धः मनु, 5/6) के अनुसार घी, दूध, गुड, और गेंहू के आटे से बने हुए भोजन को संयाब कहते थे। यह ठीक आजकल का हलुआ हुआ। सुश्रुत ने भी इसे मधुर भोजन कहा है। भास ने भी अपने नाटकों मे इस बात का उल्लेख किया है।

5. मोदक :-

'मोदक भी चूर्णान्न, शर्करा और धृत से बनते थे। मोदकों के ढेर को मौदकिक कहते थे।'[2] मोदक वास्तव में मोददायक थे और बड़े चाव से खाये जाते थे। 'भाष्यकार ने कहा है, देवदत्त का अभिप्राय मोदक खाने से है।'[3] भास के नाटक स्वप्नवासवदत्तम् में भी मोदकादि खाद्य पदार्थों का उल्लेख इस प्रकार से है–

प्रकृतमधुरसुकुमाराणि प्रकृत्यामधुराणि प्रकृतिमधुराणि च तानि सुकुमाराणि स्वभावमिष्टकोमलानि मोदकखाद्यानि मोदकखाद्यास्तद्रूपाणि लड्डुकादीनि खाद्यानि भोज्यवस्तूनि। खाद्यन्ते भक्षयन्ते।[4]

6. कुल्माष :-

पौर्णमासी का एक नाम कौल्माषी भी था। कुल्माष घुघरी को कहते थे और सम्भवतः चैत्री पूर्णिमा को उसका मुख्यरूपेण आहार होता था। निरूक्त

1. महाभारत - वेदव्यास - द्रोणपर्व - 76/18
2. काशिका - 4/2/39, पृ0 179
3. काशिका - 5/1/119, पृ0 353
4. स्वप्नवासवदत्तम् - भास - 4/81

में कुल्माष को 'अवकुत्सित' आहार कहा है छान्दोग्य उपनिषद में भी इसे दरिद्र भोजन कहा गया है।[1] गेंहूँ, जुंधरी या बाजरा आदि मोटे अन्न को इतने पानी में उबाल कर कि पानी उसी में भिद जाय और उसमें तेल या घी को चिकनाई और गुड़ या राब मिलाकर (पिण्डा) लड्डू बनाया जाता था और प्रायः इसका भोजन किया जाता था।

7. गव्य पदार्थ :-

दूध से बने हुए पदार्थों को गव्य या पयस्य कहा जाता है। (4/3/160) दूध दही मट्ठा– इनका सूत्रों में उल्लेख है (4/2/18 दधिपयसी, 2/4/14) गणपाठ)। सूत्र 7/2/18) में जिस फाण्ट का उल्लेख है वह भी गव्य पदार्थ ही था। शतपथ ब्राह्मण (3/1/8) मे उसी दिन के दूध से तत्काल निकाले हुए मक्खन को फाण्ट कहा है। पहले दिन के दूध का दही जमाकर अगले दिन प्रातः काल उसे मथकर जो निकलता था उसे मक्खन कहते है। बालचरित् नाटक मे भी दूध, दही, मट्ठा, मक्खन, खीर आदि का उल्लेख मिलता है–

'श्रृणोतु भर्ता। एकस्मिन गेहे गत्वा दधि भक्षयति। अपरस्मिन् गेहे गत्वा नवनीतं गिलति। अन्यस्मिन् गेहे गत्वा पायसं भुङ्क्ते। इतरस्मिन् गेहे गत्वा तक्रघटं प्रलोकते। किं बहुना, अस्माकं घोषस्य पतिर्भवति।'[2]

जिस जनपद के लोग जिस तरह के पेय पदार्थ के शौकीन थे, उससे उस जनपद का नाम भी पड़ जाता था जैसा कि दृष्टव्य है–

'क्षीरं पानं येषांते क्षीरपाणा उशीनराः; सुरापाणाः प्राच्याः;
सौवीरपाणा वाल्हीकाः; कषायपाणा गन्धाराः। 'क्षीरपाणा उशीनराः'

---

1. छन्दोग्य उपनिषद - 1/10/2
2. बालचरित - भास - 1/30

चरक के अनुसार प्राच्य जनपद में मत्स्य भोजन, सिंधु जनपद में क्षीर भोजन एवं वाहीक (बल्ख) शूलिक (काशगर) और चीन के लोगों मे अंगूरी शराब पीने का आम रिवाज था। 'मट्ठा वाल्हीक देश में रहने वालों का प्रिय पानक था।'[1]

8. शाक और फल :-

भास कालीन नाटकों के लोगों का शाक, भाजी एवं खाद्य पदार्थों में आम और जामुन, कन्दमूलादि पदार्थों का उल्लेख है–

'घृतगुडदधिसुसमृद्धं धूपितसूपोपदंशसंभिन्नम्।
सत्कारदत्तभिष्टं भुज्यतां भक्तमार्येण।।'[2]

9. मांस :-

शाक और सूप के समान ही मांस भी ओदन का सहायक आहार था। मांस का व्यवहारसमाज में बहुत अधिक था। विशिष्ट अतिथियों के लिये समांस मधुपर्क की प्रथा चल चुकी थी, इसलिये उन्हें मांसौदनिक अतिथि कहते थे। शाङ्गं और कपोत के भक्षण का भी उल्लेख मिलता है।

पक्षियों के अतिरिक्त मछलियाँ भी खाद्य थी खाने के लिये उनका भी शिकार करने की प्रथा थी। पशुओं में मृग का मांस मुख्यतः उच्चवर्ग मे खाया जाता था। भास के नाटक मे भी मद्यपान का उल्लेख है–

पानगारान्निष्क्रान्तो दृष्टोऽस्मि मम श्रवशुरेण सुरुष्टेन। अमृतमल्लकेन घृतमरिचलवणरूषितो मांसखण्डो मुखे प्रक्षिप्तश्र्च। स्नुषा रज्यति पीता यदि श्रवश्रूर्ननु दण्डोद्यता भवति।[3]

---

1. महाभारत - कर्णपर्व - 30/24
2. चारुदत्तम् - भास - 1/1/7
3. प्रतिज्ञायौगन्धराणम् - भास - 4/107

4. मनोरंजन

सङ्गीत :–

सङ्गीत और वाद्यकर्म को उस समय तक शिल्प के रूप में पदारूण किया गया था जिसे अब एक मनोरंजन (ललितकला) का पद दिया जाता है। केवल मडडुक, झर्झर, जैसे बाजो का बजाना कला है, बल्कि नृत्य और गायन को भी ललित कला का प्रधान अंग माना गया है। जातक युग की भी यही विशेषता थी और संगीत की गणना शिल्पों में की जाती थी। अर्थशास्त्र मे भी गीत, वाद्य, नृन्त नाट्य को संगीत का अङ्ग माना है। पाणिनि के कई सूत्रों मे वीणा का भी उल्लेख मिलता है। इसके अलावा मिट्टी का घड़ा भी वाद्य के रूप मे प्रयोग किया जाता था नाट्यशास्त्र में इसे दर्दर वाद्य की संज्ञा दी गई है। भास के नाटक अविमारक मे नारद जी के द्वारा वीणा के विविध स्वरों से गीत गायन किया गया है–

वेदैः पितामहमहं परितोषयामि
गीतैः करोमि हरिमुद्तरोद्गमहर्षम्।
उत्पाद्याम्यहरहर्विविधैरूपायै–
स्तन्त्रीषु च स्वरगणान् कलहांश्च लोके।।'[1]

प्रतिज्ञायौगन्धरायण् नाटक मे सूत्रधार आर्ये से कहता है कि तुम गाना आरम्भ करो, तुम्हारी संगीत लहरी से जब दर्शक प्रशन्न हो जायेगे तब हम अभिनय आरम्भ करेंगे–

'आर्ये! गीयतां तावत् किञ्चिद् वस्तु। ततस्तव गीत प्रसीदिते रङ्गे वयमपि प्रकरणमारभामहे! आर्ये। किमिदं चिन्त्यते ननुगीयते।[2]

---

1. अविमारक – भास – 6/11/167
2. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् – भास – 1/3/4,

भास के नाटक बालचरित मे हल्लीसक नृत्य का वर्णन मिलता है–

'निर्भर्त्स्य कालियमहं परिविस्फुरन्तं

मूर्धाञ्चतैकचरणपूचलबाहु केतुः।

भोगे विषोल्बणफणस्य महोरगस्य

हल्लीसकं सललितं रूचिरं वहाभि।।''[1]

अन्य जगहों पर भी हल्लीसक नृत्य के वर्णन द्रष्टव्य है–

'आश्चर्य भर्तः! आश्चर्यम्। कालियस्य पञ्च फणानाक्रामन हल्लीसकं प्रकीडति।'[2]

'अद्य भर्तृदामोदरोऽस्मिन् वृन्दावने गोपकन्यकाभिः सह हल्लीसकं नाम प्रकीडितुभागच्छति।'[3]

2. मल्ल विद्या :-

मल्ल विद्या का महत्व अपने मे कम नही था। मल्ल लोग नियमित अभ्यास, व्यायाम और संयम द्वारा असाधारण शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। दो मल्लो की प्रतियोगिता जनसाधारण के मनोरंजन का विषय थी। भाष्यकार ने 'मल्ल मल्ल के लिये पर्याप्त है मल्ल दूसरे मल्ल के लिये समर्थ है''[4] आदि उदाहरण देकर मल्ल विद्या के प्रदर्शनो की ओर संकेत किया है। मल्ल लोगों के दाँव–पेचों और पकड़ के लिये 'संग्राह' शब्द का प्रयोग होता था। मल्ल विद्या और मुष्टिक विद्या बड़ी लोकप्रिय थी। भास के नाटक मे भी मुष्टिक मल्ल को मारते समय बलराम जी का उद्दीप्त तेजस्वीरूप सामने

---

1. बालचरितम् - भास - 4/6/77
2. बालचरितम् - भास - 4/78
3. बालचरितम् - भास - 3/57
4. काशिका - 2/3/16, पृ0 418

आता है और वे मुष्टिक से कहते हैं –

'त्वामद्य मुष्टिक यमाय निवेदयामि'[1]

लोग इस विद्या को बहुत पसन्द करते थे और एक अभूत पूर्व सुख का अनुभव करते थे।

3. द्यूत क्रीडा :-

द्यूत क्रीडा का प्रचार प्राचीन भारत में बहुत अधिक रहा है। द्यूत शब्द दिव् धातु से बना है ऋग्वेद (2/29/5) में द्यूत खेलने वाले को कितव कहा है। यही धर और सायण ने तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/4/16/1) मे इसे सदा खेलने वाला खेल बताया है। इसे लोग गीत, वाद्य आदि से ज्यादा मनोरंजन के रूप में पसन्द करते थे। कुछ लोग द्यूत क्रीडा मे विशेष निपुणता प्राप्त कर लेते थे और प्रसिद्धि पा जाते थे।[2] कुछ लोग छल और धूर्तता से खेल मे विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। ये लोग अक्ष–द्यूर्त और अक्ष–कितब कहे जाते थे।[3] काशिकाकार ने कहा है कि पासे जीतने की इच्छा से ही फेंके जाते हैं। जीतने की इच्छा में द्यूत शब्द का प्रयोग होता था, अन्यथा दिव् धातु के आगे क्त प्रत्यय लगाने पर द्यूत शब्द बनता था।[4]

भास के नाटक दूतवाक्यम् मे युधिष्ठिर द्यूत क्रीडा मे अपना सर्वस्व नष्ट होने के पश्चात् अपने भाइयों से कहते है कि मैं तो नीच हूँ। मेरी बुद्धि पलटी हुई है पर तुम दोनों तो न्याय और अन्याय जानने वाले हो। इसलिये इस समय क्रोध को किसी प्रकार शान्त करो। जुये में अपना अधिकार खोकर और

---

1. बालचरितम - भास - 5/96
2. ऋग्वेद - 2/1/1, पृ0 228
3. ऋग्वेद - 2/1/40, पृ0 294
4. काशिका - 8/2/49

अपमान को न सहकर अपने से बल में अधिक इन शत्रुगणो पर शक्ति प्रदर्शित करना तो मात्र अपनी वाचनिक वीरता होगी और यह गान्धार देश का राजा यह धूर्त पासे को फेंकता है और गर्व से भरा हुआ हँस भी रहा है मानो अपनी कीर्ति से शत्रुओं की प्रसन्नता को संकुचित कर रहा हो यह द्युतनीति का पारङ्गत पण्डित शकुनि अपने आसन पर स्वच्छन्दता पूर्वक बैठा हुआ एक ओर आकाश में कुछ लिख रहा है तो दूसरी तरफ रोती हुई द्रोपद्री की ओर देख भी रहा है–

'नीचोऽहमेव विपरीतमतिः कथं वा
रोषं परित्यज्ञतमद्य नयानयज्ञौ।
द्यूताविकारमवमानममृष्यभाणाः
सत्त्वाधिकेषु वचनीयपराक्रमाः स्युः।।'[1]

'अक्षान् क्षिपन् स कितवः प्रहसन सगर्व
सङ्कोचयन्निव मुदं द्विषतां स्वकीर्त्या।
स्वैरासनो द्रुपद राजसुतां रूदन्तीं
काक्षेण पश्यति लिखत्यभिखं नयज्ञः।।''[2]

4. अन्य त्योहार :-

स्त्रियों के मनोरंजन के कुछ अन्य साधन थे। तीज–त्योहारों का जहाँ धार्मिक महत्व था, वहाँ सामाजिक भी। इन अवसरों पर घरों मे विशेष चहल–पहल हो जाती थी। विशेष पकवान बनाये जाते थे गाँव भर की स्त्रियाँ एक स्थान पर पूजा के लिये एकत्र होती थीं। ऐसे उत्सवों में गुडापूपिका,

---

1. दूतवाक्यम् - भास - 1/11/16
2. दूतवाक्यम् - भास - 1/12/17

तिलापूपिका, वटकिनी और कौल्माषी पौर्णमासियों का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।[1] इन पौर्णमासियों को गुड़ के पुए, तिल के पुए या तिल–मिले हुए बड़े और कुल्माष या धुगरी खाने का महत्व था।

5. शारद्यूत :-

द्यूत के समान ही चौपड़ का भी प्रचार था। इसमें ग्लह नही होता था, अतः यह विशुद्ध मनोरंजन था। इसके लिये दो वस्तुएँ आवश्यक थीं। आकर्ष जिस पर चौपड़ बिछाई जाती थी और शार अर्थात् गोटियां।[2] आकर्ष एक चौकोर खानेदार या कोष्ठमय फलक होता था। आकर्ष मे कुशल व्यक्ति आकर्षक कहलाता था। गोटियाँ आकर्ष के कोष्ठों मे इधर–उधर घूमती थी। गोटियों को एक खाने से दूसरे खाने में ले जाना 'परिणाय' कहलाता था परिणाय का अर्थ था चारों ओर ले जाना। भाष्यकार के मत से आकर्ष के उस भीतरी कोष्ठ को 'अयानय' कहते थे, जिसमें गोटी के पहुँच जाने पर उसे कोई गोटी काट नहीं सकती थी। इस खाने में पहुँची हुयी गोटी को अयानयीन कहते थे। अय का अर्थ था दाँया और अनय का अर्थ था बाँया। दायें–बायें चलने वाली गोटियाँ जिसमें अपने पाँव नही रख सकती थी उसे 'अयानय' कहते थे।

6. उद्यान-यात्रा :-

उद्यान या उपवन नगर से बाहर होते थे। लोग सारा दिन वहाँ बिताते थे और मनोरंजन के लिये वहाँ अन्य क्रीडाओं का भी आयोजन करते थे।

---

1. तदस्मिन्नयनं प्रायेण संज्ञायाम्, गुडाशपिका पौर्णमासी, तिलापूपिकाप्राये संज्ञायां वटकेभ्य इनिर्वक्तव्यः - वटकिनी पौर्णमासी, 5/2/82 तथा कुलमाषादञ् - काशिका - 5/2/83, पृ0 400
2. द्यूते तावत् परिणायेन शारान् हन्तिः समन्तान्नयनेन - काशिका - 3/3/37

कामसूत्र मे इन क्रीडाओं को समस्य क्रीडा या सम्भूय क्रीडा कहा है, जिनमें अनेक लोग एक साथ भाग लेते थे। पुष्पावचय क्रीडाएँ स्त्रियों में विशेष प्रचलित थी, किन्तु उद्यान यात्राओं में पुरूष और स्त्री समान रूप से भाग लेते थे। भास के अविमारक नाटक में राजकुमारी के उद्यान यात्रा का वर्णन है–

'आर्ये! ननु भवत्या श्रुतम्–उद्यानं गता रापुत्रीति। तस्मात् सम्प्रति सर्वतः परिगुप्तानि भवन्त्युद्यानानि। प्रतिनिवृत्तायां राजसुतायां स्वैरं गमिष्यावः।'[1]

इसके अतिरिक्त मग्रया, प्रहरण क्रीडा, पुष्पावचय, अपानगोष्ठी, अक्षद्यूत आदि भी मनोरंजन के अन्तर्गत आते थे।

---

1. अविमारक – भास – 1/3
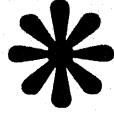
5. रोग

रोग को उपताप, व्याधि और स्पर्श कहते थे। स्पर्श सम्भवतः संक्रामक रोग कहलाते थे। भाष्य में बहुत से रोगो और औषधियों के नाम मिलते है।

1. ज्वर :-

ज्वर कई प्रकार के होते है। कोई प्रतिदिन चढता है और कोई चौथे दिन। इन्हें क्रमशः द्वितीयक और चतुर्थक ज्वर कहते थे।[1] विष–पुष्पों के सम्पर्क से एवं काश पुष्पों के स्पर्श से भी ज्वर उत्पन्न हो जाता है। ऐसे ज्वर क्रमशः विष–पुष्पक और काश पुष्पक कहे जाते थे।[2] उष्णक ज्वर मे रोगी का ताप अधिक मालूम होता है और शीतक ठंड या जूडी देकर बढता है।[3] भास ने अपने नाटक स्वप्नवासवदत्तम् में भी रोगादि का वर्णन किया है –

'शय्या नावनता तथास्तृतसमा न व्याकुल प्रच्छदा
न क्लिष्टं हि शिरोपधानममलं शीर्षाभिघातौ षचैः।
रोगे दृष्टिविलोभनं जनयितुं शोभा न काचित् कृता
प्राणी प्राच्य रूजा पुनर्न शयनं शीघ्रं स्वयं मुञ्चति।।"[4]

2. क्षय-रोग :-

कुछ रोग असाध्य माने जाते थे। जिसकी चिकित्सा इस लोक मे नहीं, पर क्षेत्र या शरीर–त्याग के ही बाद सम्भव होती है। ऐसे राजयक्ष्मादि रोग क्षेत्रीय कहे जाते थे।[5] भास ने भी अपने नाटकों मे क्षय रोग का वर्णन किया

---

1. काशिका – 5/2/81
2. वही – 5/2/81
3. काशिका – 5/2/81
4. स्वप्नवासवदत्तम – भास –5/4/142
5. काशिका – 5/2/82, पृ0 402

है–

'विचित्रवीर्यो विषयी विपत्ति क्षयेण यातः पुनरम्बिकायाम्।
व्यासेन जातो धृतराष्ट्र एष लभेत राज्यं जनकः कथं ते।।''[1]

'एतानि मोदकानि कस्थूलिका फेनपाण्डराणि बहुपिष्टसमृद्ध कोमलानि निष्ठानिताः सुरा इव मधुराणि। मा ते खादितानि क्षयमुत्पादयन्तु।[2]

3. अन्य रोग :-

जानु या घुटनों की पीड़ा वातिक होती है। खाज या खुजली की पीड़ा कम नही होती। शरद मे होने वाले मौसमी रोग शारद या शारदिक कहे जाते थे। अतीसार छर्दिका (वमन व्याधि) प्रवाहिका (दस्त), सन्निपात, वैपादिक (पादरोग), द्रद्रु (दाद) अण्डकोष की वृद्धि या भुष्कता, अरोचकता या अरूचि, अर्श,[3] कुष्ठादि उपताप[4], वातरोग, हृदयरोग, विगलित सिध्म (एक प्रकार का कुष्ठ) श्वेतकुष्ठ, उल्कन्दक, प्रच्छर्दिका (अम्लपित्त) पामन् (चर्मरोग) कुछ रोग मासिक होते है। वे लगभग मास भर टिकते है और कुछ के अच्छे होने मे छह महीने लग जाते है।
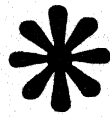
1. दूतवाक्यम् – भास – 1/22/29
2. प्रतिज्ञायौगन्धरायण – भास – 3/84
3. काशिका – 5/2/127
4. काशिका – 5/2/128

6. संस्कार

भास के नाटकों में नामकरण, चूडाकर्म और उपनयन संस्कारों का ही स्वतन्त्र रूप से उल्लेख मिलता है।

1. नामकरण :-

नाम जन्म से दस दिन बाद रखा जाता था। दस दिन तक अशौच मनाया जाता था। भाष्यकार का 'दशम्युत्तरकालं जातस्य पुत्रस्य नाम विद्ध्यात्'[1] (आ02, पृ 9) कथन शतपथ–ब्राह्मण का प्रतिध्वनि–मात्र है। नाम माता व पिता मिलाकर निश्चित करते थे।[2] नामकरण माता–पिता मिलकर घर के भीतर ही 'संवृत अवकाश' मे कर लेते थे।[3]

नाम रखने के विशिष्ट नियम थे। नाम का प्रारम्भ घोषवत् व्यंजन से होता था। मध्य मे अन्तःस्थ व्यंजन रहता था। वृद्ध अक्षर–रहित, तीन पीढियों के नाम के अनुसार शत्रुवर्ग में अप्रतिष्ठित, दो या चार अक्षर वाला कृदन्त नाम श्रेष्ठ माना जाता था। तद्धितान्त नाम नही रखा जाता था। पारस्कर गृहसूत्र (1/17/1) तथा वसिष्ठ धर्मसूत्र (अध्याय 4) मे भी इस कथन का समर्थन मिलता है। आश्वलायन में द्वयक्षर को प्रतिष्ठा तथा चतुरक्षर को ब्रह्मवर्चस् का दायक बतलाया है।[4] पारस्कर[5] और वैजवाप[6] ने कन्या के नाम के लिये पृथक

---

1. तस्मात् पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात्। - शतपथ ब्रा0 - 6/1/3/9
2. वीरमित्रोदयसंस्कार -प्रकाश, भाग 1, पृ0 241 में उद्धत वैजवाप
3. लोके तावन्मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवकाशे नाम कुर्वीत देवदत्तो यज्ञदत्त इति - भाष्य - 1/1/1, पृ0 94
4. आवश्वलायन गृ0 सू0 - 1/15/5
5. पारस्कर गृ0 सू0 1/17/3
6. त्र्यक्षरमीकारान्तं स्त्रियाः- वैज0 वीरमित्रो0 भाग 1, पृ0 243

नियम दिये है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नामों में भी अन्तर रहता था। ब्राह्मण नामों के अन्त में दत्तादि, क्षत्रिय नामों के अन्त में 'वर्मन' और वैश्य नामों के अन्त में पालितादि वर्णबोधक शब्द रखे जाते थे।

मनु के मत से ब्राह्मण का नाम मांगल्य, क्षत्रिय का बलान्वित[1] वैश्य का धन--संयुक्त और शूद्र का जुगुप्सित होना चाहिए। व्यास के अनुसार ब्राह्मण का नाम शर्मान्त और क्षत्रिय का वर्मान्त, वैश्य को गुप्तान्त और सूत्र को दासान्त होना चाहिए।[2] आपस्तम्ब–गृह सूत्र (1/15/4) मे नक्षत्र और नक्षत्र देवता के नाम पर नाम रखने का विधान है। शंख और लिखित ने पिता या अन्य कुल–वृद्ध को नक्षत्रों से सम्बद्ध नाम रखने का आदेश दिया है।[3] इसी प्रकार पतंजलि के समय में लडकियों के नाम भी नक्षत्रों पर रखे जाने लगे। महाभाष्य में चित्रा, रेवती, रोहणी, फाल्गुनी आदि कन्याओं के नाम मिलते है।

भास के नाटक अविमारक मे भी नामकरण संस्कार का उल्लेख मिलता है–

'सौवीरराजश्चासावत्यन्तसन्तुष्टः प्रीतिसदृशीः क्रियाः कृत्वा विष्णुसेन इति संज्ञामकरोत्।''[4]

हमारी भारतीय संस्कृति मे सोलह संस्कारों का वर्णन किया गया है।

---

1. मनुस्मृति – 2/31
2. व्यासः – राजबली पाण्डेय – हिन्दूसंस्कार, पृ0 138
3. नक्षत्राणांसम्बद्धं पिता वा कुर्यादन्यः कुलवृद्ध इति– वीर0 मि0 संस्कार प्रकरण, पृ0 237 पर उद्धत
4. अविमारक – भास – 6/175

जिनमे वैसे तो सभी संस्कार होना अनिवार्य है लेकिन नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन और विवाह ये चार प्रमुख है। होना इनका अतिआवश्यक माना गया है।

2. चूड़ाकर्म :-

चूड़ाकर्म को भाष्य ने चौल (चौड) संस्कार कहा है। यद्यपि इसके विषय मे विशेष विवरण भास मे भी नही मिलता, फिर भी अन्यत्र उद्धरणो से इतना स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति कभी मुण्डी, कभी जटी, और कभी शिखी हो सकता था। मुण्डन प्रायः सम्पूर्ण सिर का करा दिया जाता था। कभी–कभी शिखा शेष रख दी जाती थी, किन्तु शिखा का होना अनिवार्य नही था। सम्पूर्ण मुण्डन के लिये ही 'मद्राकरोति' या भद्राकरोति' शब्द भाष्य मे आये है। सम्भवतः मुण्डी और जटी के समान शिखी होना भी एक केश भूषा--प्रकार था। शिखा एक से अधिक भी हो सकती थी। उनकी संख्या प्रवरों के अनुसार होती थी।[1] आश्वलायन के अनुसार कुल धर्म के अनुकूल केश बनवाने की प्रथा थी।[2] लौगाक्षी के अनुसार वसिष्ठगोत्रीय लोग शिरोमध्य भाग में एक शिखा रखते थे। अत्रि और कश्यप वंशों के लोग दोनों ओर दो शिखाएँ धारण करते थे। आंगिरस् लोगों के पाँच शिखाएँ थीं। भृगुवंशीय बिना चोटी के अर्थात् सर्वमुण्डित रहते थे।[3]

चूड़ाकर्म का बहुत महत्व था, क्योंकि उसके बाद बालक को लिखना पढ़ना प्रारम्भ कराया जाता था। भाष्यकार ने चूड़ाकर्म का समय नहीं बतलाया है। आश्वलायन के अनुसार तृतीय, पंचम, सप्तम या अष्टम् वर्ष में अथवा

1. यथर्षि शिखां निदधाति। – आश्व0 ग्र0 सू0, 16–6 तथा वराह गृ0 सू0 अ0 41
2. यथाकुलधर्म केशवेशान् कारयेत्। – आश्वलायन गृ0 सू0 (1/17)
3. वीरमित्रो0 भाग 1, पृ0 315

उपनयन के साथ ही चूडाकर्म करना चाहिए।[1] पारस्कर और मनु ने प्रथम या तृतीय वर्ष का अन्त चूडाकर्म का समय बतलाया है।[2]

3. उपनयन :-

भास ने गर्भ से अष्टम वर्ष में उपनयन का विधान किया है और कहा है कि एक बार उपनयन करने के बाद फिर उपनयन की आश्यकता नहीं होती उन्होने इसे संस्कार कहा है और शास्त्र की आज्ञा से उपनयन का विधान किया है। यद्यपि भास के नाटकों मे से मध्यम व्यायोग नाटक मे कुरूक्षेत्र के यूप ग्राम के रहने वाले माठर गोत्रीय कल्पशाखा के केशवदास नाम के ब्राह्मण जिसके मामा उत्तर दिशा मे उद्यामक नामक ग्राम मे निवास करते थे। उनके पुत्र के उपनयन संस्कार मे केशवदास के सपत्नीक शामिल होने का उल्लेख मिलता है–

'अहं खलु कुरूराजेन युधिष्ठिरेणाधिष्ठित पूर्व कुरूजाङ्गले यूपग्रामवारतव्यो माठरसगोत्रश्र्च कल्पशाखाध्वर्युः केशवदासो नाम ब्राह्मणः। तस्य ममोत्तरस्यां दिश्युद्यामकग्रामवासी मातुलः कौसिकसगोत्रो यज्ञबन्धुर्नामास्ति। तस्य पुत्रोपनयनार्थ सकलत्रोऽस्मि प्रस्थितः।[3]

4. विवाह :-

विवाह की गणना भास ने संस्कारों के अन्तर्गत की है। गृहसूत्र तो प्रायः विवाह–विधि से ही प्रारम्भ होते है और गर्भाधान, पुंसवन सीमन्तोन्नयन आदि के वर्णन करते हुये समावर्तन पर ठहरते है। प्रत्येक विवाह वर–वधू के

---

1. आश्वलायन गृ0 सू0 पृ0 296
2. पारस्कर गृ0 सू0, 2/1/1, 2 तथा मनु0 - 2/35
3. मध्यमव्यायोग - भास - 1/35

पारस्परिक पाणि—ग्रहण पूर्वक स्वकरण द्वारा सम्पन्न होता था। इसलिये भार्या पाणिगृहीती कही जाती थी।

इस प्रकार भास के नाटकों का सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि तत्कालीन समाज मे इन चारों संस्कारों को प्रमुखता दी जाती रही है।
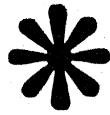
7. नारियाँ

स्त्री शब्द मातृत्व की ओर संकेत करता है। स्त्री शब्द 'स्त्यै' धातु से बना है जिसका अर्थ है गर्भधारण करने वाली। स्त्री के जीवन के अनेक क्षेत्रों का अन्यान्न ग्रन्थों से हमें परिचय मिलता है। कुमारी पत्नी, माता, आचार्या आदि दशाओं में उनके जीवन की कुछ झाँकी तत्कालीन भाषा के शब्दों में मिलती है। आयु के प्रथम भाग में कुमारी, किशोरी और कन्या कहलाती थी। विवाह सम्बन्ध में बँध जाने के पश्चात् पुरूष के साथ शारीरिक सम्बन्ध होने पर स्त्री का कन्या कहलाना बन्द हो जाता है। विवाहिता स्त्री के लिये जाया, पत्नी और जानि शब्द प्रयोग होते थे। पति के जीवन काल में पत्नी ग्रह स्वामिनी होती थी, पत्नी के भरण पोषण का भार पुरूष पर होता था पति द्वारा पोषित होने के कारण पत्नी को भार्या भी कहते थे। नवोढ़ा भार्या को वधूटी और चिरण्टी कहते थे। ये शब्द भार्या की यौवन–सम्पन्नता को व्यक्त करते थे। विवाहित स्त्रियों को पति के नाम के आधार पर पुकारने की प्रथा थी। गोत्र जनपद और वैदिक चरणों के नाम से स्त्रियों के नामकरण की प्रथा का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। इससे स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा और गौरवात्मक स्थिति का संकेत मिलता है।

महाभारत काल में प्रायः सब स्त्रियों के नाम माद्री, कुन्ती, गान्धारी, द्रोपद्री, उत्तरा, सुभद्रा आदि इसी के उदाहरण है–

भास में इनका वर्णन अधिकतर मिलता है।

'कौरव्यकुलदीपेन पाण्डवेन महात्मना।
सनाथा या महाभागा पूर्णेन द्यौरिवेन्दुना।।''[1]

---

1. मध्यमव्यायोग – भास – 1/38

'पूर्व कुन्त्यां समुत्पन्नो राधेय इति विश्रुतः।

युधिष्ठरादयस्ते मे यवीयांसस्तु पाण्डवाः।।''[1]

तथा दूतवाक्य मे और ऊरूभङ्ग मे द्रोपद्री का वर्णन इस प्रकार मिलता है–

'अक्षान्क्षिपन् स कितवः प्रहसन् सगर्व

सङ्कोचयन्निव मुदं द्विषतां स्वकीर्त्या।

स्वैरासनो द्रुपदराजसुतां रूदन्तीं

काक्षेण पश्यति लिखत्यभिखं नयज्ञः।।''[2]

'अये एतत्खलु द्रौपदीकेशघर्षणावमर्षितस्य पाण्डवमध्यमस्य भीमसेनस्य भ्रातशतवधकुद्धस्य महाराजदुर्योधनस्य च द्वैपायनहला युधकृष्ण विदुर प्रमुखानां कुरूयदुकुल दैवतानां प्रत्यक्षं प्रवृत्तं गदायुद्धम्।[3]

इसके पश्चात दूतवाक्यम् मे देवकी का वर्णन इस प्रकार मिलता है–

'हन्त प्रविष्टा देवकी यावदहमपि नगरद्वारं संश्रयामि[4]

पञ्चरात्रम् नाटक मे सुभद्रा एव उत्तरा का वर्णन भी इस प्रकार देखने को मिलता है।

'अवजितः इति तावद् दूषितः पूर्वयुद्धे

दयितसुतवियुक्ता शोचनीया सुभद्रा।

जित इति पुनरेनं रूप्यते वासुभद्रो

भवतुबहु कि मुक्त्या दूषितो हस्तसारः।।''[5]

---

1. कर्णभारम् - भास - 1/7/9
2. दूतवाक्यम् - भास - 1/12/17
3. ऊरूभंगम् - भास - 1/18
4. बालचरित - भास - 1/12
5. पञ्चरात्रम - भास - 2/45/111

'इष्टमन्तःपुरं सर्वमातृवत् पूजितं मया।
उत्तरैषा त्वया दत्ता पुत्रार्थे प्रतिग्रह्यते।।''[1]

ऊरूभङ्ग नाटक मे गान्धारी का वर्णन इस प्रकार है–

'या पुत्र पौत्र वदनेष्वकुतूहलाक्षी
दूर्योधनास्तमित शोकनिपीत धैर्या।
अस्रैरजस्रमधुना पति धर्म चिह्न
मार्द्री नयन बन्धमिदं दधाति।।''[2]

स्वप्नवासव दत्ता मे वासवदत्ता के बारे मे महाकवि भास ने अपनी उन्मुक्त कल्पना शक्ति का प्रयोग किया है इसके साथ–साथ हम ये भी पाते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों का सम्मानित स्थान था। चरण संज्ञक वैदिक केन्दों में वो प्रविष्ठ होकर अध्ययन करती थी। कुछ ऐसे तथ्य प्राप्त होते है जो यह सूचित करते हैं कि मीमांसा और व्याकरण शास्त्र जैसे जटिल विषयों का अध्ययन भी स्त्रियाँ करती थीं। इस प्रकार शिक्षा के केन्द्र में स्त्रियों ने उच्च स्थान प्राप्त कर रखा था। राजनैतिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठा मे यद्यपि कुछ उतार चढ़ाव आयें परन्तु स्त्रियों की गौरवास्पद प्रतिष्ठा में किसी प्रकार की कोई निम्नता नहीं आने पायी।
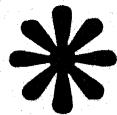
1. पञ्चरात्रम - भास - 2/71/132
2. ऊरूभंगम् - भास - 1/40/44

8. परिवहन

तत्कालीन समय मे यातायात के मुख्य साधन सकट और रथ थे। वे स्थल पथ से व्यक्तियों एवं वस्तुओ को ले जाने के काम आते थे। सामान्यतया 'वह्म' कहते थे।[1] वह्म का अर्थ था ले जाने के साधन शकट आदि।

वाहन दो प्रकार के थे स्थलीय और जलीय। स्थल–वाहनों में शकट और रथ मुख्य थे और जल वाहनों मे नौका, जल के वाहनों को उदवाहन या उदकवाहन कहते थे।[2] कभी कभी ये परस्पर भी एक दूसरे के वाहन बन जाते थे।

1. शकट :-

शकट सवारी के काम आते थे और बोझ ढोने के भी। वे मनुष्यों के एक स्थान से दूसरे पर जाने के साधन थे।[3] कृषि आदि की पैदावार भी उन्ही से ढोई जाती थी। कुछ आचार्यो के मत से जो भी वस्तु गाड़ी मे भरी हो, या जो व्यक्ति गाड़ी मे सवार हो उसके नाम पर गाड़ी के लिये विशिष्ट शब्द का प्रयोग होता था– जैसे–ईख से भरी हुई गाड़ी को इक्षुवाहण, कहते थे।

गाड़ियॉ आकार के अनुसार बड़ी और छोटी होती थी। बड़ी गाड़ी शकट और छोटी शकटी कहलाती थी।[4] शकट और शकटी चलते हुये शब्द करते थे।[5] यदि धुरी मे तेल न पड़ा हुआ, तो गाड़ी कूजती हुई चलती थी।

---

1. वह्यं करणम्, वहन्त्यनेनेति वह्यं शकटम् वाह्यमन्यत्।
   – ऋग्वेद – 1/102
2. काशिका – 6/3/48
3. काशिका – 1/2/24, पृ0 160
4. यत्कूजति शकटम् यती कूजति शकटी, यद्रथः कूजति।
   – भाष्य (8/1/30 पृ0 288)
5. भाष्य – 1/3/21, पृ0 62

व्यापार–वस्तुएं ढ़ोने के लिये गाड़ियों के सार्थ (समूह) एक साथ निकलते थे।[1]

गॉव के तक्षा शकटी और शकट बनाते थे।[2] शकटों में कुछ बहुत बड़े होते थे, जिन्हें खींचने के लिए आठ बैल एक साथ जोते जाते थे।[3] मार्ग ठीक न हुआ तो कभी–कभी चलते हुए शकट टूट जाते थे, इसलिये शकटवाहक को मार्ग के ऊँच–नीच होने का ध्यान रखना पडता था।[4]

शकट से माल ढोना एक व्यवसाय था और आय का साधन था। कुछ लोग केवल यही कार्य करते थे और इसीलिए बैल पालते थे।

भास ने अपने नाटक पञ्चरात्रम मे भी शकटी का उल्लेख करते हुये कहा है कि घी से परिपूर्ण यह शकटी (घी लाने वाली गाड़ी) बारम्बार जल से सींचे जाने पर भी उस प्रकार जल रही है जैसे कोई स्त्री अपने संतान के मर जाने पर ऑसूओं से तर रहने पर भी भीतर–भीतर जलती रहती है–

'शकटी च घृतापूर्णा सिच्यमानापि वारिणा।

नारीवोपरतापत्या बालस्नेहेन दह्यते।।''[5]

2. रथ :-

शकट सामान्य किसान का वाहन था। कृषि–कार्य में तथा बोझ ढ़ोने मे ही उसका उपयोग होता था। लम्बी यात्रा के लिये रथ का व्यवहार होता था। सम्पन्न लोग रथ रखते थे और उसी पर सवारी करते थे। भाष्यकार ने कुण्ड

---

1. वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीनः शकटसार्थ यान्तनोपलम्भे – 3/1/155, पृ0 250
2. भाष्य – 2/3/5, पृ0 408
3. भाष्य – 6/3/46, पृ0 334
4. अनने चेद्यास्यति न शकटं पर्याभविष्यति। – 3/3/156, पृ0 334
5. पञ्चरात्रम् – भास – 1/8/9

या वन तक जाने के लिये रथ के उपयोग का उल्लेख किया है। उन्होने पैदल, घोड़े पर और रथ पर की गई यात्राओं को उत्तरोत्तर शीघ्रतर काल मे सम्पन्न होने वाली कहा है। युद्ध आदि मे भी रथों का बहुतायत प्रयोग किया जाता था। दूतघटोत्कच मे अभिमन्यू के वध होने के पश्चात जैसे ही अर्जुन को जानकारी होती है।

उस समय महाकवि भास ने रथ का वर्णन इस प्रकार किया है–

'अद्याभिमन्युनिधनाज्जनितप्रकोपः

सामर्षकृष्णधृतरश्मिगुणप्रतोदः।

पार्थः करिष्यति तदुग्रधनुः सहायः

शान्ति गमिष्यति विनाशमवाप्य लोकः।।''[1]

इसी क्रम मे प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् के द्वितीय अंक मे कञ्चुकी, अमात्य, शालङ्कायन की अतिशीघ्रगामी रथ की गति का वर्णन किया है–

'न पुरूषः। जवातिशययुक्तेन खररथेन वत्सराजमग्रतः कृत्वा स्वयमेवामात्यः प्राप्तः।[2]

प्राचीन काल मे तमाम रथ यात्राओं का भी वर्णन मिलता है। भास के नाटकों मे भी रथ का उल्लेख है–

'द्रोणश्च भीष्मश्च जयद्रथश्च शल्योऽङ्गराजः शकुनिः कृपश्च।

तेषां रथोत्कम्पचलत्पताकैर्भग्नाध्वजैरेव वयं न बाणैः।।''[3]

1. दूतघटोत्कचम् – भास – 1/5/8
2. प्रतिज्ञायौगन्धराणम् – भास – 2/49
3. पञ्चरात्रम् – भास – 2/11/79

'रिपूणां सैन्यभेदेषु यस्ते परिचितो रथः।
रथचर्यां बहिष्कर्तुं तमास्थायोत्तरो गतः।।'[1]

'युष्यते यदि सौभद्रस्तेजोग्निर्वंशयोर्द्वयोः।
सारथिः प्रेष्यतामन्यो विक्लवात्र बृहन्नला।।'[2]

'आलम्बितो भ्रमति धावति तेन मुक्तो
न प्राप्य धर्षयति नेच्छति विप्रकर्तुम्।
आसन्न भूमिचपलः परिवर्तमानो
योग्योपदेश मिव तस्य रथः करोति।।''[3]

'द्रुमा धावन्तीव द्रुतरथगतिक्षीणविषया,
नदीवोद्वृत्ताम्बुर्निपतति मही नेमिविवरे।
अख्यक्तिर्नष्टा स्थितमिव जवाच्चक्रवलयं–
रजश्चाश्वोद्धूतं पतति पुरतो नानुपतति।।''[4]

'भरतः– 'स्फुरति हृदयं वाहय रथम्'[5]

बोधायन श्रौतसूत्र (20/23) में 'जरद' कदरथ का उल्लेख है। कत्यायन

---

1. पञ्चरात्रम् - भास - 2/14/82
2. पञ्चरात्रम् - भास - 2/25/92
3. पञ्चरात्रम् - भास - 2/27/94
4. प्रतिमानाटकम् - भास - 3/2/87
5. प्रतिमानाटकम् - भास - 3/1/86

श्रोत्रसूत्र (5/3/11) में रथ यात्रा का उल्लेख मिलता है। रथों की सजावट भी की जाती थी, साधारण रथ मामूली चमड़े से मढ़े जाते थे। इसके साथ–साथ वाद्य और चीते के चमड़े भी विशेष रथों को मढ़ने के काम मे लाए जाते थे। ऐसे रथ द्वैप और वैयाघ्र कहलाते थे। अपने देश में वैयाघ्र रथ की परम्परा वैदिक युग से आरम्भ हो गई थी और वह राजाओं के काम मे आता था।

रामायण मे राम के राज्याभिषेक के समय वैयाघ्र रथ पर बैठकर राजा उत्सव यात्रा के लिये निकलता था। राम के यौवराज्य पद पर अभिषेक के लिये अन्य सामग्री के साथ वैयाघ्र रथ भी लाया गया (अयोध्या काण्ड 6/28)।

पूर्व देश के राजा युधिष्ठिर के लिये जो उपहार लाए थे उनमें वैयाघ्र रथ भी था, (सभापर्व 51/23) महाभारत में भीमसेन की तलवार की म्यान को वैयाघ्र कोष कहा है (विराट पर्व 38/30, 55) ज्ञात होता है कि जातकों के और भास के समय मे वैयाघ्र रथ की विशेष ख्याति थी।
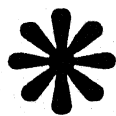
9. वेषभूषा

भास ने परिधानी वस्तुओं में वस्त्र और बसन का उल्लेख किया है। वस्त्रान्त और वसनान्त वस्त्र के अवयव ही होते है। वस्त्र और वसन सामान्यतः सिले या बिना सिले हो सकते थे। वस्त्र कार्पास, ऊमा, भंगा, कौशेय और ऊर्णा के तन्तुओं से बनाये जाते थे। कार्पास के लिये मृदु विशेषण का प्रयोग किया जाता था। ऊमा और भंगा से बने वस्त्रों को औभ या औभिक और भांग्य या भांगीन कहते थे। ऊन से बने वस्त्र और्ण या और्णक कहलाते थे। कोश से बने वस्त्रों को कौशेय कहते थे।

इन चारों प्रकार के वस्त्रों में गुण या अर्हता की दृष्टि से अन्तर रहता था। उस समय वस्त्र बनाने की कला अपने चरम पर थी। इसके साथ–साथ रेशमी वस्त्रों का प्रयोग बहुतायत मिलता था भास के समय मे इसका प्रचलन बहुत था क्योंकि उनके नाटकों मे यत्र तत्र रेशमी वस्त्रों का वर्णन मिलता है।

पहनने मे दोनों प्रकार के वस्त्रों का व्यवहार होता था– बिना सिले और सिले हुए। भाष्यकार ने तीक्ष्ण सुई से सीने का उल्लेख किया है। फटे कपड़ों में रफू करने का भी प्रमाण मिलता है इन वस्त्रों के साथ रेशमी वस्त्रों का प्रचलन भी अपने आप मे कम नही था–

'श्यामो युवा सितदुकूल कृतोत्तरीयः

सच्छत्रचामखरो रचिताङ्ग रागः।[1]

श्री मान् विभूषणमविद्युतिरञ्जिताङ्गो

नक्षत्रमध्य इव पर्वगतः शशाङ्क।।''[2]

मध्यमव्यायोग में केशवदास का मध्यम पुत्र कहता है कि जिसकी आँखे

---

1. तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन – भाष्य – 1/2/2, पृ0 264
2. दूतवाक्यम् – भास – 1/3/4

ग्रहयुगल के समान प्रभापूर्ण है, वक्षः स्थल विशाल एवं पुष्ट है, केश सुवर्ण के समान चमकीले है, जिसने रेशमी वस्त्र धारण किया है तथा जिसका स्वरूप अन्धकार समूह जैसा घना और काला है इतना ही नही जिसके चमकीले सफेद दाँत जो मुँह से बाहर निकले हुये है ऐसे प्रतीत हो रहे है मानो नवीन मेघ समूह में चन्द्रकला निमज्जित हो रही हो।

'ग्रहयुगलनिभाक्षः पीनविस्तीर्ण वक्षा
कनककपिलकेशः पीतकौशेयवासाः।
तिमिरनिवहवर्णः पाण्डरोद्वृत्तदंष्ट्रो
नव इव जलगर्भो लीयमानेन्दुलेखः।।"[1]

इस प्रकार वेषभूषा के अन्तर्गत रंग विरंगे कपडों का भी उल्लेख मिलता है। शकल, कर्दम, काषाय, हरिद्रा पीत आदि अनेक रंगों से वस्त्रों के रंगे जाने का भी उल्लेख मिलता है लाल वस्त्र भी प्रयोग मे लाये जाते थे नारियाँ ज्यादातर लाल वस्त्रों का प्रयोग करती थी। सौन्दर्यप्रियता की दृष्टि से भी लाल कपड़ों का अपना अलग महत्व होता है। बालचरित के तृतीय अंक में दामोदर कहता है – स्वभाव में रमणीय गोपकन्याओं का यह वेश कितना सुन्दर है –

'एंता प्रफुल्लकमलोत्पलवक्त्र नेत्रा
गोपाङ्गनाः कनकचम्पकपुष्प गौराः।
नानाविरागवसना मधुरप्रलापाः
क्रीडन्ति वन्यकुसुमाकुलकेशहस्ताः।।"[2]

भास के नाटकों में प्रायः रेशमी वस्त्रों का ही उल्लेख ज्यादा मिलता है। अन्य वस्त्रों के बारे में विशेष वर्णन उपलब्ध नही है।

---

1. मध्यमव्यायोग - भास - 1/5/7
2. बालचरित - भास - 3/2/60

10. मनुष्यों के नाम स्वरूप

प्रायः ये देखा गया है तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था मे जो व्यक्ति जिस कला से जुडा था कला संज्ञक नाम ही नाम बोध के रूप में प्रचलित हो जाता था। कुम्हार, बढ़ई, नाई धोबी आदि शिल्पसंज्ञक व्यक्तियों को कर्म कुशलता के नाम पर सम्बोधित करते थे। नाम स्वरूप का सम्बन्ध किसी जाति विशेष, कर्म विशेष आदि से सम्बन्धित नही था। दूकान करने वाले व्यक्ति को दुकानदार, मजदूरी करने वाले को ग्रामकक्षा नाम से जाना जाता था नाम एवं स्वरूप का सम्बन्ध धर्म विदित भी नही था। यह एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था थी जिसको जानने पहचानने के अर्थों में एक विशेष नामकरण कर दिया जाता था नामित करने की व्यवस्था ज्यादातर देवी देवताओं पर आध ारित थी। इस प्रकार अनुशीलन, परिशीलन करने के पश्चात हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि भास के समय मे भी चली आ रही नाम स्वरूप व्यवस्था पूर्ववत् थी। भास के नाटक चारूदत्तम् में इसका उल्लेख है –

'देशः को नु जलावसेकशिथिलपूछेदादशब्दो भवेत्
भित्तीनां क्व नु दर्शितान्तरसुखः सन्धि करालो भवेत्।
क्षारक्षीणतया चलेष्टककृशं हर्म्यं क्व जीर्णं भवेत्
कुत्र स्रीजनदर्शनं च न भवेत् स्वत्तश्च यत्नो भवेत्।।"[1]

---

1. चारूदत्तम – भास – 3/8/79
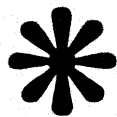
11. विवाह

विवाह के लिये उपयमन शब्द का प्रयोग किया गया है जिसकी व्याख्या 'स्वकरण' शब्द से सूत्र मे की गई है (उपाद्यमः स्वकरणे 1/3/56)। पति के द्वारा पाणिग्रहण किये जाने पर विवाह–संस्कार सम्पन्न समझा जाता था। पाणिग्रहण के द्वारा ही पति–पत्नी को 'अपनी' बनाता था जिससे 'स्वकरण' पद का विवाह के अर्थ में प्रयोग हुआ। मनु के अनुसार केवल सवर्णा स्त्रियों के साथ विवाह पाणिग्रहण द्वारा होता था (पाणिग्रहण संस्कारः सवर्णासूपदिश्यते 3/43)। विवाह के सम्पन्न होने मे वर के द्वारा वधू के पाणिग्रहण का महत्व 'पाणि–ग्रहीती शब्द से प्रकट होता है जो कात्यायन के अनुसार विधिवत् परिणीता पत्नी की संज्ञा थी (पाणि ग्रहीत्यादीनां विशेषे 4/1/52 वा0 20) इसके विपरीत 'पाणिग्रहीता' शब्द विधि–बाह्म परिणीता स्त्री के लिये प्रयुक्त होता था (यस्याः हि यथा कथञ्चित् पाणिर्ग्रह्मते)

विवाह के फल–स्वरूप पति का पत्नी पर स्वामित्व हिंदू धर्मशास्त्र का सुविदित नियम था। रोम देश के पुराने कानून में कौमार, यौवन, और वार्धक्य किसी भी अवस्था मे स्त्री का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं माना जाता था, पिता, पति या पुत्र की संरक्षकता अनिवार्यतः अपेक्षित थी।

'मेन के अनुसार पुत्री के ऊपर पिता की संरक्षकता का यह कृत्रिम अभिवर्धन था।[1]

मनु ने मानव धर्मशास्त्र में इसका वर्णन इस प्रकार किया है –

---

1. व्योरी आफ परपेचुअल गार्जिअनशिप ओवर डाटर्स वाई ऐन आरटिफिशियल प्रोलौन्गेशन आफ पैट्रिया पोटेस्टा इन रोमन ला (मेनकृत ऐन्शेण्ट ला)

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षाति यौवने।

रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति।।"[1]

कानूनी व्यक्तित्व की दृष्टि से विवाहित स्त्री का पति से पृथक कोई निजीतन्त्र प्राचीन धर्मशास्त्र में मान्य नहीं था, किन्तु दोनों का अभिन्न या एकीकृत तन्त्र समझा जाता था।

विवाह के समय पिता कन्या के सम्बन्ध में अपना स्वामित्व भावी पति को कन्यादान के द्वारा हस्तान्तरित करता है और पति उस दान को त्रिवाचा स्वीकार करता हुआ उस स्त्री का स्वकरण करता है, अर्थात् जो वस्तु अपनी नहीं थी उसे अपनी बनाता है। विवाहित पति–पत्नी एक साथ यज्ञ आदिक ग्रह–कर्म में प्रवृत्त होते थे। पति के साथ यज्ञ–संयुक्त होने के अधिकार से ही स्त्री को पत्नी संज्ञा प्राप्त थी।

भास के नाटकों मे विवाहादि प्रकरण के सम्बन्ध में प्रचुर उल्लेख मिलता है –

'अदत्तेत्यागता लज्जा दत्तेति व्यथितं मनः।

धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता दुःखिताः खलु मातरः।।"[2]

महाभारत पर आधारित नाटकों में भी पर्याप्त उद्धरण मिलते है। पञ्चरात्रम् में राजा विराट के द्वारा गोहरण के विजय शुल्क के रूप में अर्जुन उत्तरा को अपने पुत्र अभिमन्यु की स्त्री के रूप में स्वीकार करते है। उसी समय राजा विराट सभी वैवाहिक नक्षत्रों को शुभ मानकर तत्काल विवाह के लिये निवेदन करते हैं–

---

1. मानवधर्मशास्त्र – मनु – 13
2. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् – भास – 2/7/53

'इष्टमन्तः पुरं सर्व मातृवत् पूजितं मया।
उत्तरैषा त्वया दत्ता पुत्रार्थे प्रतिग्रहते।।''[1]

'अद्यैव खलु गुणवन्नक्षत्रम्। अद्यैव विवाहोऽस्य प्रवर्तताम्।।''[2]

स्वप्नवासदत्तम नाटक में महारानी दासी को तुरन्त विवाह की तैयारियाँ करने का आदेश देती है जिसका वर्णन द्वितीय अंक में इस प्रकार है –

'त्वरतां त्वरतां तावदार्या। अद्यैव किल शोभनं नक्षत्रम्।
अद्यैव कौतुकमङ्गलं कर्तव्यमित्यस्माकं भट्टिनी भणति।।''[3]

अतः पुर के बगीचे में राजकुमारी वासवदत्ता को देखने के कारण जब मैं अनिवर्चनीय स्थिति में पहुँच गया तब कामदेव ने अपने पाँचों बाणों से मेरे ऊपर प्रहार किया था जिससे आज भी मेरा चित्त विद्ध ही है– आज पदमावती से विवाह हो जाने पर मै पुनः कामबाण से विद्ध हो गया हूँ। भला कामदेव के तो पांच ही बाण थे उसने ये छठा बाण कैसे गिराया–

'कामेनोज्जयनीं गते मयि तदा कामप्यवस्थां गते
दृष्ट्वा स्वैरमवन्तिराजतनयां पञ्चेषणवः पातिताः।
तरैद्यापि सशल्यमेव हृदयं भूयश्च विद्धा वयं
पञ्चषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठः शरः पातितः।।''[4]

अविमारक के छठवे अंक मे भाग्य की अस्थिरता पर क्षोभ व्यक्त करते हुये, धात्री के द्वारा राजकुमारी का विवाह सौबीर राज के पुत्र विष्णुसेन के साथ निश्चित होने के बाउजूद आज अज्ञात कुल अतिमानव गुण वाले किसी

---

1. पञ्चरात्रम् - भास - 2/71/132
2. पञ्चरात्रम् - भास - 2/72/133
3. स्वप्नवासवदत्तम - भास - 2/68
4. स्वप्नवासवदत्तम - भास - 4/1/96

के साथ हो गया है ऐसा वर्णन मिलता है।

'अहो अनवस्था कृतान्तस्य, यद् राजदारिका प्रथमं महाराजेन सौवीरराजेन तं विष्णुसेनमुद्दिश्य वृता। अद्याविदितसम्मवेनभानुषलोकदुर्लभाकृतिगुणविशेषेण केनापि संयोगो जातः। अथ चेदानीं काशिराजपुत्रो जयवर्मा नाम भट्टिन्या सुदर्शनया सहामात्येन भूतिकेनानीतः संप्रति राजकुलं प्रविष्टः।''[1]

इसी प्रसङ्ग में नारद जी कहते है कि राजन गान्धर्व विवाह समय पर स्वयं हो गया है आप अग्नि को साक्षी मानकर तथा अपने बान्धवों के सन्तोषार्थ पुरोहित द्वारा अपनी प्रथा के अनुसार करवाकर शीघ्र कुमार दम्पती को यहाँ लाइये।

नारद :– इदानीम् निष्ठितो विवाहो ननु गान्धर्वः स्वसमय एव।

कुन्तिभोजः –अग्निसाक्षिकमिच्छामि।

नारद :– नित्यभग्निः साक्ष्येव। तथापि स्वजनपरितोषणार्थमभ्यन्तरसमयमात्रभुपाध्यायेन कारयित्वा शीघ्रमानीयतामिह कुमारः सह भार्यया।[2]

विवाह–सम्बन्ध अपने गोत्र से बाहर करने की प्रथा थी जैसी अब भी है। विवाह संबंध के लिये अष्टाध्यायी में 'मैथुनिका' शब्द का प्रयोग किया गया है (4/3/124)। जो दो गोत्र आपस में एक दूसरे के साथ विवाह–सम्बन्ध में बधते थे, स्वभावतः उनके नामो का जोड़ा एक साथ बोला जाता था।

दो परस्पर गोत्र इस सम्बन्ध मे बध जाने के पश्चात अपनी–अपनी सीमाओं मे रहकर सम्बन्धो की गरिमा को बनाये रखने मे सदैव तत्पर रहते थे। बदलती हुई परिस्थितियों में आज वैसा नही है, लेकिन विवाह की प्रथा लगभग वही चली आ रही है भास के नाटकों मे भी एक गोत्र से दूसरे गोत्र में विवाह की परम्परा परिलक्षित होती है।

---

1. अविमारक - भास - 6/151
2. अविमारक - भास - 6/173

12. प्रेम

प्रेम ऐसा व्यापक शब्द है जिसको परिभाषा मे आबध्य नही किया जा सकता प्रेम बड़ा ही पवित्र होता है और बड़ी जिम्मेदारी के साथ जीवन पर्यन्त चलाते रहने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रेम किसी बाजार की वस्तु नही है जिसे खरीदा जा सके, प्रेम बन्धन नही मुक्ति है, प्रेम रोमांस नही एक आत्मीयता है, एक विश्वास है, एक शक्ति है, और जीवन को गतिशील बनाये रखने के लिये एक सार्थक प्रेरणा है।

प्रेम का अर्थ एक दूसरे को समर्पण कर एक दूसरे मे खो जाना नही है, बल्कि व्यक्तिगत अहं से ऊपर उठकर आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करना है। रात्रि के देह मिलन की दिनभर आध्यात्मिक मिलन सी अनुभूति रहनी चाहिये यदि ऐसा नही होता है तो वास्तविक प्रेम की संज्ञा से अभिहित नही किया जा सकता प्रेमरूप की अधिक परवाह नही करता शारीरिक सौन्दर्य पर आधारित प्रेम सम्बन्धों मे शीघ्र ही खीझ या दरार पड़ जाती है।

'प्रेम को प्यास भर पीलो मगर उस प्रेम रूपी सागर पर अधिकार जमाना सूरज को दीपक दिखाना है।'

'प्रेम पाने के लिये प्रेम करना भी आवश्यक है परन्तु प्रेम मनुष्य के जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, जिसके बिना मनुष्य ठीक उसी प्रकार से है जैसे– धड़ के बिना शरीर।'

प्रेम का स्वरूप अकुलष होता है स्वार्थी संकुचित प्रेम एकांकी और दुख का कारण होता है, प्रेम दो बच्चों के बीच खेला जाने वाला खेल नही बल्कि दो आत्माओं का संगम है।

यह ईश्वर प्रदत्त होता है और सच्चे प्रेम से बड़ा दुनियाँ मे और कुछ भी नही है। प्रेम और शादी को अगर एक पलड़े मे तोला जाये तो प्रेम का ही

पलड़ा भारी होगा, स्वप्नवासवदत्तम् के प्रथम अंक मे प्रेम की वियुक्त दशा का वर्णन अवन्ति राजकुमारी के सन्दर्भ मे राजा उदयन का इस प्रकार मिलता है–

'नैवेदानीं तादृशाश्चक्रवाका
नैवाप्यन्ये स्त्रीविशेषैर्वियुक्ताः।
धन्या सा स्त्री यां तथा वेत्तिभर्ता
भर्तृस्नेहात् सा हि दग्धाऽप्यदग्धा।'[1]

अविमारक के चौथे अंक मे आस्था, विश्वास और समर्पण भाव का वर्णन तब मिलता है जब अग्निदेव के पुत्र को कुरंगी से प्रेम हो गया और भेद खुल जाने पर वहॉ से निकल भागा फिर वहॉ प्रवेश का उपाय न जानकर प्राण त्याग की इच्छा से पर्वत पर चढ़ता है वही विकल दशा उसकी प्रेयशी कुरंगी की भी है। परन्तु वह अपनी प्रेमिका का विछोह वर्दास्त नही कर पाता जिसमे विद्याधर उसकी पूरी मदद करता है–

'(आत्मगतम्) भवत्यवहमेव ज्ञास्यामि। विद्यामावर्तयति, भोः कष्टम्। अयं खलु भगवतोऽग्नेः पुत्र आत्मानं न जानाति, कुन्तिभोजदुहितरं कुरङ्गीममिलषमाणो रमयाणश्च तत्र विदिते सति निर्गतः, पुनः प्रवेशोपायलभमानः प्राणपरित्यागाभिलाषी मरूत्प्रपातं कर्तुमिहारूढः। सापि च तत्र जीवन्मरणमनुभवति। अहमस्यास्मिन् कार्ये सहायो भविष्यामि। (प्रकाशम्) भो अविमारक ! अच्छलं मित्रत्वं नाम। न शक्नोषि मयाविदितमर्थ प्रच्छादयितुम्।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि प्रेम वो तप्त स्वर्ण है कि जिसको फिर किसी कसौटी मे कसने की आवश्यकता नही होती जीवन का दूसरा नाम प्रेम है, जब मनुष्य प्रेम करना बन्द कर देता है, तो उसकी आध्यात्मिक मृत्यु हो

1. स्वप्नवासवदत्तम् - भास - 1/13/43
2. अविमारक - भास - 4/110

जाती है कहते है प्रेम किया नही जाता हो जाता है। परन्तु इसमे बनावटी पन के लिये स्थान नही होता प्रेम के विभिन्न स्वरूप है। माता पिता का प्रेम, बहन, भाई का प्रेम, पति पत्नी का प्रेम, भाई भाई का प्रेम, प्रेमी प्रेमिका का प्रेम, परन्तु प्रेम सदा स्थिर रहता है।

जहाँ प्रेम अस्थिर है वहाँ उसका स्वरूप वासनात्मक हो जाता है जब कि सच्चा प्रेम ईश्वर की प्रतिकृति है।

प्रतिमानाटकम् के इस श्लोक मे भातृप्रेम दृष्टब्य है–

'निर्योगाद् भूषणान्माल्यात् सर्वेभ्योऽर्ध प्रदाय मे।
चिरमेकाकिना बद्धं चीरे खल्वसि मत्सरी।।''[1]

'अनुचरति शशाऽङ्कं राहुदोषेऽपितारा
पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च।[2]
त्यजति न च करेणुः पङ्कलग्नं गजेन्द्रं
व्रजतु चरतु धर्मं भर्तनाथा हि नार्यः।।''

भास के नाटक चारूदत्तम् एवं अन्य नाटकों मे भी प्रेम का उल्लेख है–

'नायकः – भवति ! परवानस्मि। किमनुतिष्ठति स्नेहः।'[3]

'दामकः – मातुल ! यदाप्रभृति नन्दगोपपुत्रः प्रसूतः, तदाप्रभृत्यस्माकं गोधनं वर्जितरोगं संवृत्तम्। ननु सर्वेषां गोपजनानां प्रीतिर्वर्धते, अन्यच्च, खाते खाते मूलानि, फलानि, गुल्मे गुल्मे मधु कियद् दुह्यते क्षीरं तावद् एव घृतम्।'[4]

---

1. प्रतिमानाटकम् – भास – 1/26/49
2. प्रतिमानाटकम् – भास – 1/25/47
3. चारूदत्तम् – भास – 1/45
4. बालचरितम् – भास – 3/54

'एवमेव महाभागे ! नित्यं प्रीतिमवाप्नुहि।
कुन्तिभोजश्च भूपालो नित्यं स्यात् प्रीतिपीडितः।।'[1]

'एष शिष्यस्य वात्सल्याच्छकुनिं याचते गुरूः।
एवं सान्त्वीकृतोऽप्येष नैव मुञ्चति जिह्मताम्।।''[2]

'उत्तराप्रीतिदत्तालङ्कारेणालङ्कृतो व्रीडित इवास्मि राजानं द्रष्टुम्। तस्माद् विराटेश्वरं पश्यामि। (परिक्रम्यावलोक्य) अये अयमार्यो युधिष्ठिरः,[3]

'अद्येदानीं यातु सन्दर्शनं वा शून्ये दृष्ट्वा गाढमालिङ्ग–नं वा।
स्वैरं तावद् यातु मुद्वाष्पतां वा मत्प्रत्यक्षं लज्जते ह्येष पुत्रम्।।''[4]
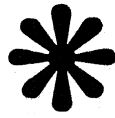
1. अविमारक – भास – 6/12/170
2. पञ्चरात्रम् – भास – 1/44/45
3. पञ्चरात्रम् – भास – 2/99
4. पञ्चरात्रम् – भास – 2/40/107

तृतीय अध्याय

भास के नाटकों में चित्रित आर्थिक जीवन

-: तृतीय अध्याय :-
भास के नाटकों में चित्रित आर्थिक जीवन

1.कृषि : -

कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय था। खेती के लिये सूत्रों में कृषि शब्द प्रयोग किया गया है। जब कि मूल में कृषि शब्द का अर्थ केवल हल चलाना था जैसा कि महाभारत में भी पाया जाता है।[1]

कात्यायन और पतंजलि में कृषि के व्यापक अर्थ पर विचार किया गया है–''कृषि का अर्थ केवल भूमि विलेखन या हल चलाना नही बल्कि, बीज, बैल एवं कर्मकर आदि के लिये भोजन का प्रबन्ध करना भी कृषि धातु के अर्थ के अन्तर्गत है।''[2] इसका अर्थ यह हुआ कि कृषक केवल जोतने वाला ही नही, जुताई कराने वाला भी माना जाता था इसी क्रम में आगे चलकर ये भी कहा है– 'एकान्त' में चुपचाप बैठे हुये पुरूष के लिए भी लोग कहते है कि यह पाँच हलों की खेती करता है।' ऐसे प्रसंग में कहना चाहिए कि पॉच हलों की खेती करवाता है। इस शंका का समाधान करते हुए वे कहते है कि कृष् धातु में अनेक क्रियाएँ सम्मिलित है। इसलिये पाँच हल चलाता है यह कहना भी उपयुक्त है, क्यों कि वो स्वयं हल न चलाकर हल चलाने के साधन प्रस्तुत करता हैं।

---

1. पण्डयानां शोभनं पण्यं कृषीणां वाधते कृषि;।
बहुकारं च सस्थानां वाह्नेवा ह्रां तथा गवाम्।।'' महाभारत –शान्ति पर्व (186/20)

2. नाना क्रियाः कृषेरर्थाः नावश्यं कृषिविलेखन एव वर्तते। किं तहि, प्रतिविधानेऽपि वर्तते, यदसौभक्तवीजवलीवर्दैः प्रतिविधानंकरोति स कृष्यर्थः (भाष्य, .3/1/26)

2. कृषि बल :-

खेती करने वाले किसान के लिये कृषीबल शब्द का प्रचलन था (रजः कृष्यासुति परिषदो वलच् 5/21/12) इस नये शब्द ने वैदिक कृषि शब्द को हटा दिया था। कीनाश शब्द भी इस समय चालू न रह गया था। ब्राह्मण ग्रन्थों में कृषीबल शब्द नहीं मिलता। इसीलिए किसान के कर्म के लिए 'किसनई' शब्द जो कि 'किसान' से ही व्युत्पन्न हुआ है आज भी कृषक–वर्ग में प्रचलित है। यदि कीनाश शब्द इसका मूल होता तो उससे बनने वाले अन्य शब्दों पर भी उसका प्रभाव पड़ता।

3. बृषभ-(गो या अनड्वान्) :-

बैल कृषि का मुख्य साधन रहा है। सारा कृषि–कार्य बैलों के ही काँधे पर था। बैल का गो या अनड्वान् और बलीवर्द कहते थे। बलीवर्द हल ही नहीं चलाते थे बल्कि शकट और रथ भी खींचते थे। दोनों कार्य करने वाले बैल केवल गाड़ी खींचने वाले या हल चलाने वाले बैलों की उपेक्षा श्रेष्ठ माने जाते थे।[1] जब बैल को हल या गाड़ी में जोता जाना प्रारम्भ किया जाता था, तो उसे 'दम्य' कहते थे।[2] दम्य जिस गाड़ी में जोतकर प्रशिक्षित किया जाता था, उसे मराठी में आज भी 'दमिनी' कहते हैं। दम्य बैल 'उक्षा' बन जाता है और फिर बलीवर्द। उक्षा यवा बैल को कहते हैं। उक्षा के तीन आयुकाल है– प्रथम जब उसके चार दाँत निकलते हैं। द्वितीय जब उसके आठों दाँत निकल आते हैं और तृतीय जब उन दाँतों का घिसना प्रारम्भ हो जाता है। इस आयु के बैलों को क्रमशः जातोक्ष, महोक्ष और वृद्धोक्ष कहते थे। खेतों की जोत और

---

1. गौरयं शकटं वहति गोतरोऽयं यः शकटं वहति सीरं च।

– भाष्य (5–355, पृ० 445)

2. 1/1/1, पृ० 1051– भाष्य

बोनी इन्हीं के भरोसे थी। भाष्य में एक स्थान पर कहा है कि कृषक न केवल जोत के लिए अपितु फसल ढ़ोने के लिये भी बैलों पर निर्भर था। बाल चरित नाटक के तृतीय अंक में बृषभ का वर्णन इस प्रकार मिलता है–

'भो मेघदन्त! खलु वृषभदन्त! खलु कुम्भदन्त! खलु घोषदन्त खलु, प्रकालयत प्रकालयत गोधनम्! एतस्मिन् बृन्दावने प्रकामं पानीयं पीत्वा हुम्भारवं कुर्वदायतु गोधनम्। एष गोव्रजान् निष्क्रम्य परिधट्टित वल्मीक मूलो भुजङैः कुवणैः नीलोत्पलदामभिः श्रृङलग्नैरिव वृषभः शोभते। अन्योऽप्येव वृषभ उच्छित प्रसारित पुच्छो निकुञ्चितजानुः शशीवधवलोङ्गऽग्रविषाणाभ्यां महीनुद्वह्न्निव शोभते। यावदिदानीं दामकं शब्दयामि। अरे दामक! सुस्थलेऽवतार्य सह्वत्सास्त्वमप्यागच्छ।[1]

4. भूमि :-

हल से जोती जाने वाली भूमि हल्या कहलाती थी। जुता हुआ खेत सीत्य कहा जाता था। अहल्य भूमि, ऊषर रेह या नमकीन मिट्टी वाली होती थी। गोचर (चारागाह) व्रज (पशुशालाएँ) और गोष्ठ (बाड़े) ऊषर भूमि मे होते थे। एक हल से जोती जाने योग्य भूमि हल्या और दो या तीन हलों से जोती जाने वाली द्विहल्या या त्रिहल्या कही जाती थी। मजबूत बैलोंवाले लोग सामान्य कृषकों की अपेक्षा एक हल से अधिक भूमि पर खेती कर लेते थे। यह भूमि परमहल्या या परमसीत्या कही जाती थी। सामान्यतया जोतने योग्य भूमि को कर्ष कहते थे। एक हल होना सामान्यतः परिवार की निर्धनता का सूचक था। केवल असहाय लोग एक हल चलाते थे। सम्पन्न परिवार कई–कई हलों की खेती करते थे। पञ्चरात्रम् नाटक मे भी ऊषर भुमि का वर्णन मिलता है–

---

1. *बालचरित – भास, 3/43*

'शून्यमित्यभिधास्यामि कः पार्पाद् बलवन्तरः।
ऊषरेष्वपि सस्यं स्याद् यत्र राजा युधिष्ठिरः।।''[1]

5. खेतों के नाम :-

हल्य भूमि क्षेत्रों मे विभक्त थी। क्षेत्रों के नाम दो प्रकार से निश्चित किये जाते थे–उनमें बोई जाने वाली फसल के आधार पर और खेत में पड़ने वाले बीज के परिणाम के अनुसार। जिस खेत में किसी धान्य का एक प्रस्थ बीज बोया जाता था उसे प्रारिथक कहते थे।[2] उसी प्रकार खारिक और द्रौणिक क्षेत्र होते थे। पात्र कुम्भ, उष्ट्रिका आदि माप थे। जिनमे से खेत मे बीज डाला जाता था। इन सबके निश्चित परिमाण थे। पात्र, कुम्भादि परिमाण ही थे। खेतों का नाम भी इनके आधार पर पात्रिक आदि पड़ जाता था।[3] जिस खेत में फसल बोई जाती थी उसे 'वाप' कहते थे। धान, जौ, मूग, शाटी, धान, तिल, उरद, अलसी, ज्वार, बाजरा आदि फसलें बोयी जाती थी।

6. फसलों के नाम :-

खेतों के समान फसल के नाम भी उनके बोये या काटे जाने की ऋतु या काल के अनुसार निश्चित किये गये थे। तैत्तिरीय संहिता (7/2/10 तथा 5/1/7) में फसलों का समय दिया गया है। यव गरमी में तथा धान बसन्त में बोये जाते थे और वर्ष मे दो फसलें काटी जाती थी। हेमन्त में बोये जाने के कारण जौ को हेमन्तिक कहते थे। शरद मे पकने के कारण शालि शारद कहलाते थे। ग्रीष्म में पकने के कारण गेहूँ अरहर आदि ग्रैष्म या ग्रैष्मक अन्न कहे जाते थे। गरमी में बोये जाने वाले व्रीहि भी ग्रैष्म थे। वर्षा में मार्ग प्रायः

---

1. *पंचरात्रम् – भास – 1/46/48*
2. *काशिका – 5/1/45*
3. *काशिका – 5/1/46*

अवरूद्ध रहते थे। शरद आते ही नदियों का जल स्वच्छ हो जाता है। मार्गों का कर्दम सूख जाता है। व्यापारी यात्रा के लिये निकल पड़ते है। रथ और गाड़ियॉ जोती जाने लगती है। यह मुहूर्त शरत्पूर्णिमा को होता था।

7. सिंचाई :-

बोने के बाद खेतों को सींचने की आवश्यकता होती थी। सींचने तथा खाद डालने की प्रथा वैदिक काल से ही चली आती थी। ऋग्वेद में खाद को कारिष और सिंचाई को खनित्रा कहा है।[1] खाद गोमय की होती थी। भाष्य में कारीष तथा आरण्य गोमय का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में वर्षा (7/10!1/3, 10/105/1) के लिये तथा उर्वरता बढ़ाने के लिए अनेक स्थानों पर प्रार्थनाएँ मिलती हैं। बहुत सी सिंचाई तो वर्षा से हो जाती थी। खेती के लिए वर्षा पर अधिक निर्भर रहना पड़ता था। मेघ कृषकों के देव थे। संस्कृत साहित्य में उन्हें बार–बार देव कहा है।[2]

नदियों से भी सिंचाई करने की प्रथा थी। हो सकता है, कुल्या नदियों से निकाली जाती हो। तालाबों से तो निकाली ही जाती थी। कुछ नदियों के तट खेती के योग्य होते थे। नदी तट पर बोई गई फसल आज के समान तब भी नदी से ही सींची जाती होगी, इसी लिए भाष्यकार ने शालि को देविका–मूल कहा है। देविका नदी के तट पर बोने से ही यह नाम पड़ा था। इसके अतिरिक्त छोटी नहरें, कुये, तालाब भी सिंचाई के प्रमुख साधनों में से एक थे सिंचाई से फसल में दुगने, तिगने की बढोत्तरी हो जाती थी।

---

1. *वैदिक इण्डेक्स भाग 1, पृ0 182*
2. *देवश्चेद्वृष्टो सम्पत्स्यन्ते शालय इति। स उच्यते मैवं वोचः।*
   सम्पन्नाः शालय इत्येवं ब्रूहि। – भाष्य 3/3/133, पृ. 324

8. फसल की रक्षा :-

खेतों की रखवाली कृषि का महत्वपूर्ण अंग है। फसल को चार स्थानों से हानि का डर रहता था – चोर, पालतु पशु, वन्य पशु और पक्षी। पक्षियों से खेत को बचाने के लिए खेतों में चंचा (घास का आदमी) खड़ा किया जाता था जिससे फसल के नुकसान का भय कम हो जाता था।

9. काटना :-

कृषक दैवी आपत्तियों का पूर्वानुमान अवश्य कर लेते थे और समय रहते उनकी तैयारी कर लेते थे। जैसे वे जानते थे कि कपिलवर्णा बिजली कौधी तो तेज वायु चलेगी। यदि लाल कौध हुयी तो तेज धूप निकलेगी। पीली कौध फसल के लिये हितकारी होती है किन्तु यदि कौधती बिजली का रंग सफेद हुआ तो दुर्भिक्ष पड़ता है [1] पकी फसल की कटनी को लवन या अभिलाव कहते थे और काटने वाले को लावक। जब फसल पक जाती थी तब उसे अवश्यलाव्य कहते थे। काटने के लिये खेत मे बहुत से लोग जुटा दिये जाते थे, जिससे सारा खेत एक ही दिन मे कट जाये। काटने का काम हॅसिये से किया जाता था कुछ धान्य काटे जाते थे कुछ उखाड़े जाते थे। जौ काटे जाते थे। खेत काटने से जो बालें या दाने जमीन पर गिर जाते थे उन्हे सिल या कण कहते थे। कटी हुई फसल बड़े–बड़े ढेरों में एकत्र कर दी जाती थी। एकत्र किये हुये धान्य की गो आदि की आकृतियॉ बना दी जाती थी जिन्हे धान्य गव कहते थे। इसी प्रकार तृणादि को काटकर पहचानने के लिये सिंहादि की आकृति में एकत्र कर दिये जाते थे, जो तृण सिंह कहलाते थे।[2]

---

1. वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता भवति सस्याय दुर्भिक्षाय सिताभवेत।।"

– भाष्य – 2/3/13, पृ0 417

2. काशिका – 6/2/72

10. उपज :-

दो फसलों की भाष्यकारों द्वारा चर्चा की है– कहा गया है कि जुते खेत में स्वयं ही अन्न पकता है, अर्थात् बिना बोये ही कुछ धान्य उग आते है वे कृष्टपच्य कहलाते है। बिना जुती भूमि पर अपने आप उगने वाले और पकने वाले अन्य अकृष्ट पच्य कहलाते हैं जैसे – नीबार, कुकनी सावॉ आदि।

इस प्रकार भास के नाटकों में भी कृषि का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे था, इसके साथ–साथ कुछ औषधियॉ भी उगायी जाती थी। जैसे– पिप्पली, शण, द्राक्षा, हरिद्रा, श्रृंगबेर, केसर, नलद, तृण आदि।

भास के समय के भारत को एक कृषि सम्पन्न भारत की संज्ञा दिया जाना तर्क सम्मत है।
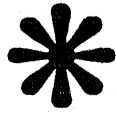
2. वन-सम्पत्ति

विशिष्ट और सामान्य दोनों प्रकार के वनों का उल्लेख हुआ है। सामान्य वन के विषय में जो कहा गया है उसमे बहुत सी सामग्री प्राप्त होती है जो वन जीवन से सम्बन्धित है। जैसे– आरण्यक मार्ग, आरण्यक गोमय, आरण्यक विहार, हस्ती, आरण्यक मनुष्य और आरण्यक पुष्प आदि इससे ये तो स्पष्ट होता है कि आरण्य पूर्णतया निर्जन नही थे। उनमे मनुष्य रहते थे। वन सर्वथा अगम्य भी नही थे। लोग उनमे होकर आते जाते थे। बिहार, मनोविनोद, आखेट के लिये वनों का भ्रमण साधारण बात थी। बड़े अरण्य को अरण्यानी कहते थे।

वैदिक इण्डेक्स (1/33) के अनुसार ऋग्वेद में अरण्य शब्द, ग्राम और कृष्यभूमि के विरोध में आया है, जिसमें चोर छिपते थे और मुनि निवास करते थे। ऋग्वेद मे भी वन शब्द का प्रयोग वृक्ष–अर्थ में मिलता है। आगे चलकर जब वन–समूह का बोधक बन गया तब धीरे–धीरे उसमें समूह अर्थ का प्राधान्य होता गया और वृक्ष अर्थ गौण पड़ गया। तब तृण, लता, वीरूध तरू सभी का समूह वन कहलाने लगा। इसीलिए 'कमलवन' प्रयोग भी ग्राह्म हो गया। बस्ती से दूर होने के कारण लाक्षणिक रूप में वन का अर्थ परदेश या दूर प्रदेश भी था।[1] अनेक बनो के समुदाय को कुण्ड कहते थे।

1. वृक्ष :-

वन शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है–

1. प्राकृतिक रूप से विकसित तृण, लता–तृण आदि के समूह यथा खलतिक वन, शिरीष वन। इनकी बृद्धि और विस्तार में मानव प्रयत्न

---

1. ऋग्वेद – 7/1/19

अपेक्षित नहीं था।

2. मनुष्य द्वारा रोपे और संरक्षित किये गये उपवन यथा आम्रवन, कदलीवन। इन्हें रोपकर, नियमित सींचकर संरक्षित करना पड़ता था। भाष्य में चारों ओर से काटों का घेरा बनाकर वृक्षों की रक्षा का उल्लेख किया गया है।[1]

वृक्षादि सम्पत्ति भी कई भागों में विभाजित थी। वृक्षों में पुष्प और फल दोनों होते हैं। वनस्पति शब्द बड़े–बड़े तरूओं के लिए प्रयुक्त होता था जिनमें फल आते थे। औषधि शब्द का प्रयोग छोटे पौधों और जड़ी–बूटियों के लिये होता था जिनमें फल नहीं होते। फैलने या पौड़ने वाली छोटी–छोटी वनस्पति लता वल्लरी वृतति या वीरूध कहलाती थीं। ये सब वन सम्पत्ति के अन्तर्गत आते थे। वृक्ष की चरम परिणति फल में है अनेकानेक भाष्यों में वृक्षों के नाम इस प्रकार है।

2. न्यग्रोध :-

यह वट का दूसरा नाम है। न्यग्रोध क्षीरी वृक्षों के अन्तर्गत है। इसकी जड़ें नीचे की ओर फैलती हैं और जटाएँ भी निम्नगा होती हैं। जटाएँ नीचे की ओर फैलकर वृक्ष का रूप लेती जाती है, इसीलिए इसका नाम न्यग्रोध है, अर्थात् नीचे की ओर फैलने वाला। इसके पत्ते बड़े और मोटे होते है। इसे अवरोह्वान् क्षीरी और पृथुपर्ण कहा है।[2]

'तस्मादिह न्यग्रोधपादपस्याधस्तात् प्रभातवेलां रजन्याः प्रति–पालयामि। भो भो न्यग्रोध देवताः। यद्ययं बालो लोकहितार्थ कंसवधार्थ वृष्णि कूले प्रसूतश्चेद्, घोषात् कश्चिदिहागच्छतु।'[3]

---

1. परिवारयन्ति कष्टकैर्वृक्षम् – भाष्य – 3/1/87, पृ. 155

2. ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णास्तेन्यग्रोधाः –भाष्य –1/1/56,पृ0342

3. बालचरितम् – भास – 1/15

3. प्लक्ष :-

प्लक्ष भी न्यग्रोध के समान क्षीरीवृक्ष है। इसकी भी प्रवृत्ति न्यग्रोध के समान नीचे की ओर फैलने की है। भाष्यकार ने प्लक्ष की व्युत्पत्ति पर शंका करते हुए कहा है कि यदि क्षरण (दुग्ध–स्राव) के कारण इसका नाम प्लक्ष माना जाय, तो न्यग्रोध को भी प्लक्ष कहना चाहिए; क्योंकि दूध तो न्यग्रोध से भी निकलता है और यदि नीचे की ओर फैलने के कारण वट का नाम न्यग्रोध हो तो प्लक्ष का भी नाम न्यग्रोध होना चाहिए क्योंकि प्लक्ष नीचे की ओर फैलता है।[1] प्लक्ष का फल भी न्यग्रोध के समान छोटा–सा होता है। इसे पाकर कहते हैं।

4. खदिर :-

यह कत्थे का वृक्ष है। इसके तनों की लकड़ी सफेद रंग की होती है और पत्ते छोटे–छोटे होते है।[2] खदिर में काँटे होते हैं। इसकी लकड़ी बहुत कड़ी होती है। जलाने पर इसके कोयले खूब दहकते हैं। इसीलिए भाष्यकार ने इनकी उपमा तुरन्त बने हुए सुवर्ण कुंडलों से दी है। खदिर से ही खैर या कत्था तैयार होता है जिसका उपयोग पान के साथ तथा औषधि के रूप में होता है। इसे खदिरसार कहते हैं। खदिर की लकड़ी यज्ञ–स्तम्भ या यज्ञयूप के ऊपर अँगूठी के आकार का चषाल बनाने के काम आती थी।

5. पलाश :-

पलाश या टेसू प्राचीन काल से अति प्रसिद्ध तथा उपयोगी वृक्ष रहा है। इसके पत्ते तथा लकड़ी दोनों का उपयोग धार्मिक कृत्यों में होता है। यज्ञ में

---

1. *काशिका – 2/2/29 , पृ0 383*
2. *खदिरबर्बुरौ गौरकाण्डौ सूक्ष्मपर्णौ। ततः पश्चादाह कण्टकवान खदिर इतिः। भाष्य–1/1/46, पृ0 283*

पलाश की समिधाएँ काम आती है। प्लक्ष—न्यग्रोध के साथ पलाश का उल्लेख भाष्य में अनेक बार हुआ है। दण्ड माणव (विद्यार्थी) पलाश का ही दण्ड साथ रखते थे। यों पलाश शब्द का व्यवहार पर्ण अर्थ में भी होता था। पलाश में पत्ते अधिक होते है अेार वे ही विशेष काम में आते है। इसीलिए लाक्षणिक रूप से पलाश शब्द बाद में पलाश—पत्र के अतिरिक्त सामान्य पर्ण अर्थ में व्यवहृत होने लगा। पलाश के फूल बहुत लाल होते है इस प्रकार वनस्पति के रूप में इसका भी उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। पञ्रात्रम् नाटक के प्रथम अंक में पलाश के वृक्ष के बारे में कुछ ऐसा ही वर्णन मिलता है—

'अवनत विटपो नदी पलाशः पवनव शाच्चलितैक पर्ण हस्तः।

दवदहन विपन्न जीवितानामुदक मिवैष करोति पादपानाम्।।"[1]

6. *शमी :-*

शमी की लकड़ी बहुत कड़ी होती है। प्राचीन लोगों का विचार था कि शमी में अग्नि रहती है। शमी यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के काम आती थी। शमी का छोटा वृक्ष शमीर कहलाता था। शमी से उत्पन्न हुई वस्तु शमीज कही जाती थी, जिसे शामील या शमीली भी कहते थे।

7. *वंश :-*

काश और कुश के साथ भाष्यकार ने वंश का उल्लेख किया है। बाँस के लम्बे लट्ठे को वंशस्तम्ब कहते थे। बड़ी सी वस्तु से छोटा—सा काम लेने के अर्थ में एक—एक कहावत ही चल पड़ी थी वंशस्तम्ब से लट्ठा खींचना।[2] वंश वृक्ष है और वेणु उसका काष्ठ।

---

1. पञ्चरात्रम् - भास- 1/19/17

2. सोऽयं महतो वंशस्तम्बाल्लट्वाकृष्यते। -भाष्य आ02, पृ0 52

8. शिरीष :-

यह शीशम का एक भेद है, यद्यपि यह उससे बहुत बड़ा होता है। शिरीष के वृक्ष बड़ी संख्या में गांवों के पास पाये जाते थे। आज भी गाँवों के किनारे खेतों और बागों की मेडों पर शिरीष रोपने की प्रथा है। प्राचीन लोग वृक्षों में भी जीव मानते थे और उनमें सामान्य प्राणि–क्रियाओं का दर्शन करते थे। उन्होंने शिरीष को सोते हुए देखा था।

9. शाल :-

साखू अपनी लकड़ी के लिये प्रसिद्ध है। यह बहुत मजबूत और टिकाऊ होते है। शाल के वृक्ष के झुण्ड एक साथ वन के रूप में उगते है। शाल के आधार पर व्यक्तियों के शालगुप्त आदि नाम रखे जाने का पता भाष्य से चलता है।

10. शिंशपा :-

शिशपा शीशम का नाम है। यह ऊँचा वृक्ष अपनी लकड़ी की मजबूती के लिये प्रसिद्ध है। कभी–कभी शिशपा इतना ऊँचा बढ़ जाता है कि आकाश चूमने लगता है वृक्ष से भिन्न अन्य किसी वस्तु का नाम शिशपा नहीं होता।

11. देवदारू :-

देवदारू को सरल भी कहते हैं; क्योंकि यह सीधा ऊपर की ओर बढ़ता है। देवदारू की लकड़ी यज्ञ–समिधाओं के काम आती थी देवदारू चीड़ का एक भेद है। यह बहुत लम्बा होता है। इसकी लकड़ी काटकर बहुत से अन्य कामों में भी लाई जाती है। भाष्य में देवदारू–वन का उल्लेख है। देवदारू देव–वृक्ष माना जाता था। मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्प–वृक्ष, और हरिचन्दन ये पाँच देववृक्ष गिने जाते थे।[1] इसी प्रकार अश्वत्थ आदि सात ब्रह्मवृक्ष कहे

---

1. सप्तकाः देववृक्षाः। भाष्य – 5/1/58, पृ. 326

जाते थे। देवदारू की लकड़ी देवदाख कही जाती थी।

12. आम्र :-

यह फल वृक्ष है। आम्र के फल को भी आम्र कहते हैं। सेवा–सिंचन के द्वारा आम्र के पेड़ बड़े हो पाते हैं। फलों के लिए आम्र सेवा चाहते थे। भाष्य में 'एक पन्थ दो काज' के अर्थ में एक कहावत दी है।[1] 'आम भी सिच गये और पितर भी प्रसन्न हो गये।' इसे द्विगत हेतु कहते है। इससे अनुमान होता है कि लोग दैनिक तर्पण आम्र कके आलवाल में कर लेते थे। आम्र के पेड़ गाँव के पूर्व की ओर है। 'पूछे खेत की कहे खलिहान की'[2] इस अर्थ में आम्र को लेकर एक कहावत चल पड़ी थी–'पूछी आम की कही कोविदार की'। आम्र फल से बनी हुई खाद्य पेय वस्तुओं को आम्रमय कहते थे। व्यक्तियों के नाम तक आम्र के आधार पर रखे जाते थे। यथा–आम्रगुप्त, शालगुप्त। इनकी सन्तान 'आम्रगुप्तायनि कहलाती थी।

13. कदली :-

कदली का फल तो उपयोगी है ही, उसका स्तम्भ पुण्य कार्यों में काम आता था। कदली स्तम्भ काटना दूषित नहीं माना जाता था।[3]

14: बदरी :-

बदरी का फल बदर कहलाता था। बेर खाने का प्रचार प्राचीन भारत में अधिक मालूम होता है। द्रोण–भर बदर एकत्र कर रखे जाने की चर्चा एक स्थान पर उदाहरण रूप में आई है। इतना ही नहीं, लोग बेरों को सुखाकर पेटियों और पिटारियों में रखते थे।

---

1. आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः। भाष्य– 8/2/3, पृ. 316

2. आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचक्षते। भाष्य – 1/2/45, पृ. 532

3. आवसथ्य–2, पृ. 481

बदर का वृक्ष बदरी कहलाता था। इसमें नन्हें–नन्हें काँटे होते है। यह मधुर फलवाला वृक्ष है। भाष्यकार ने बदरी की परिभाषा उक्त प्रकार से दी है।[1] बदरी से बनी वस्तु बादर होती है।[2]

15. कपित्थ :-

यह औषधि–वर्ग का वृक्ष है। कपित्थ का रस ओषधि के काम आता था।

16. पिप्पल :-

यह प्लक्ष न्यग्रोध–वर्ग का क्षीरीवृक्ष है।[3]

17. हरीतिकी :-

यह औषधि–वर्ग की वनस्पति है। इसके फल भी हरीतिकी कहलाते है।

18. दाडिम :-

फल वृक्ष है। इसके फल भी दाडिम कहलाते थे।

19. आमलकी :-

आमलकी का फल आमलक होता है।[4] आमलकी के फल पकने पर लाल और पीले पड़ जाते है। आमलकी से उत्पन्न फल या अन्य वस्तुओं के लिए आमलकीज शब्द आया है। बदर और आमलक का उल्लेख कई बार साथ–साथ हुआ है।

---

1. *बदरी सूक्ष्मकण्टका मधुरा वृक्ष इति। भाष्य – 1/2/52, पृ. 445*
2. *वही। भाष्य– 6/4/153, पृ. 491 तथा 4/3/136, पृ. 261 तथा 4/3/143, पृ. 263*
3. *आवसथ्य – 2, पृ. 66*
4. *1/1/58, तथा आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्चगुणाः प्रादुर्भवन्त्यामलकं बदरमित्येव भवति। भाष्य– 5/1/118, पृ. 355*

20. जम्बू :-

जामुन को जम्बू कहते है। इसका फल भी जम्बू कहा जाता था।

21. उदुम्बर :-

उदुम्बर या गूलर का फल लाल होता है।[1] भाष्य में कहा है कि उदुम्बर में लाल फल पकता है । इसीलिए ताँबे के लोटे को भी उदुम्बर वर्ण कहा है। यह साम्य उदुम्बर फल के रंग से ही है।[2]

22. श्रृंगबेर :-

अदरक का पुराना नाम श्रृंगबेर था। यही शब्द सोंठ के लिए भी प्रयुक्त होता था। इसका स्वाद तीखा कड़ुआ होता है।

23. कोशातकी :-

यह धतूरे का दूसरा नाम है। इसके फल को भी कोशातकी कहते हैं।

24. गुग्गुलु :-

औषधि–वृक्ष है। इसका गोद ओषधि–रूप में व्यवहृत होता है।

25. मधु :-

महुए का वृक्ष है। इसे मधूक भी कहते है। इसके फल उपयोगी होते है।

26. ताल :-

संस्कृत साहित्य में ताल वृक्ष (ताड़) काकतालीय न्याय के कारण अमर हो गया है। काक आकर बैठा कि ताल अचानक गिर गया और कारण न होते हुए भी उनमें कारण कार्य–भाव दिखने लगा।

27. तुम्बुरु :-

तुम्बुरू धनियां को कहते है। इसका फल भी तुम्बरू कहलाता है।

---

1. *तस्मादुदुम्बरः सलोहितं फलं पच्यते। भाष्य – 3/1/87, पृ. 154*
2. *न हि गुड इत्युक्त मधुरत्व गम्यतेङ्गवरेमिति वा कटुकत्वम्।*
   भाष्य– 2/1/1, पृ0 253

28. त्रपुस :-

त्रपुस फल विशेष है। दही त्रपुस एक साथ खाने से ज्वर अवश्य बढ जाता है। भाष्यकार ने दधि और त्रपुस को प्रव्यक्ष ज्वर कहा है।[1]

29. पीलु :-

पीलु फलवान् वृक्ष है। महाभारत के अनुसार शारकोट तथा पंजाब में पीलु–वृक्षों का आधिक्य था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य लताएँ है, जो या तो वृक्षों के सहारे बढ़ती है या कभी–कभी स्वतन्त्र रूप से फैलती है। इनमें कुछ फलवती है और कुछ केवल पुष्पगयी है।

30. द्राक्षा :-

यह लता वर्ग के अन्तर्गत है। द्राक्षा मधुरफला होती है। भाष्यकार ने द्राक्षा को गुडकल्पा कहा है।

31. बिम्ब :-

इसका फल लाल होता है। ओष्ठ की लाली का सुप्रसिद्ध उपमान बिम्ब है।

32. सुवर्चला :-

सूर्यमुखी को सुवर्चला भी कहते है। इसका पुष्प पूर्वाभिमुख ही रहता है। भाष्यकार ने कहा है कि सुवर्चला सदा सूर्य के पीछे–पीछे घूमती है।[2]

33. उत्पल :-

उत्पल कमल का एक नाम है। इसके पुष्प माला के रूप में भी धारण किये जाते थे। आज भी ग्राम–कन्याएँ पुष्करणियों से उत्पल तोड़कर उनकी मालाएँ बनाकर पहनती है। कमल के नाल को विस कहते है। विस पानी में

---

1. दधित्रपुत्रसं प्रत्यक्षो ज्वरः। भाष्य– 1/1/59, पृ. 385

2. सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति। भाष्य– 3/1/7, पृ. 30

पड़ा–पड़ा अपने–आप बढ़ता रहता है। विस बहुत कोमल होता है और जलने पर उसके विकार नहीं दिखाई देते। मृणाल और विस के मूल की मृणाल और विस ही आख्या थी।

34. संफला :-

संफला, भस्त्राफला, अजिनफला, पिण्डफला, शणफला और त्रिफला में अंतिम को छोड़कर शेष विशिष्ट लताओं के नाम है। संफला श्रेष्ठ फलवाली, भस्त्राफला बड़े धौंकनी जैसे फलवाली, अजिनफला चिपटे छिलके के फलवाली, पिण्डफला सम्भवतः पिण्डखजूर, शणफला, सन और त्रिफला आँवले, हरड और बहेड़े का नाम है।

35. दूर्वा :-

दूर्वा मंगल–पूजन आदि के काम आती है। दूर्वा पड़ी–पड़ी बढ़ती रहती है।[1]

इसके अतिरिक्त कुश, काश, शर वर्ध्र, शीर्य आदि का भी उल्लेख मिलता है, जिनसे सब परिचित है। वार्ध्री रज्जु वर्ध्र की बनी होती थी।[2]

---
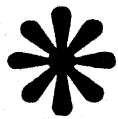
1. *काशिका – 3/2/126, पृ. 365*
2. *काशिका – 4/3/151*

3. पशुपालन

उपनिषद् विचार धारा के अनुसार प्राण और चित्त जीवन की दो विशेषताएं थी। प्राणभृत् संसार को पुनः मनुष्य (4/2/134) और पशु (3/3/69) इन दो वर्गों में बाँटा गया है। फिर पशुओं के भी दो विभाग किए गए हैं, ग्राम्य पशु (1/2/73) और आरण्य पशु (4/2/129) एक स्थान पर गवाश्व, गवाविक, गवैडक प्रभृति पशु एक साथ परिगणित किये गये है। मृग और शकुन्त और क्षुद्र जन्तु ये वर्ग भी देखने को मिलते है। इसके अतिरिक्त पशु, शकुनि मृग जैसी श्रेणियाँ भी मिलती है पशुपालन के अन्तर्गत पशुओं का वर्णन कुछ इस प्रकार है।

1. गो :-

गो शब्द का व्यवहार गाय और बैल दोनों के लिए होता था। गो सम्पत्ति और समृद्धि की सूचक थी। भाष्य में कहा है कि 'देवदत्त धनी है; क्योंकि उसके पास गो, अश्व और हिरण्य है।'[1] परिवारों में विशेषताः ब्राह्मण परिवारों में न केवल गाय अपितु बैल भी पालने की प्रथा थी। उपाध्यायों एवं गुरूओं को श्रद्धा की प्रतीक गाय भेंट में दी जाती थी। गाय पालने वाले सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे।

गो के अंगों एवं वर्णों के विषय में भाष्य में कहा गया है कि सास्ना, लांगूल, ककुद और विषाण गो शब्द का अर्थ है अथवा शुक्ला नीला, पीला, काला, कपिला या कपोती रंग गो शब्द के सूचक है। आयु भेद से गाय के अनेक भेद थे। बछिया का वत्सतरी, गर्भवती होने योग्य गाय को उपसर्या, पहली बार ब्याई हुई को गृष्टि सुत–गर्भा को वेहत्, आजकल में व्याने वाली

---

1. देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यं च। आढ्यो वैधवेयः।

– भाष्य– 1/3/9, पृ. 281

को अद्यश्वीना, दूध देती हुई को धेनु, छः माह पहले व्याई हुई को वष्कयणी कहा जाता था।

कुछ गायें प्रतिवर्ष जनने वाली होती है और कुछ तीसरे वर्ष। प्रतिवर्ष जनने वाली गाय तीसरे वर्ष जनने वाली से अच्छी मानी जाती थी। बैल की अपेक्षा गाय का मूल्य अधिक था, इसीलिए 'भाष्यकार ने बछड़ा जनने वाली गाय की अपेक्षा बछिया जनने वाली गाय को श्रेष्ठ माना है।'[1]

गायों से प्राप्त होने वाली वस्तुएँ गव्य कहलाती थीं। दूध पिलाने के बाद बछड़ों को बाँध दिया जाता था। शेष दूध पालक अपने उपयोग के लिए निकाल लेता था। कालिदास ने 'प्रीतप्रतिवद्धवत्सा' तथा 'वत्सस्य' होमार्थ विधेश्च शेषम् द्वारा इसे सूचित किया है।[2] दूध के लिये गाय ही पाली जाती थी। गायों में कृष्णा गाय अत्यधिक दूध देने वाली होती है इस बात से सभी परिचित है।[3]

गाय के दूध से दही, दही से मट्ठा, और मक्खन तैयार होता है। मट्ठा बेचकर कुछ लोग जीविका चलाते थे। इससे स्पष्ट है कि गाय भारतीय परिवार का विशिष्ट अंग बन गई थी। इसी कारण ग्रहस्थ–भोजन में अग्रबलि गाय के लिए निकालते थे।

पञ्चरात्रम् नाटक में पाण्डवों का पता लगाने के लिये समस्त कौरव युद्ध सामग्री से तैयार होकर युद्ध के लिये तैयारी किये अस्त्रों को लिये हुये

---

1. *गौरियं या समासमा विजायते। गोतरेयं या समासमा विजायते स्त्री वत्सा च। भाष्य– 5/3/55, पृ. 445*
2. *रघुवंश महाकाव्य – सर्ग– 2*
3. *गोषु कृष्णा बहुक्षीरा। कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा। भाष्य–4/3/42, पृ. 423*

विराट की शत्रुता का बदला गायों से ले रहे है। और रथ की धूल उड़ने से सभी गायें एक वर्ण की सी हो गई थी ऐसा प्रसङ्ग आया है–

''मा तावद् व्यथितविकीर्ण बालवत्सा
गावों में रथर वशटया ह्रियन्ते।
पीनांसश्चलवलयः सचन्द्रनार्द्रोनिर्लज्जो
मम च करः कराणि भुङ्क्ते।।''[1]

''एक वर्णेषु गात्रेषु गवां स्यन्दनरेणुना।
कशापातेषु दृश्यन्ते नानावर्णविभक्तयः।[2]

पञ्चरात्रम् में ही एक अन्य उद्धरण इस प्रकार मिलता है–

''धनुरूपनय शीघ्रं कल्प्यतां स्यन्दनो मे
मम गतिमनुयातु च्छन्दतो यस्य भक्तिः।
रणशिरसि गवार्थे नास्ति मोधः प्रयत्नो
निधनमपि यशः स्यान्मोक्षयित्वा तु धर्मः।।''[3]

इसी प्रकार स्वप्नवासवदत्तम् व बालचरित आदि नाटकों में भी गायों का वर्णन मिलता है–

'भो मेघदन्त! खलु वृषभदन्त! खलु कुम्भदन्त! खलु घोषदन्त![4] खलु, प्रकालयत प्रकालयत गोधनम्। एतस्मिन् बृन्दावने प्रकामं पानीयं पीत्वा हुम्मारवं कुर्वदायतु गोधनम्। एष गोव्रजान् निष्क्रम्य परिधट्टित वल्मीक मूलो भुजङैः कुवर्णैः

---

1. *पञ्चरात्रम्–भास– 2/3/70*
2. *पञ्चरात्रम्–भास– 2/4/72*
3. *पञ्चरात्रम्–भास– 2/5/73*
4. *बालचरितम् – भास – 3/53–54*

नीलोत्पलदामभिः श्रृङ्लग्नैरिव वृषभः शोभते। अन्योऽप्येव वृषभ उच्छित प्रसारित पुच्छो निकुञ्चितजानुः शशीवधवलाडोडग्रविषाणाभ्यां महीनुद्वहन्निव शोभते। यावदिदानीं दामकं शब्दयामि। अरेदामक। भगवतीःसुस्थलेऽवतार्य सद्दवत्सास्त्वमप्यागच्छ।[1]

'विश्रब्धं हरिणाचरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
बृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः।।"[2]

इस प्रकार गायों के वर्णन से सिद्ध होता है कि गो पालन का मूल उद्देश्य जीविका के साथ साथ शारीरिक शक्ति के लिये उसके दूध का सेवन अत्यधिक लाभदायक होता है।

2. बैल :-

गाय के बछड़े वत्स कहलाते थे। युवा बैल को उक्ष और उससे बड़े अधेड़ उम्र के बैल को उक्षतर कहते थे। सशक्त बैल को ऋषभ कहते थे, किन्तु जब वह दुर्बल हो जाता था, उसे तब ऋषभतर कहते थे।[3] जो बछड़ा आगे चलकर श्रेष्ठ बैल बनने वाला होता था, उसे आर्षभ्य कहते थे।[4] वत्स पहले दम्य और फिर बलीवर्द बनता है।[5] दम्य अवस्था को प्राप्त होने पर वत्स जुए में जोता जाता था। धीरे–धीरे उसे गाड़ी और हल खींचने में प्रशिक्षित किया जाता था। साधारण बैल केवल गाड़ी के काम आते थे। अच्छे बैल वे

1. *बालचरितम्– भास–3/53*
2. *स्वप्नवासवदत्तम – भास – 1/12/33*
3. *काशिका – 5/3/91, पृ. 476, तथा 5/3/91*
4. *काशिका – 5/1/13, पृ. 305 तथा 5/1/14*
5. *काशिका – 1/1/1 पृ. 105*

माने जाते थे, जो गाड़ी और हल दोनों में काम आवे।[1] बैल रथ भी खीचते थे।[2] प्रदेशों में होने वाली विशेष नस्लों के आधार पर बैलों की योग्यता और मूल्य निर्धारित किये जाते थे। कच्छ, रंकु और साल्व के बैल विशेष प्रसिद्ध थे।

बड़े होने पर बैल बाँधकर रखे जाते थे। मारक या चंचल बैलों को प्रायः बधिया कर दिया जाता था।[3] बधिया बैल वध्रिका कहे जाते थे, शेष बलीवर्द। यह बात ग्राम्य बैलों पर ही लागू होती थी। आरण्य बैलों को पकड़ना सम्भव नहीं था। इस प्रकार बैल कृषि और रथ दोनों के काम आते थे और इसी दृष्टि कोण से उनका पालन भी किया जाता था। बालचरित में बैल का वर्णन इस प्रकार से मिलता है–

'कृत्वा खुरैर्भूमितलं प्रभिन्नं श्रृङ्गैश्चकूलानि समाक्षिपंच।
भयार्तगोपैः प्रसमीक्ष्यमाणो नदन् समाधावति गोवृषेन्द्रः।।"[4]

बैलों के बड़े–बड़े सींगों को विश्रृंकट भी कहते थे। और ऐसे सीगों वाले बैल की भी विशाल या विश्रृंकट संज्ञा थी। आनन्द में मग्न बैल की दहाड़ को अपस्किरण कहते थे।

जाडे के दिनों में ठण्ड से बचाने के लिए उन पर झूले या मोटे प्रवारक डाले जाते थे। जिन बैलों पर झूले नहीं पड़ते थे वे मारे ठण्ड के ठिठुरकर दुबले हो जाते थे।

---

1. गौरयं शकटं वहति। गोतरोऽयं यः शकटं वहति सीरं च।
– भाष्य– 5/3/55, पृ. 445

2. काशिका– 2/2/24, पृ. 336

3. काशिका– 1/2/72, पृ. 609

4. बालचरित – भास– 3/4/63

3. अश्व :-

गाय और बैल के बाद सर्वाधिक उपयोगी पशु अश्व था। यह सवारी के काम तो आता ही था, रथ भी खींचता था। अश्व और वृष दोनों रथ में जोते जाते थे। रथ में कई घोड़े एक साथ जुतते थे, इसीलिए साधारण घोड़े की अपेक्षा उसकी गति तीव्र होती थी। साधारण अश्व दिन में चार योजन चलता था[1] और अच्छी नस्ल का अश्व आठ योजन। पदाति की अपेक्षा आश्विक कम समय में मार्ग तय कर लेता था और आश्विक की अपेक्षा रथिक। अश्व युद्ध में भी काम आते थे।[2] शिक्षित अश्व हाथी को पराजित कर सकते थे। अश्वरथ तो संग्राम का अनिवार्य अंग था। बैलों द्वारा चला या जाने वाला रथ गो–रथ कहलाता था। इसी प्रकार उष्ट्ररथ और गर्दभरथ भी होते थे। अश्वशाला को 'मन्दुरा' कहते थे।

सिन्धु प्रदेश के घोड़े प्रसिद्ध थे। इसलिये घोड़े का सामान्य नाम भी सैन्धव हो गया था। इस प्रकार अश्व युद्ध की दृष्टि से महत्वपूर्ण पशु था साथ ही रथ खींचने के लिए सबसे उपयोगी पशु था। भास कृत प्रतिमानाटकम् के द्वितीय अंक में राम के वन गमन के पश्चात् कञ्चुकी प्रतिहारी से इस प्रकार का वर्णन करते हुये कहता है कि राम के विरह में घोड़ो की आँखें आँसू से डबडबा रहे है, और उन्होंने हिनहिनाना भी छोड़ दिया है–

'नागेन्द्रा यवसाभिलाषविमुखाः सास्रेक्षणा वाजिनो
ह्रेषाशून्यमुखाः सवृद्धवनिता बालाश्र्च पौरा जनाः।

---

1. *अश्वोऽयं यश्चत्वारि योजनानि गच्छति। अश्वतरोऽयं योऽष्यौ योजनानि गच्छति। भाष्य– 5/3/5/55, पृ. 446*
2. *पतंजलि कालीन भारतवर्ष – 2/1/34, पृ. 287*

त्यक्ताहारकथाः सुदीनवदनाः क्रन्दन्त उच्चैर्दिशा

रामो याति यया सदारसहजस्तामेव पश्यत्तयमी।।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अश्व मनुष्य के लिये एक महत्वपूर्ण आवश्यकता थी।

4. गज :-

राजा तथा अन्य धनी–मानी लोग गज पालते थे। गज तो द्विप भी कहलाते थे;[2] क्योंकि वह मुख तथा सूँड़ दो–दो स्थानों से पी सकता है। गज के अन्य नामों में 'स्तम्बेरम' भी एक था; क्योंकि हाथी स्तम्ब (वृक्ष–गुल्म) में रमण का प्रेमी होता है। हाथी का एक नाम मिलगम था; क्योंकि उसकी चाल बड़ी नियमित और मन्थर होती है। गजों का समूह गजता और हस्तियों का समूह हास्तिक कहलाता था। हाथी पालतू होते थे और जंगली भी। हिमालय की तलहटी हाथियों के लिये प्रसिद्ध थी। इसी उपत्यका से पालने के लिये हाथी पकड़कर लाये जाते थे। हस्तिपक उन्हें प्रशिक्षण देकर चलना सिखलाते थे। सवारी के लिये हाथी बैठ जाता और आरोहक उस पर चढ़ लेते थे। युद्ध का तो वह अनिवार्य अंग था ही। हाथी में प्राणित्व की मात्रा विशेष है।[3] हाथी–दाँत सदा से ही लोगों के आकर्षण के विषय रहे है। दाँतों के लिये लोग हाथी का वध करते थे।

हाथी को जो कुछ उड़द आदि अन्न खाने को दिया जाता था, उसे हस्तिविधा कहते थे। हाथी जब कभी स्तम्ब से खुल जाता, तब नगर में

---

1. प्रतिमानाटकम्– भास– 2/2/58

2. वैदिक इण्डेक्स– 1/43

3. हस्तिमशकयोस्तुल्यः सन्निकर्षः प्राणिभयस्त्वं तु।

भाष्य– 1/4/109, पृ. 218

हाहाकार मचा देता था। लोगों को खूँदता–कुचलता सड़कों पर घूमता था, जैसा कि अविमारक में कुरगी की रक्षा के लिये वर्णित हुआ है–

'भूतिक!त्वमप्युद्यानं गच्छ कुरंङ्गीरक्षणार्थम्। मदभावस्थो ह्याञ्जन गिरिः।[1]

भास के प्रतिमानाटकम् नाटक में वर्णित है कि राम के वनगमन के पश्चात हाथियों ने घास खाना तो दूर उसकी अभिलाषा भी त्याग दी–

'नागेन्द्रा यवसाभिलाषविमुखाः सास्रेक्षणा वाजिनो
ह्रेषाशून्यमुखाः सवृद्धवनिता बालाश्च पौरा जनाः।
त्यक्ताहारकथाः सुदीनवदनाः क्रन्दन्त उच्चैर्दिशा
रामो याति यया सदारसहजस्तामेव पश्यत्तयमी।।'[2]

ऐसा ही वर्णन मालती माधव में भी वर्णित हुआ है।[3]

5. उष्ट्र :-

उष्ट्र माल ढोने और सवारी के काम आता था। वह गाड़ी में भी जोता जाता था। रथ खींचता था। ऊँट बाँधने का स्थान उष्ट्रगोष्ठ कहा जाता था। पतंजलि ने कहा है कि उपमान या सादृश्य के कारण कभी–कभी वस्तुओं का कोई नाम प्रचलित हो जाता है। मूलतः गो बाँधने के स्थान को गोष्ठ कहते थे। बाद में किसी भी पशु के रहने का स्थान गोष्ठ कहलाने लगा। इसी प्रकार ऊँटों की जोड़ी उष्ट्र–गोयुग कही जाने लगी। ऊँटों का समूह उष्ट्रकट कहा जाता था। उष्ट्र सर उष्ट्र–गर्दभ, उष्ट्र–करभ और 'नाश्वो न गर्दभः' आदि प्रयोगों में उष्ट्र और गर्दभ का बार–बार साथ–साथ उल्लेख होने से अनुमान होता है कि इन दोनों–पशुओं का उपयोग–साम्य या साहचर्य था। ऊँट के

---

1. *अविमारक- भास- 1/3*
2. *प्रतिमानाटकम्- भास- 2/2/58*
3. *मालती माधव - 'नगरधातोहस्ती'। - 3/2/53, पृ. 219*

चालक को उष्ट्रप्रणाय कहते थे। ऊँट के अंग उपमानों का काम देते रहे है। ऊँट के समान लम्बी गर्दन वाले उष्ट्रग्रीव और उष्ट्र जैसे मुख वाले उष्ट्र मुख कहे जाते थे। ऊँटों का बैठना भी आसन का एक प्रकार था। इसे श्रृंखला में बाँध कर रखा जाता था। वास्तव में यह श्रृंखलावती रस्सी ही होती थी, जो नकेल के रूप में उसे पहनाई जाती है। ऊँट के सवार या सईस को उष्ट्रसादि कहते थे।[1] उष्ट्र या तो मरू प्रदेश में मिलते थे या बहुत पहले ही बाहर से भारत में लाये गये थे। वैदिक काल तक में हम उन्हें बोझ ढोते और शकट खींचते पाते है।[2]

6. गर्दभ :-

उष्ट्र के समान खर भी भार–वाहन एवं शकट वहन के लिये पाला जाता था। इसका उल्लेख प्रायः उष्ट्र के साथ हुआ है। 4/3/120 सूत्र के अनुसार भाष्य ने गर्दभ द्वारा खींचे जाने वाले शकट को गदर्भ नाम दिया है। रथ को भी गार्दभ कहा है। इससे अनुमान होता है कि खच्चर या गर्दभ रथ में भी जोते जाते थे। ऊँचे स्वर से चिल्लाने के कारण इसे (ख = छिद्र+र = वाला) खर कहने लगे थे। गर्दभ मुख्य रूप से भार ढोने के काम आते थे। भाष्य में गर्दभ के काषाय रंग के कानों का उल्लेख मिलता है।[3] खर आरण्यक भी होते थे। यह तो निर्विवाद है कि खर आज के समान अस्पृश्य नही था। गर्दभ के दो पाँवों के काषाय (गेरूआ) रंग का उल्लेख भी मिलता है।

7. महिष :-

महिष और महिषी पतंजलि–युग में विशेष लोकप्रिय नहीं थे। सारे देश

---

1. *काशिका– 6/2/40*
2. *अथर्ववेद– 20–127/132*
3. *काषायौ गर्दभस्य कर्णौ। – 4/2/2, पृ. 166*

में उन्हें पालने की प्रथा नहीं जान पड़ती थी। वे प्रायः अरण्यों में रहते थे। आज भी भारत के किसी भाग में उनका उपयोग होता है और किसी में नहीं। तरूण भैसों को, जिनके सींग निकल रहे हों कटाह थे।

8. अजा और अवि :-

अजा को कृषक लोग धन मानते थे।[1] भाष्यकार ने कहा है कि देवदत्त के पास अजा और अवि धन है। यह नही कह सकते कि किसके पास अजा–धन है और किसके पास अवि–धन। इन दोनों को धन से गिनने का कारण भी था। प्रारम्भ में अधिकांश भारतीय किसान भेड़–बकरियाँ पालते थे। वैदिक काल में ये सम्पत्ति मानी जाती थी, इसीलिए इनके पालन पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। गान्धार और परूष्णी की ऊन वाली भेड़ों का उल्लेखा ऋग्वेद में बार–बार मिलता है। बाद में हिमालय प्रदेश ऊर्णा का प्रमुख स्रोत बन गया।

गो के बाद सर्वसाधारण के सर्वाधिक उपयोग का प्राणी अजा थी। हाथी अश्व आदि को सब लोग नहीं पाल पाते थे। अजा दूध देती थी। वर्ष में बहुत सारे बच्चे देती थी। बकरे का मांस खाया जाता था। उसके चमड़े मशक आदि के काम आते थे। इसीलिए अज और अवि को धन कहा है। जिस खेत में वो रात–भर बैठ जाती, वह खाद पाने के कारण अधिक उपजाऊ हो जाता था। यज्ञों में भी बकरे की बलि दी जाती थी।[2] अज छोटा पशु है। उसे आते जाते लोग एक गाँव से दूसरे गाँव ले जाया करते थे। गान्धार की भेड़ ऊन के लिये

---

1. *अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ न ज्ञायते कस्याजाधनं कस्यावय इति।*
   – 1/1/46, पृ. 280
2. *गौरनुवध्योऽजोग्निषोमीयः। – भाष्य – 4/1/92, पृ. 114*

प्रसिद्ध थीं। डा0 पिशल के मत से परूष्णी (रावी या इरावती) नाम ही परूष से बनी होने के कारण पड़ा था।[1]

अवि का मांस भी बकरे के समान खाया जाता था। अवि के मांस को आविक कहते थे। भेड़ का दूध भी व्यवहार में आता था भेड़ के दूध को अविसोढ़, अविदूस या अविभरीस कहते थे। भेडे जब एक दूसरी से सटी हुई सहस्रों की संख्या में खेत में बैठ जाती थी तब ऐसा लगता था, जैसे खेत में श्वेत वस्त्र बिछा हुआ हो। इसीलिए भेड़ों के इस प्रकार बैठने को अविपट और भेडों के समूह को अविकट कहते थे।[2]

9. श्वा :-

कुत्ता मानव का बड़ा पुरान मित्र है। कुट्–कुट् करने के कारण इसे कुर्कुर भी कहते थे। ऊँची नस्ल के कुत्ते को कौलेयक कहते थे। वह खेतों में फसल की रक्षा करता था। इक्षु के खेतों को श्रृंगाल के खाने से बचाता था क्योंकि कुत्ते और श्रृंगाल का शाश्वतिक विरोध है। भाष्यकार कुत्ते की प्रकृति से परिचित थे। उन्होंने कहा है कि जब कुत्ता आश्रय–स्थान की तलाश में होता है, तब वह कूँ–कूँ करता है।[3] वे इस बात से भी अवगत थे कि श्वा और वराह की शत्रुता जन्मजात होती है। इस शत्रुता को श्वावराहिका कहते थे।[4] कुत्तों के रहने के लिये भी कुछ घरों में पृथक दरवे बना दिये जाते थे, यह संकेत गोष्ठश्व से प्राप्त होता है। ये श्वगोष्ठ वे लोग बनवाते थे, जो व्यवसाय

---

1. *वैदिक इण्डेक्स– 1/41*
2. *यथा नाना द्रव्याणां संघातः कट एवमवयः संहता अविकटः। यथा पटः प्रस्तीर्ण एवमवयः प्रस्तीर्णा अविपटः। – भाष्य 5/2/29, पृ. 376*
3. *भाष्य – 1/3/21 पृ. 62 तथा 6/1/42, पृ. 190*
4. *भाष्य – 4/2/104, पृ. 210*

के रूप में कुत्ते पालने का काम करते थे। ये लोग श्वागणिक कहलाते थे। कुत्ते अपराधियों के वध करने के काम में भी लाये जाते थे कभी–कभी नगर या गॉव की किसी गली में बहुत से कुत्ते एकत्र होकर भूकते थे, जिससे वहाँ से निकलना कठिन हो जाता था। कुछ लोग कुत्ते का मांस भी खाते थे। ये लोग निम्नतम श्रेणी के थे। कुत्ते को लोग प्यार से रखते थे पुचकारते थे। कुत्ते जब मरने को होते है, तब एकान्त में जाकर पड़ जाते है। उनकी आँखें सूजी और ऊपर चढ़ी हो जाती है।[1]

10. मृग :-

आरण्यक पशुओं को हम दो भागों में बाँट सकते है– तृणान्नभोजी तथा मांसभक्षी। अमांसभक्षियों में मृग मुख्य है। भाष्यकार ने उसे वातमज अर्थात वायु के समान शीघ्रगामी कहा है। मृगों की अनेक जातियाँ थीं। ऋपूय भी एक भेद था, जिसकी मादा को रोहित कहते थे। चमड़ी पर दागवाले पशु जिनमें हिरन भी सम्मिलित है, चर्मतिल कहलाते थे। चर्मतिल मृग की पीठ पर चकत्ते रहते है। काले मृग को कृष्ण सारंग कहते थे। और मृग भी मृग की एक जाति थी, इसकी पीठ पर सफेद चकत्ते रहते हैं। चमरी उस मृग को कहते थे, जिसकी पूछ का चमर बनाया जाता था। चमर के लिए चमरी का शिकार किया जाता था।[2] इसी प्रकार पुष्कलक गन्धमृग था।[3] इसकी नाभि में कस्तूरी मानी जाती थी। कस्तूरी एवं अण्डकोष के लिये पुष्कलक का वध किया जाता था। द्वीपी भी मृग का एक भेद था, जिसका चर्म अति सुन्दर होता था। द्वीपी का आखेट चर्म के लिये किया जाता था।[4]

---

1. श्वानः खल्वपि मूमूर्षव एकान्तशीलाः शूनाक्षाश्च भवन्ति।
– भाष्य– 3/1/7, पृ. 29

2. भाष्य – केशेषु चमरीं हन्ति– 2/3/36, पृ. 431

3. भाष्य – सीम्नि पुष्कलको हतः – वही

4. भाष्य – चर्मणि द्वीपिनं हन्ति – 2/3/36, पृ. 431

11. नीली गाय :-

नीली गौ गाय के समान ही होती है। यह आरण्यक होती है और हिरन के समान भागती है। नीले रंग की सामान्य गाय 'नीला गौः' कहलाती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मास के समय में भी इन पशुओं का वर्णन मिलता है।
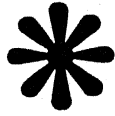
4. व्यापार

व्यापार वाणिज्य तथा लेन–देन के लिये व्यवहार शब्द का प्रयोग हुआ है। खरीदने के अर्थ में क्रय, बेचने के अर्थ में विक्रय और दोनों के सयुक्त अर्थ में क्रय–विक्रय शब्द प्रचलित था और व्यापारी क्रय–विक्रयिक कहलाते थे।[1] व्यवहार का जो व्यापक अर्थ था, उसके लिये वाणिज्य शब्द था और वाणिज्य करने वाले के लिये वाणिज। इसमें कुछ संकुचित अर्थ में वणिक शब्द प्रचलित था, जिसका साधारण अर्थ था व्यापारी। वणिक् और तुला का सम्बन्ध अविच्छेद्य–सा माना जाता था। इसीलिए एक स्थान पर वणिज् शब्द से तत्सम्बन्धी तुला–सूत्र का ग्रहण किया गया है। जिस रस्सी को पकड़कर तराजू उठायी जाती है, उसे तुला–प्रग्राह कहते थे। तुला–प्रग्राह को लेकर घूमने वाले या उससे जीविका कमाने वाले सामान्य तया वणिक् और यदा–कदा कोई दूसरे भी होते थे। जिससे ये भी पता चलता है कि व्यापार या वाणिज्य अनिवार्य रूप से वणिक् के ही हाथ में नहीं था।[2]

वाणिजों के नाम दो आधार पर थे–अन्तरप्रातीय और अन्तरराष्ट्रीय। यद्यपि भारत से बाहर माल के आने जाने का हमें पता नहीं चलता। पश्चिमी तट पर वाणिज्य की सीमा भृगुकच्छ जान पडती है। मद्र, कश्मीर, गान्धार करने का उल्लेख काशिका में स्पष्ट है। सम्बद्ध पाणिनि–सूत्र भी अन्य प्रदेश में जाकर वाणिज्य करने की बात करता है और इस आधार पर वाणिज्यों की श्रेणियाँ निश्चित करता है। यथा–मद्रवाणिजं काश्मीरवाणिजं। वस्तुओं के

---

1. काशिका – 4/4/13

2. वणिजाम् वणिक् सम्बन्धेन च तुलासूत्रं लक्ष्यते न तु वणिजस्तन्त्रम्। तुला प्रगह्यते येन सूत्रेण स शब्दार्थः। तुलाप्रगाहेण चरति तुलाप्रग्राहेण चरति वणिगन्यो वा। – 3/3/42 – काशिका

आधार पर वाणिजो के नाम हुआ करते थे। पाणिनि ने संस्थान शब्द का भी प्रयोग किया है, संस्थान व्यापार–संघों को कहते थे। उनके सदस्य के रूप में व्यापार करने वाले की संज्ञा सांस्थानिक थी।

मूल्यवान वस्तुएँ यथा पशु आदि खरीदने के लिए पेशगी की प्रथा थी। ग्राहक आपणिक को क्रयेच्छा (खरीदने की इच्छा का) प्रमाण देने के लिये दो–एक रूपये पहले देता था, तब मोल–भाव करता था। पेशगी लेने के बाद आपणिक उस वस्तु को अन्य किसी के हाथ नही बेच सकता था भले ही बाद में उसे मूल्य दुगना मिलता है। इस क्रिया को 'सत्यापयति' कहते थे जिसका अर्थ था बात पक्की करना। साई लेने की क्रिया को सत्याकरोति कहते थे। काशिकाकार ने भाण्ड के सत्याकरण का उल्लेख किया है।[1] इस प्रकार वस्तुओं का क्रय विक्रय होता था। यद्यपि पण्य वस्तुओं की संख्या बहुत अधिक है, वो इस प्रकार है, गुड, मूँग, जौ, अन्न, दालें दही, कुल्माष, अश्व, शब्कुली, मोदक, लवण, शाटी, शाटक, कम्बल, कौशेय, उमा, ऊर्णा, कार्पास, तूल, गुग्गुलु, हरिद्रा, चन्दन, सोने–चाँदी के आभूषण, कुण्डल, स्वस्तिक, किरीट, वीणा, मुरज, पणव, फूल मालाएँ, बैल, गो, अश्व, हाथी, भेड़, बकरियाँ, ऊट, आदि।

विनिमय :–

विनिमय में अन्न का प्रयोग ही मुख्यतः होता था। दो सूप तीन सूप या अधिक अन्न देकर वस्तुएँ खरीदने की प्रथा साधारण थी।

पाँच गाय या बैल देकर बदले में खरीदी हुई वस्तु (बड़ा बैल भूमि, बाग) आदि को पंचगु कहते थे।

---

1. काशिका – 5/4/66

जिस वस्तु का मूल्य सौ (कर्षापण) होता था, उसे शत्य या शतिक कहते थे। इसी प्रकार सहस्र (कार्षापण) मूल्यवाली वस्तु साहस्र कही जाती थी।

इनके अतिरिक्त अंजलि, प्रस्थ, गोणि, खारी और आचित से वस्तुएँ खरीदने का उल्लेख प्राप्त होता है। पंचनौः और दशनौः पाँच तथा दस नावों से विनिमय की ओर संकेत करते है। पुरानी नावें (जो काम में नहीं आतीं) को बेचकर बदले में दूसरा माल खरीदा जाता होगा। विदेशी माल का इस प्रकार विनिमय द्वारा खरीदा जाना अधिक संभावित है।

मूल्य और लाभ :-

किसी वस्तु की वास्तविक लागत को मूल कहते थे, अर्थात् मूल वह व्यय था जो किसी वस्तु को विक्रय के योग्य तैयार करने या तदर्थ प्राप्त करने पर आता था। व्यापारी उस पर लाभ मिलाकर जो धन प्राप्त करना चाहता था, उसे मूल्य कहते थे। लागत के अतिरिक्त प्राप्त राशि को लाभ कहते थे। जिस वस्तु से जितना लाभ प्राप्त होता, उसी नाम पर वस्तु को पुकारने की प्रथा थी। पंचक आदि विशेषण संभवतः प्रतिशत लाभ को दुष्टि में रखकर निश्चित किये जाते थे। अर्ध और भाग कार्षापण के लिये अर्धाश शब्द प्रयुक्त हुआ है। मूल से आनाभ्य या अभिभवनीय को मूल्य कहते थे। मूल्य मूल को सगुण बनाता है।

व्यापार मार्ग :-

मद्र, कश्मीर और गान्धारादि देशों में जाकर व्यापार करने की चर्चा पीछे हो चुकी है। द्रव्यक लोग दूर-दूर देशों में माल ले जाते थे और वास्निक के रूप में थैली भरकर लौटते थे। यह तभी सम्भव था, जब यात्रा के सरल साधन उपलब्ध हो। पाणिनि ने पथिक और पथक में अन्तर किया है। पथिक साधारण यात्री को कहते थे। किन्तु पथक कुशल यात्री की संज्ञा थी।

शुल्क :-

राज्य व्यापार पर कर लेता था, जिसे शुल्क कहते थे। एतदर्थ, राज्य की ओर से शुल्क–शालाएँ बनी थीं, जो वर्तमान तटकर ग्रहों और चुंगी–नाकों के समान रही होगी।[1] इनका अधिकारी शौल्कशालिक होता था, जो निश्चित वस्तुओं पर नियत परिमाण में शुल्क वसूल करता था। कर देने के बाद ही कोई वस्तु विक्रय के लिए अर्हता–प्राप्त मानी जाती थी। अर्हता प्राप्त करने की क्रिया को अवक्रय कहते थे।[2] अवक्रय राज्य की आय का साधन था। इसीलिए शुल्क–शालाएँ आय–स्थानों में गिनी जाती थी।[3] इसके अतिरिक्त आपण–कर आकर–कर तथा गुल्मकर लेने की भी व्यवस्था थी।[4] ये कर धर्म्य माने जाते थे। शुल्क जब तक व्यापारी पर भार न बन जाय तब तक धर्म्य माना जाता था।

लोक में शुल्क को कार भी कहते थे। कार और देय में अन्तर था।[5] देय ऐच्छिक कर्तव्य था और कार्य अनिवार्य। भारत के पूर्वीय प्रदेश में लगने वाले कुछ विशिष्ट करों का संकेत 'कारनाम्नि च प्राचां हलादौ' (6/3/10) सूत्र से मिलता है। भाष्यकार ने इस प्रकार के करों में एक व्यापारिक कर 'अविकटोरण'

---

1. *काशिका – 4/13/75*
2. *अवक्रीणीतेऽनेनत्यवक्रयः पिण्डक उच्यते। शुल्कशालायाः अवक्रयः शौल्कशालिकः नन्वक्रयोऽपि धर्म्यमेव ? नैतदस्ति लोकपीडयाधर्मातिक्रमेणाप्यवक्रयोभवति। – 4/4/50, काशिका।*
3. *काशिका – 4/3/75*
4. *काशिका– 4/4/50*
5. *काशिका – 6/3/10*

का उल्लेख किया है।[1] भेडों के समूह पर एक उरण या भेडा कर स्वरूप देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त अव्यापारिक प्राच्यकरों में 'सूपे शाण' (प्रत्येक चूल्हे पर एक शाण) 'दृषदिमाषक' (प्रति चक्की एक माष) 'हले द्विपदिका' (प्रति हल दो पाद कार्षापण) 'नदी दोहनी' (प्रति नाव एक कुण्डी दूधनाव्य कर) 'मुकुटे कार्षापण' (प्रति व्यक्ति या प्रति सिर एक कार्षापण) का उल्लेख काशिका कार ने किया है। यूथ–पशु अप्राच्य कर था जिसमें प्रति पशु यूथ एक पशु कर स्वरूप लिया जाता था।[2] ये कर नियमित नहीं थे।

आजतक गाँव में आवश्यक अवसरों पर इसी प्रकार सामाजिक या स्थानीय शासकीय कर लगाये जाने की प्रथा रही है।

स्पष्ट है कि चुंगी या उत्पादन शुल्क प्रायः वस्तु या पदार्थ के रूप में लिया जाता था, मुद्रा के रूप में नही। हॉ बडे उत्पादनों पर या तो प्रतिशत निश्चित था या मुद्राएँ नियत थी।

---
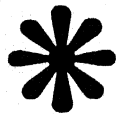
1. भाष्य – 6/3/10, पृ. 303

2. वही – काशिका

5. श्रम

शारीरिक श्रम से जीविका चलाने वालों को दो भागों में बाँटा जा सकता है – शिल्पी और श्रमिक। शिल्पी शब्द चारू शिल्पी और कारू शिल्पी दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। श्रमिक वे कहे जाते थे, जिनमें किसी व्यवसाय या कौशल की योग्यता नहीं होती थी। इसलिये वे निर्वाहार्थ किसी धनी, व्यवसायी, कृषक, या शिल्पी आदि को अपना शारीरिक श्रम बेचकर उसके बदले में द्रव्य, अन्न, वस्त्र या उदर पूर्ति के साधन प्राप्त करते थे। श्रम को खरीदने वाले स्वामी को अर्थ कहते थे। निश्चित धन–राशि देकर निश्चित अवधि के लिये व्यक्ति का श्रम खरीदने वाला व्यक्ति 'अवक्रेता' कहलाता था और क्रय की इस प्रकार की क्रिया 'परिक्रयण' कही जाती थी। सौ, पाँच सौ या हजार कार्षापण पर साल दो साल या अधिक के लिये श्रमिक नियुक्त कर लिये जाते थे।[1]

श्रमिकों के भेद :-

सेवा और पारिश्रमिक की दृष्टि से श्रमिकों के भेद किये जा सकते है। भाष्य में उनके अनेक नाम मिलते है। जैसे– कर्मकार, परिक्रीत, भृत्य, प्रसाधक, दास और भाक्तिक। श्रमिक को नियुक्त करना भी 'उपनयन कर्म' कहलाता था जिसका अर्थ था 'वेतन देकर पास लाना'[2] वेतन का दूसरा नाम 'भृति' भी था।

वेतन की दर :-

कर्मकार निश्चित वेतन पाते थे। दूसरों के घर काम करने जाने वाले

---

1. *परिक्रयणं नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणं नात्यन्तिकः क्रय एव*

– काशिका 1/4/44

2. *काशिका – 1/3/36*

शिल्पी का दैनिक पारिश्रमिक भी वेतन कहलाता था। वेतन पर नियुक्त कर्मकर वैतनिक कहे जाते थे। वेतन के रूप में कार्षापण देने की प्रथा थी।[1] इस प्रकार सामान्यतया कर्मकर को $7\frac{1}{2}$कार्षापण वेतन मिलता था। भृतक और भृत्य प्रायः समानार्थी थे। भृतकों के भी पादिक ($\frac{1}{4}$कार्षापण) का उल्लेख भाष्य में कई बार मिलता है। स्वामी का कर्तव्य माना जाता था कि वह कर्मकर के भरण–पोषण की व्यवस्था करे। इसलिये भृत्य को भरणीय भी कहते थे।[2]

वेतन की साधारण दैनिक दर 'पादिक' थी, किन्तु कार्य के अनुसार उसमें अन्तर भी रहता था। मासिक दर दैनिक की दृष्टि से कुछ भिन्न रहती थी । कभी–कभी मासिक वेतन पाँच कार्षापण दिया जाता था, कभी छह और कभी दस तक। कर्मकरो के नाम भी उनके मासिक वेतन के अनुसार चल पड़ते थे। जैसे– पाँच कार्षापण पाने वाले कर्मकर पंचक कहे जाते थे, इसी प्रकार सप्तक या अष्टक नाम होते थे। दास रात दिन स्वामी के सेवा में उपस्थित माने जाते थे, स्त्रियाँ भी दासी होती थी और उनकी सन्ताने दासेतर कहलाती थी। दास दासियों को भोजन–वस्त्र मिलते थे और यदा–कदा डॉट–फटकार। भाक्तिक लोग केवल नियमित भोजन पाते थे सम्भवतः ये निम्न श्रेणी के कर्मचारी थे जो हल जोतते थे और दिन में कुछ घण्टे काम करते थे।

भाष्य में श्रमिकों के कुछ कामों की ओर भी सकते है। प्रसाधक स्वामी की सेवा–टहल करते थे? तेल मालिश करना, नहलाना, हाथ–पॉव दबाना

---

1. कर्मकराः कुर्वन्ति पादिकमहर्लप्स्यामह इति। भाष्य– 1/3/72 , पृ. 90

2. भाष्य – 3/2/1, पृ. 254

जैसे कार्य इनके थे। स्वामी के शारीरिक सुख के लिये इनकी नियुक्त होती थी[1] और ये धनी परिवारों की शोभा थे। छत्रकार राजाओं या धनिकों का छत्र लेकर चलते थे। उदहार या उदकहार पानी भरने के लिये नियुक्त होते थे। कॉवर से वस्तु को ढोनेवाला 'वीवधिक' भारतीय ग्रामों के लिये बहुत पुराना है। कॉवर के सहारे श्रमिक दूना बोझ ले जा सकता है। कन्या के घर दहेज की सामग्री भेजने में आज भी वीवधिक से ही काम लिया जाता है। 'भक्तकर' भोजन पकाने का काम करते थे। 'आगवीन' गॉव के पशुओं को प्रातःकाल चराने ले जाते थे और सायंकाल को लौटा जाते थे, 'वाशंभारिक' बोझ ढोने का काम करते थे। 'प्रेप्य' एक गॉव से दूसरे गॉव सन्देश ले जाते निमन्त्रण या आमन्त्रण पहुचाते और एक ही गॉव के भीतर वस्तुए ले जाने और ले आने का काम करते थे।

श्रमिकों के नाम :-

श्रमिकों का उनके वेतन के आधार पर वर्गीकरण किया जाता था। पॉच, छह या दस कार्षापण पाने वाले, पंचक, सप्तक, दशक अथवा पंचक मासिक, सप्तक मासिक या दशक मासिक कहे जाते थे,[2] किन्तु इसके अतिरिक्त वे जितने समय के लिये नियुक्त किये जाते थे, उसके आधार पर भी उनके नाम पड़ जाते थे। उदाहरणार्थ जिस अध्यापक को घण्टे–दो घण्टे प्रतिदिन पढाने के लिये नियुक्त किये जाता था उसे मासिक अध्यापक कहते थे। इसी प्रकार जिस कर्मकर को प्रतिदिन कुछ घण्टे काम करने के लिए नियक्त किया जाता

---

1. सुखं वेदयते प्रसाधको देवदत्तस्य – भाष्य 3/1/18, पृ. 254

2. भाष्य – 5/4/116, पृ. 509

था उसे मासिक कर्मकर कहते थे।[1] कर्मकरों की नियुक्ति मासिक आधार पर होती थी। कर्मकर का मास पंचांग मास से भिन्न भी हो सकता था। जिस तिथि से उसे नियुक्त किया जाता था, उससे लेकर अगले मास की उसी तिथि तक का मास उसके वेतन के लिये गिना जाता था जो संवत्सर मास से भिन्न होता था। वह मास भृतक मास कहलाता था।[2] कृषि के कर्मकरों पर यह बात विशेष रूप से लागू होती थी। क्योंकि किसानों का वर्ष वर्षा से प्रारम्भ होता है, इसलिए वार्षिक कर्मकर आषाढ से ज्येष्ठान्त तक काम करता था।

शीतक-उष्णक :-

कर्मकर यद्यपि काम के लिये ही भृति या वेतन पाते थे, तथापि वो सदा ईमानदारी से काम करते हों, ऐसी बात नही थी। कुछ कर्मकर कर्म में ध्यान नही देते थे और देखते रहते थे कि कही स्वामी तो नही आ रहा है। उनका ध्यान दूर से स्वामी के ललाट की ओर रहता था और उन्हे देखते ही वे दिखावे के लिये काम में व्यस्त होने का अभिनय करने लगते थे। इस प्रकार के कर्मकरों को 'लालाटिक' कहते थे।[3] उसी प्रकार कुछ लोग बहुत धीरे–धीरे काम करते थे और एक दिन का काम दो दिन में समाप्त कर पाते थे। ऐसे श्रमिकों की 'शीतक' संज्ञा दी गई थी। साधारण से अधिक फुरती से काम करने वाले चतुर श्रमिकों को 'उष्णक' कहते थे, जो शीघ्र करने योग्य कामों को शीघ्र ही कर डालते थे।

---

1. *तमधीष्टोभूतो भूतो भावी न ह्यसौ मासमधीते। किं तर्हि?*
   मुहूर्त्तमसावधीष्टोआसं तत्कर्म करोति। भासार्थो मुहुर्तो मासः
   भाष्य – 5/1/80, पृ0 339
2. *संवत्सरपर्वणीति वक्तव्यं स्यात् भतृकमासे माभूत्।*
   भाष्य – 4/4/21 पृ0 173
3. *काशिका – 4/4/66*

राजकर्म करने वाले तक्षा के विषय में कहा है कि राजा का काम करके फिर वह अपना काम नहीं कर सकता। उसे अपना सारा समय वही लगाना पडता है।[1] राजपुरूष कहने का आसय ही यह है कि वह पुरूष राजा को छोड़कर और किसी का नही है अन्य स्वामियों की निवृत्ति उसके नाम से ही हो जाती है।[2]

श्रमिक नियमित परिश्रम द्वारा जीविकार्जन करते थे, किन्तु ऐसे लोगों की संख्या कम न थी, जिन्हे परिश्रम स्वीकार्य न था। ये लोग या तो मागकर खा लेते थे या चुरा लेते थे। मॉगने वालो की संख्या अधिक जान पड़ती है।

नाटक चारूदत्तम् में भी चौर्यकार्य का वर्णन है तथा जो लोग बिना परिश्रम किये सेंध लगाकर माल निकाल ले जाते थे, वे थे व्रात इनका भी वर्णन चारूदत्तम् नाटक में इस प्रकार है–

"लुब्धोऽर्थवान् साधुजनावमानी
वणिक् स्ववृत्तावतिकर्कशश्च।
यस्तस्य गेहं यदि नामलप्स्ये
भवामि दुःखोपहतो न चिन्ते।।"[3]

सिंहाक्रान्तं पूर्णचन्द्रं झषास्यं
चन्द्रार्धं वा व्याधवक्रं त्रिकोणम्।
सन्धिच्छेदः पीठिका वा गजास्य–
मस्मत्पक्ष्या विस्मितास्ते कथं स्युः।।"[4]

---

1. *पुरुषोऽयं परकर्मणि प्रवर्तमानं स्वं कर्म जहाति। तद्यथा तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं कर्म जहाति – भाष्य – 2/1/1, पृ० 239*
2. *भाष्य – 2/2/1, पृ० 240*
3. *चारूदत्तम् – भास – 3/7/78*
4. *चारूदत्तम् – भास – 3/9/80*

व्रातों की अनेक जातियॉ थी–जैसे–कपोतपाक या कपोतवाक्य कौञ्जायन आदि। उनके अपने संघ थे। ये लोग प्रारम्भ में आयुध जीवी थे और धीरे–धीरे इस रूप को प्राप्त हो गये। सम्भवतः, इनकी स्थिति वही रही होगी, जो कुछ समय पूर्व मक कंजड़ो, वनजारों पासियों आदि की रही है। व्रात–कर्म से जीने वाले को व्रातीन कहते थे।[1]
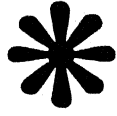
1. *व्रातेन जीवति, व्रातेन जीवतीत्युच्यते किमिदं व्रातं नाम ?*
नानाजातीया अतियतवृत्तयः उत्सेधजीविनः सङ्घाः
व्राताः। तेषां कर्म व्रातम्। व्रातकर्मणा जीवितातिं व्रातीनः।
– भाष्य – 5/2/21 पृ0 372

6. दास-दासियाँ

दास दासियों की स्थिति समाज में अच्छी नही थी। अर्थशास्त्र के दास कल्प प्रकरण (3/13, पृष्ठ 182) में कौटिल्य ने स्वतन्त्र नागरिक के लिये आर्य और उसके विपरीत अर्थ में दास का प्रयोग किया है। जैसे–दास मनुरूपेण निष्क्रयेण आर्यमकुर्वतो। इस वाक्य में आर्य शब्द के साथ 'कृ' धातु प्रयोग हुआ है जो आर्यकृत में भी है। पाणिनि का आर्यकृती शब्द उस स्त्री का वाचक रहा होगा जिसने निष्क्रय द्वारा आर्य भाव प्राप्त किया हो, दासियों की स्थिति अच्छी न थी। वे मालिकों की काम–क्षुधा तृप्ति का साधन बनती रहती थी। ऐसी दास–भार्याओं की संख्या बहुत थी।[1] इनकी सन्तान जो दासेर कहलाती थी, घर में पलती रहती थी। इनकी सन्तान जो दासेर कहलाती थी, घर में पलती रहती थी और कही सेवा टहल करने लगती थी। ये दासियॉ रखेल बन जाती थी। इसके अतिरिक्त यदा–कदा इस प्रकार के ऐसे अपमान उन्हें झेलने पड़ते थे, जिनमें मालिक किसी प्रकार का दायित्व लेने को तैयार नही होते थे। समाज स्वामियों के ऐसे आचरण को गर्हित मानता था। पतंजलि ने इसे अशिष्ट व्यवहार कहा है। भाष्यकार ने इस प्रकार के दासी या वृषली के सम्बन्ध को व्यतिहार या क्रिया–विनिमय कहा है, क्योंकि दासी और कामुक दोनों का इष्ट परस्पर सिद्ध होता था।[2]

नाटक अविमारक में ऐसा वर्णन मिलता है कि दास, दासियों के उद्यान में हॅसने और बोलने के शब्द से चिढ़ा हुआ, मदमत्त पृथ्वी की धूलि से सने रहने के कारण महाभयंकर मूर्तिमान वायु के आकार वाला कोई हाथी अपने पीलवान को मारकर पृथ्वी पर गिराते हुये समस्त राजकीय पुरूषों की

---

1. भाष्य – 2/1/1, पृ0 235
2. भाष्य – 1/3/55, पृ0 69

असावधानी प्रकट करता हुआ वहॉ उपस्थित हो गया, मै इस कलमुही दासी का स्वभाव जानता था तथापि भोजन मिलने की आशा से ठगा गया। (चलकर) भोजन निमन्त्रण भी झूठा हो सकता है (आगे देखकर) हाय यही तो दासी जा रही है मै भी दौडता हूँ मेरे पैर जहॉ के तहॉ ही पड़ रहे है, जैसे सपने मे हाथी पकड़ लिया हो हाय, इस अभागी दासी की सारी बातें महाराज से कहूँगा।

'ततो गत्वोद्यानं यथासुखमाक्रीडय निवर्तमानायांराजसुतायां दासीदासहसितकथितश्रवणबृंहितमदस्रवन्मदजलार्द्रदुर्दिनाननो निहतपतितसादिपुरूषः क्षितिरजोवगुण्डिताव्यक्तभीमर्भूर्तिमानिवपवनो दृष्टादृष्टलघुप्रचारः स्वामिसचिवानां वक्तव्यं जनयितुकाम इवैकपुरूषविशेषं प्रकाशयितुमिच्छन्निव मदान्धस्तं देशमभ्युपगतो हस्ती।[1]

'गण्डभेददारस्याः शीलं जानन्नप्यात्मनो भोजनविश्रम्भेणच्छलितोऽस्मि। भोजनमप्यनीकं चिन्तयामि। हन्तैषा धावति। तिष्ठ तिष्ठ अर्मिष्ठदासि! किं धावत्येव। यावदहमपि धावामि। ममपादौ स्वप्ने हस्तिनासाद्यमानस्येव तत्र तत्रैव पततः। हन्त! कुम्भदास्यावृत्तान्तं तत्रभवते निवेदयिष्यामि।[2]

दूतवाक्यम् के प्रथम अंक में भी इस प्रकार का वर्णन उद्धृत है–

'उत्पन्ने धार्तराष्ट्राणां विरोधे पाण्डवैः सह।

मन्त्रशालां स्वयति भृत्यो दुर्योधनाज्ञया।।''[3]

---

1. *अविमारक – भास – 1/9/10*
2. *अविमारक – भास – 2/32/33*
3. *दूतवाक्यम् – भास – 1/2/3*

'धर्मात्मजो वायुसुतश्च भीमो भ्राताऽर्जुनो मेत्रिदशेन्द्रसूनुः।
यमौ च तावश्विसुतौ विनीतौ सर्वे सभृत्याः कुशलोपपन्नाः।'[1]

भास के नाटक स्वप्नवासवदत्तम् एवं अन्य रूपकों में भी दास दासियों का उल्लेख है–

'गतैषा। अहो! अत्याहितम्। आर्यपुत्रोऽपि नाम परकीयः संवृतः। अविदा! शय्यायां मम दुःखं विनोदयामि, यदि निद्रां लभे।''[2]

'पूर्वं त्वयाप्यभिगतं गतमेववासी–
च्छलाध्यं गमिष्यसि पुनर्विजयेन भर्तुः।
कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः।।'[3]
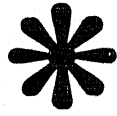
1. दूतवाक्यम् – भास – 1/19/26
2. स्वप्नवासवदत्तम् – भास – 3/79
3. स्वप्नवासवदत्तम् – भास – 1/4/9

7. नाप-तौल

परिणाम तोल या घनाकार वस्तुओं के लिये और प्रमाण लम्बाई के लिये आया है पतंजलि के अनुसार तोल के लिये उन्मान, आयाम या लम्बाई के लिये प्रमाण और लम्बाई, मोटाई, चौड़ाई वाली घनाकृति (सर्वतोमान) वस्तुओं के लिये परिमाण शब्द का प्रयोग किया गया है।[1]

वस्तुतः सूत्रों में परिमाण शब्द का दो अर्थो में प्रयोग है। सूत्र 5/1/19 में संख्या को परिमाण से अलग माना है, किन्तु सूत्र 3/3/20 और 4/3/156 में संख्या का भी परिमाण से ग्रहण किया है।
(परिमाणाख्यायाः सर्वेभ्यः, 3/3/20, आख्याग्रहणं रूढिनिरासार्थ तेन संख्याऽपि ग्रह्मते न प्रस्थाद्येव–काशिका)। पतजंलि के अनुसार काल परिमाण अर्थात् समय की नाप बताने वाले शब्द सूत्रगत परिमाण शब्द के अन्तर्गत नहीं आते (ज्ञापकं तु काल परिमाणाग्रहणस्य, 7/13/15, वार्तिक) लम्बाई के माप के लिये सर्वत्र प्रमाण शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।

नाप-(प्रमाण) :-

भाष्यकार के अनुसार आयाम् अर्थात् लम्बाई की माप को प्रमाण कहते है। यद्यपि अष्टाध्यायी में एकाध स्थानों पर इसके अपवाद मिलते है,[2] जिनमें प्रमाण में वजन या संख्या को भी सम्मिलित कर लिया गया है, फिर भी सामान्यतः प्रमाण का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ में ही हुआ है। लम्बाई की माप

---

1. ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या वाह्य तु सर्वतः।। – भाष्य–5/1/19

2. भाष्य – 6/2/40 तथा 6/2/12

लकड़ी से बने मापकों से की जाती थी, जिन्हें द्रुवय कहते थे,[1] किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य साधनों द्वारा भी लम्बाई मापी जाती थी। भाष्य में आयाम के निम्नलिखित प्रमाणों का उल्लेख मिलता है–

1.अंगुलि :-

यह निम्नतम प्रमाण–बोधक थी। अंगुलि से भी छोटा मापक यव था, तो भी उसका प्रयोग व्यवहार में कम होता था। पाणिनि ने प्रमाण–रूप मे अंगुलि का उल्लेख किया है।[2] अंगलि $\frac{3}{4}$ इंच के बराबर थी। प्राचीन ग्रन्थकार 8 यव = एक अंगलि मानते थे। इस प्रकार, यव सबसे छोटा प्रमाण था और अंगुलि उसके बाद।

2. दिष्टि :-

अँगूठे और तर्जनी को फैलाकर नापने से उनके मध्य की जो लम्बाई होती है, उसे दिष्टि कहते थे। इसे मराठी में टीच कहते है, जो परिमाण का ही बोधक है। दिष्टि को प्रादेश भी कहते थे। भाष्यकार ने कहा है कि सत्रह सामिधेनी ऋचाएं पढ़कर समिधाएँ रखी जाती है किन्तु एक ही बार सत्रह प्रादेश भर लम्बी समिधाएँ नही रख दी जाती।[3]

3. वितस्ति :-

वितस्ति का प्रमाण बारह अंगुल था। इसी से बीता बना है। अंगुष्ठ और द्विगुनी को फैलाने से मध्य की लम्बाई वितस्ति या वालिश्त होती है। एक श्लोक वार्तिक में तथा अन्य सूत्रों के भाष्य में उदाहरण रूप से दिष्टि और

---

1. *भाष्य – 4/2/162*
2. *अष्टाध्यायी – 5/4/86*
3. *सप्तदश प्रादेशमात्रो राश्वत्थीः समिधोऽभ्यादधीतेति न सप्तदश प्रादेशमात्रं काष्ठमभ्याधीयते – भाष्य – आ0–2, पृ0 62*

वितस्ति का उल्लेख हुआ है। दो या तीन वितस्ति लम्बी वस्तु को द्विवितस्ति या त्रिवितस्ति कहते थे। इसी आयाम के प्रमाण के लिये ही भाष्य में त्रिदिष्टि द्विदिष्टि और दिष्टि–मात्र शब्दों का उल्लेख मिलता है। स्वयं सूत्रकार ने 'दिष्टिवितस्त्योश्च' (6/2/31) में इन प्रमाण बोधक शब्दों का ग्रहण किया है। दिष्टि और वितस्ति के लगभग प्रमाणवाली वस्तु को दिष्टि–मात्र और वितस्ति–मात्र कहते थे।

4. अरत्नि :-

कुछ लोगों के मत से मुट्ठी बन्द हस्त को अरत्नि कहते थे। यह 24 अंगुल की होती थी। भाष्य में पंचारत्नि दशारत्नि का उल्लेख है। एक स्थान पर कहा है कि सत्रह मंत्र पढ़कर सत्रह समिधाएँ यज्ञकुण्ड में रखी जाती है पर, अरत्नि लम्बी एक ही समिधा सबके बदले नही रख दी जातीं। इससे यह स्पष्ट है समिधा की लम्बाई एक अरत्नि होती थी।[1] अरत्नि का मूल अर्थ कोहनी था। ऋग्वेद (8/80/8) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (815) में भी इसका उल्लेख है। कोहनी से अंगुल्यग्रभाग तक का प्रमाण अरत्नि था।

5.शत या हस्त :-

दो वितस्ति को शम या हस्त कहते थे। दो और तीन शम लम्बी वस्तु द्विशम और त्रिशम कही जाती थी। लगभग एक शम लम्बी वस्तु को शम–मात्र कहते थे।

6.दण्ड :-

चार शम या हस्त का एक दण्ड होता था।

---

1. भाष्य – आ0 2, पृ0 62

7. काण्ड :-

एक दण्ड लम्बा और एक दण्ड चौड़ा, अर्थात् 16 हाथ क्षेत्रफल की भूमिकाण्ड कहलाती थी। यदि क्षेत्र न हो तो 16 हाथ लम्बी रज्जु या अन्य वस्तु काण्ड–प्रमाण मानी जाती थी। यदि दो–तीन काण्ड की क्षेत्र–मर्यादा होती तो उसे द्विकाण्डा या त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्ति कहते थे, किन्तु यदि इसी प्रमाण की रस्सी होती, तो उसे द्विकाण्डी रज्जु कहते थे। क्षेत्रभक्ति शब्द खेत की लम्बाई–चौड़ाई = क्षेत्रफलवती भूमि के लिये प्रयुक्त होता था।[1] इस प्रकार यदि लम्बाई की दृष्टि से देखें तो दण्ड और काण्ड दोनों बराबर (4 हाथ) थे। इसीलिए, बालमनोरमा ने उन्हें पर्यायवाची मान लिया है, यद्यपि दोनों में अन्तर है। इस पर्यायवाचिता के ही कारण कुछ विद्वानों ने शम को सोलह हाथ माना है। वास्तव में, दण्ड आयाम का बोधक है और काण्ड आयाम× विस्तार का।

8. रज्जु :-

खेतों को नापने के लिये रज्जु प्रमाण का व्यवहार होता था। रज्जु की लम्बाई दस दण्ड के बराबर मानी जाती थी। दण्ड रज्जु का अवयव था।

9. किष्कु :-

'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्' (6/1/157) सूत्र के भाष्य में किष्कु का भी उल्लेख है। काशिका ने इसे प्रमाण कहा है। किष्कु 24 अंगुष्ठों की चौड़ाई भर का प्रमाण था। अर्थ शास्त्र के अनुसार इसका साधारण प्रमाण 32 अंगुल था। किन्तु कर या हस्त के लिए भी व्यवहृत होता था।

---

1. *काशिका – 4/1/23*

10. नल्व :-

400 किष्कु का एक नल्व होता था, जिसका प्रमाण लगभग एक फर्लांग था महाभाष्य में नल्व का उल्लेख नहीं है।

11. उरू :-

गहराई मापने के लिये उरू सबसे छोटा प्रमाण था। उरू बराबर गहरी परिखा या जल आदि को ऊरूद्वयश, उरूदहन या उरूमात्र कहते थे।[1]

12. पुरुष :-

पुरुष, प्रमाण साधारण मनुष्य का हाथ ऊपर उठाने पर जो ऊँचाई होती है, उसका बोधक था। पुरुष भर गहरी परिखा को द्विपुरुषी कहते थे। एक पुरुष गहराई का जल पौरुष, पुरुषद्वयस, पुरुषदहन या पुरुषमात्र कहा जा सकता था।[2]

13. हस्ती :-

ऊर्ध्वमान का सबसे बड़ा प्रमाण हस्ती था। हस्ती–भर गहराई (ऊँचाई के आधार पर) के जल आदि को हास्तिन, हस्तिद्वयस, हस्तिदहन या हस्तिमात्र कहते थे। दो हस्तियों के लिये द्विहस्ति, इसी प्रकार त्रिहस्ति, द्विहस्तिनी आदि शब्दों का व्यवहार होता था।[3] क्रोश, गव्यूति, योजन इत्यादि भी प्रमाण के उदाहरण है।

व्याकरण साहित्य में एक प्राचीन मूर्धाभिषिक्त उदाहरण सुरक्षित रह गया है नन्दोपक्रमाणि मानानि (2/4/21:6/2/18) काशिका इसका अभिप्राय यह है कि नाप तोल के बट्टे सर्वप्रथम नन्दराजाओं ने निश्चित किए। अपने

---

1. भाष्य – 5/2/37, पृ0 378
2. काशिका – 5/2/38
3. काशिका – 5/2/38

विस्तृत साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उन्हें ऐसा करना पडा था। तभी से मगध मान यह प्रसिद्ध हुई। क्योंकि कलिंग जनपद स्वतन्त्र था इसलिए कलिंग मान की परम्परा अलग चलती रही। मान स्थिर हो जाने के बाद आढ़क (ढाई सेर) द्रोण (दस सेर) खारी (चार मन) इत्यादि शब्द बिल्कुल सही नाप तौल के लिये सर्वत्र प्रयुक्त होने लगे, जैसा कि पतंजलि ने लिखा है "अक्तपरिमाणानामर्थानां वाचका भवन्ति नैवाधिके भवन्ति न च न्यूने (1/4/14)

अष्टाध्यायी में उल्लिखित तौल और नापवाची शब्द इस प्रकार हैं–

1. माष :-

यह एक तौल और एक सिक्के का नाम भी था (पणपादमाषशताद्यत्, 5/1/34)। ताबें का माष तौल में पाँच रत्ती और चाँदी का दो रत्ती का होता थां (मनु 8/135, अर्थशास्त्र 2/12)।

2. निष्पाव :-

सूत्र 3/3/28, निरभ्योः श्ल्वोः में निष्पाव शब्द सिद्ध किया गया है। अर्थ के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता जैन साहित्य में सोना, चाँदी, रत्न आदि तोलने के सूक्ष्म बटखरों की सूची में निष्पाव भी है – प्रतिमानों में गुजा, काकणी, निष्पाव, कर्ममाषक, मण्डलक, स्वर्ण ये सोने चाँदी तोलने में काम आते हैं। (अनुयोग द्वार सूत्र, 132)। इस सूची में गुञ्जा (= 1 रत्ती), काकणी (= सवारत्ती), माषक (= पाँच रत्ती) की तोल सोना तोलने के काम में आती थीं। जैन साहित्य में निष्प्राव का पर्याय वल्ल दिया है (वृहत्कल्प सूत्र गाथा 6049)। वल्ल या बाल तीन रत्ती की तोल का नाम था (वल्लस्त्रि–गुञ्जः लीलावती) अतएव निष्पाव भी वल्ल या तीन रत्ती माना जा सकता है। अनुयोग–द्वार की सूची में सवा रत्ती की काकणी और पाँच रत्ती के माषक के बीच में निष्पाव पठित होने से यह संगत भी होता है।

3. शाण :-

(5/1/35, 7/3/17) चरक में सुवर्ण का चौथाई भाग शाण कहा गया है। इससे शाण की तोल 20 रत्ती के बराबर हुई। (कल्प स्थान, 12/79)।[1] शाणार्ध उसका आधा दस रत्ती के बराबर औषधि की स्वल्प मात्रा तोलने के काम में आता था। 'महाभारत में शतमान का आठवां भाग कहा गया है।'[2] जिससे उसकी पुरानी तोल 1211 रत्ती ठहरती है।

परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः (7/3/17) में शाण परिमाण का वाचक है और शाणाद्वा 5/3/35 में सिक्के का।

4. बिस्त :-

(4/1/22 : 5/1/31) अमरकोश में बिस्त को कर्ष या अक्ष पर्याय कहा है। जो स्वर्ण तोलने के काम में आता था। चरक में कर्ष, सुवर्ण और अक्ष पर्याय है। अवएव बिस्त सुवर्ण का ही पर्याय ज्ञात होता है, जो तोल में अस्सी रत्ती होता था।

5. कंस :-

(5/1/25 :6/2/122) – चरक के अनुसार कंस आठ प्रस्थ या दो आढक के बराबर था। वह अर्थशास्त्र की तालिका के अनुसार पॉच सेर और चरक की तालिका के अनुसार $6\frac{2}{5}$ सेर के बराबर हुआ।

6. मन्थ :-

(6/2/122)– इसकी ठीक तौल किसी तालिका में नहीं मिलती।

---

1. शाण त्र 1–द्रक्षण/2द्रंक्षण त्र 1 कर्ष या सुवर्ण या अक्ष। शाण की तोल के विषय में आगे चलकर और भी कई विकल्प मिलते हैं। (दि0 भारतीय मुद्रा परिषद, की पत्रिका, 15/151–152)

2. महाभारत – आरण्य पर्व – 134/14

किन्तु पाणिनि ने सूत्र में कंस के बाद उसका उल्लेख किया है– (कंस मन्थ शूर्पपाय्य काण्डंद्विगौ)। सम्भव है मन्थ द्रोण का पर्यायवाची हो, क्योंकि द्रोण का सूत्रों में उल्लेख नहीं है। चरक में कलश और घट को द्रोण का पर्याय लिखा है। कौटिल्य के अनुसार द्रोण 10 सेर की तोल थी। वही सम्भवतः मन्थ की भी तोल थी।

7. शूर्प :-

(5/1/26, 6/2/122) चरक ने दो द्रोण का शूर्प माना है, जिसे कुम्भ भी कहते थे। उनकी तालिका के अनुसार शूर्प = 4096 तोला = 1 मन 11 सेर 16 तोला।

8. गोणी :-

(1/2/50) –श्लोक वार्तिक के अनुसार एक गोणी माप की तोल भी गोणी कहलाती थी (गोणीमात्रमिदं गोणिः, 1/2/50) चरक ने गोणी को खारी का पर्याय मानते हुए उसे बड़ी तोल लिखा है। तद्नुसार खारी = 8192 तोला = 2 मन 22 सेर 32 तोला।

9. आचित :-

(4/1/22, 5/1/53) अमरकोष के अनुसार आचित सग्गड़ के बोझे को कहते थे (शाकटो भार आचितः–2/9/87) जो 10 भार या 20000 पल या 25 मन का होता था। इससे ज्ञात होता है कि आचित और महाभार दोनो पर्याय थे।

10. कुम्भ :-

(6/2/102) अर्थशास्त्र में कुंभ 20 द्रोण के बराबर माना है जो 10 सेर प्रति द्रोण के हिसाब से 5 मन हुआ।

11. उन्मान :-

तुला या तराजू पर तोलने को उन्मान कहते थे, क्योकि इसमे वस्तु को उर्ध्व उठाकर उसका भार मालुम किया जाता था। तुला से संमित वस्तु तुल्य कही जाती थी। जिस रस्सी को पकड़कर तुला ऊपर उठाई जाती थी, उसे प्रग्रह या प्रग्राह कहते थे। कुछ लोग तोलने मापने का व्यवसाय करते थे। कुछ लोग तोलने मापने का व्यवसाय करते थे, जिन्हे माता कहते थे। तुला मान का अनिवार्य साधन थी, क्योंकि अन्न तो निश्चित मान के पात्रों में भरकर मापा जा सकता था। कपास और लोहे मापना सम्भव नही था। समान वजन के होने पर भी दोनों पदार्थो की आकृति या आकार में बड़ा अन्तर होता है समान आकृति के इन पदार्थो के भार में अन्तर होता है। काशिका के उल्लेख से पता चलता है कि नन्द राजाओं में से किसी ने सारे देश में समान मानों का प्रचलन किया था।

12. अञ्जलि :-

(5/4/102) द्वयञ्जलि,त्र्यञ्जलि प्रयोगों में अञ्जलि शब्द एक परिमाण ही ज्ञात होता है। चरक के अनुसार सोलह कर्ष या तोले की एक अञ्जलि होती थी, जिसे कुऽव भी कहते थे। दो पल की एक प्रसृति और दो प्रसृति या चार पल की एक अञ्जलि कही गई है (गरूडपुराण, 202/73, अञ्जलि कुऽवं चैव विद्यात् पलचतुष्टयम्) कौटिल्य के अनुसार तालिका यह थी – चार कुऽव = एक प्रस्थ, चार प्रस्थ = एक आढक, चार आढक = एक द्रोण = 200 पल = 800 कर्ष = 10 सेर (अर्थशास्त्र 2/19)। अतएव कुऽव या अंजलि ढाई छटॉक या $12\frac{1}{2}$) तोले के बराबर थी।

13. आढक :-

(5/1/53) चरक के अनुसार आढक और पात्र एक दूसरे के पर्याय है

(कल्पस्थान, 12/94) पाणिनी मे दोनों का एक साथ उल्लेख किया है (आढ़काचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम् 5/1/53) आढ़क की तोल के दो प्रकार मिलते है। एक चरक में दूसरा अर्थशास्त्र में एक चरक का मान इस प्रकार है–

4 कर्ष = 1 पल, 2 पल = 1 प्रसूति = 8 तोला,

2 प्रसूति = 1 अञ्जलि या कुऽव = 16 तोला, 4 कुऽव = 1 प्रस्थ = 256 तोला

4 प्रस्थक = 1 आढ़क, 4 आढ़क = 1 द्रोण = 1024 तोला = $12\frac{4}{5}$ सेर,

इसके अतिरिक्त कुलिज, खारी, भार और वह भी परिमाण वाचक माने गये थे।
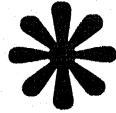
चतुर्थ अध्याय

भास के नाटकों में चित्रित भारतीय राजनीति

चतुर्थ अध्याय
भास के नाटकों में चित्रित भारतीय राजनीति
1. राजतन्त्र

भास के समय में राज्य और संघ दो प्रकार के शासन तन्त्र थे। राजा जिस तंत्र में अधिपति हो उसे राजतंत्र कहा गया है।

राजाओं की श्रेणियाँ -

ऐतरेय ब्राम्हण(8/14) में राज्य, वैराज्य, स्वाराज्य, भौज्य और साम्राज्य ये राज्य के क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्वरूप बतलाये हैं। इनके शासकों की उपाधियॉ राजा, विराट, स्वराट् भोज ओर सम्राट थी। राजा सामान्य नाम था और विशिष्ट ऐश्वर्य की ओर संकेत न करना होता तो राजा शब्द इन सबके लिए सामान्य रूप से प्रयुक्त हो सकता था। चाहे इस कारण से हो या इसलिए कि पतंजलि के समय में शेष सब का अस्तित्व समाप्त हो चुका था, भाष्य में केवल राज्य के अधीश्वर का ही उल्लेख किया गया है।

राजा के लिये ईश्वर भूपति अधिपति शब्द आए हैं। सूत्र 1/4/97 और 2/3/9, में (यस्यचेश्र्वरवचनं तत्र सप्तमी) में उन प्रयोगों को नियमित किया गया है जिनसे जनपद के राजा का नाम सूचित किया जाता था।

महाभारत में साम्राज्य को कृत्स्न भाक् कहा गया है, अर्थात वह शासन प्रणाली जो औरों से स्वत्व या अधिकारों को छीनकर आत्मसात कर लेती है एवं साम्राज्य में विलीन होने पर पुनः उसका स्वतंत्र आस्तित्व नही रह जाता (सम्राज्शब्दो हि कृत्स्नभाक्)[1]

---

1. महाभारत - सभापर्व - 14/2

राजन्वान देश :-

राजाओं को उनके गुणों के अनुसार पूजित या क्षेप का विषय माना जाता था। सुराजा और किंराज शब्द क्रमशः उक्त अर्थो में प्रयुक्त होते थे। अतिराजा शब्द भी राजा की महत्ता का द्योतक था। जिस देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था होती थी तथा राजा अच्छा होता था उस देश को राजन्वान कहते थे।

राजन्य :-

राजा सामान्यतया क्षत्रिय होते थे, इसीलिए राजा के अपत्य के लिये प्रयुक्त होने वाला राजन्य शब्द कात्यायन काल के आते–आते क्षत्रिय वाचक बन गया था। पतंजलि ने राजन्य को जातिवाचक माना है, यद्यपि पाणिनि–काल में वह केवल राजपुत्र का बोधक था।[1] क्षत्रियभिन्न राजपुत्र को राजन कहते थे। भाष्यकार ने राजन्य शब्द का प्रयोग सर्वत्र क्षत्रिय अर्थ में किया है।[2] वास्तव में क्षत्रिय अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी पहले यह शब्द मूर्धाभिषिक्त क्षत्रियों के वंश्यों के लिये ही प्रयुक्त होता था, सामान्य क्षत्रिय के लिए नही।[3] पंचाल आदि जनपदों के प्रतिष्ठापक और शासक सब क्षत्रिय थे। इसलिए जनपदों और उनके निवासी क्षत्रियों तथा उनके राजा के लिये एक ही शब्द काम मे आता था। पंचाल जनपद के निवासी क्षत्रिय और उनका राजा दोनों पांचाल कहलाते थे।

पञ्चरात्रम् नाटक के द्वितीय अंक में युधिष्ठिर पाञ्चाली के बारे में

---

1. राज्ञां पत्ये जातिग्रहणं कर्त्तव्यम् राजन्यो नाम जातिः। क्व माभूत् राजन इति। – पाणिनि कालीन भारत – 4/1/137, पृ0 144

2. भाष्य – 8/2/83, पृ0 388

3. काशिका – 6/2/34

कहते है कि आज मेरा जमीन पर पत्ते बिछाकर सोना, राज्यच्युत होना द्रोपद्री का केशाम्बराकर्षण, बेष बदलकर दूसरे के घर में आश्रय लेना यह सभी प्रशंसनीय है। द्रोपदी शब्द जनपद वाची विशेषण है जिससे ये ज्ञात होता है कि वो पाञ्चाल नरेश की पुत्री है।

'अद्येदानीं पर्णशय्या च भूमौराज्यभ्रंशो द्रोपद्रीधर्षणं वा।
वेषान्यत्वं संश्रितानां निवासः सर्वश्लाघ्यं यत् क्षमा ज्ञायते मे।।''[1]

राज-परिवार :-

महाभाष्य में राजा के पारिवारिक सदस्यों तथा उनकी पद-प्रतिष्ठा के विषय में भी संकेत है। राजाओं का समूह राजक, राजन्यों का राजन्यक तथा राजपुत्रों का राजपुत्र कहलाता था।[2] पॉच, दस तथा अनेक, राजाओं के समूह को व्यक्त करने के लिए 'पंचराजम् दशराजम्' आदि शब्द भाष्य में आये है।[3] पाटलिपुत्र, मगध, मद्र, कश्मीर आदि के राजाओं का पतंजलि ने विशेषतः उल्लेख किया है। राजमहिषी अपनी शान तथा सौन्दर्य के लिये प्रसिद्ध होती थी। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि दूर पर अव्यक्त मनुष्याकार सौन्दर्य देखकर लोग अनुमान करते है कि यह महिषी का या ब्राह्मणी का रूप है। राजा की महिषी से भिन्न पत्नियॉ राजदारा कहलाती थी। इन्हें राज प्रसाद से बाहर जाने का अवकाश प्राप्त नही होता था, इसलिए ये असूर्यम्पश्या होती थी।[4] राजा का उत्तराधिकारी उसका पुत्र राजकुमार होता था। इसकी वयस्कता कवचधारण काल से मानी जाती थी। वयस्क राजकुमार कवचहर

---

1. *पञ्चरात्रम् - भास - 2/10/78*
2. *महाभाष्य - 4/2/39, पृ0 178*
3. *भाष्य - 2/2/11, पृ0 146, तथा 2/1/2, पृ0 263*
4. *भाष्य - असूर्यम्पश्यानि मुखानि। - 3/2/80, पृ0 229*

कहलाता था। राजकुमारी और राजकुमार राजा की विवाहिता पत्नी की ही सन्तान होते थे।[1] इनमें राजा का प्रथम उत्तराधिकारी 'राजप्रत्येनाः' कहलाता था।

राज-परिचर :-

पारिवारिक सदस्यों के अतिरिक्त राजा के प्रासाद में तथा बाहर कर्मचारियों की बड़ी संख्या रहती थी। ये राजपुरूष कहलाते थे और इन्हें राजा की ओर से विशेष सम्मान प्राप्त रहता था। यहॉ तक कि राजपुरूष–पुत्र तक इस सम्मान के भागी होते थे। भाष्य में तो राजपुरूष–पुत्रों के भी कर्मचारियों का सादर उल्लेख मिलता है।

राजा के व्यक्तिगत सेवकों में परिचारक, परिषेचक, स्थापक, उत्सादक और उद्वर्तक ये नाम याजकादिगण में मिलते है। इसी प्रकार महिष्यादिगण में प्रलेपिका, विलेपिका, अनुलेपिका, मणिपाली, अनुचारक और भृत्यों का परिगणन है। अन्तःपुर में स्त्रियॉ ही परिचारिकाएँ रहती थी।

दुर्ग :-

राजा का एक दुर्ग होता था, जिसके लिए राज्य के केन्द्रीय स्थान में भूमि का चयन किया जाता था और उसमें दृढ़ दुर्ग का निर्माण होता था। दुर्ग शब्द ही उसकी अप्रवेश्यता का सूचक है। भास में दुर्ग के विषय में अधिक विवरण तो उपलब्ध नही है किन्तु उसके प्राकार और परिखा आदि का बार–बार उल्लेख हुआ है। दुर्ग बनाने के लिये ऐसी भूमि ढूंढी जाती थी, जिसमें परिखा बन सके। इस भूमि को पारिखेयी कहते थे।

---

1. पतंजलि कालीन भारतवर्ष – अ0 1/377

कोष :-

कोष की बृद्धि के अनेक साधन थे। कुछ धन उपदा और उपहार से प्राप्त होता था। कुछ दण्ड से आता था और कुछ कर से। पतंजलि ने राजाओं को हिरण्यार्थी कहा है, जो येनकेन प्रकारेण दण्ड की राशि वसूल करता चाहते थे।[1] कर को शुल्क कहते थे। राजा उन नगरों और ग्रामों से बहुत प्रसन्न रहता था, जिनमें सब प्रकार से शान्ति रहती थी और अच्छी पैदावार होती थी। इन्हीं पुरों से राज्यकोष को भी उचित आय की आशा रहती थी।[2] नगर में बिकने के लिये आने वाले माल पर शुल्क लिया जाता था। भाष्यकार ने शुल्क वसूल करने वाले अधिकारियों के नाम दिये है ये अधिकारी शुल्क आधार पर पंचक , सप्तक, अष्ठक, नवक, दशक आदि कहे जाते थे।

---
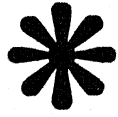
1. *भाष्य – 1/1/1, पृ0 103*
2. *क्षेत्रे सुभिक्षे कृतसञ्चयानि पुराणि राज्ञांविनयन्ति कोपम्–*
   भाष्य– 5/4/68, पृ0 499

2. ऐतिहासिक राजपुरूष

इतिहास एक ऐसा विषय है। जिसकी गहराई दर प्रति दर गहरी होती जाती है यद्यपि ऐतिहासिक तथ्यों का विषद प्रामाणिक विषय इतिहास भी प्रमाण प्रस्तुत कर सकता है। इतिहास अपने अन्दर जाने कितने उतार चढ़ाव समेटे हुये कालातीत घटनाओं को संजोय हुये अड़िग स्तम्भ की भाति आज भी स्थिर है। इतिहास ने जाने कितने राजाओं के उत्थान पतन को देखा है। जाने कितनी घटनाओं को और उनसे होने वाले दुष्प्रभावों को भी देखा है। इसी परिपेक्ष्य में भास के नाटकों में चित्रित ऐतिहासिक राजाओं को दर्शाने में सम्यक विषयगत चित्रण यहाँ दिया जा रहा है।

मद्र, पाञ्चाल, शाल्व, कौशाम्बी, विराट, हस्तिनापुर, अंग, सौबीर आदि देशों के नृपतिगण के विशिष्ट ऐतिहासिक राजनायकों में से एक है।

बालचरित मे मथुरा के राजा कंस का भी नाम इन्ही ऐतिहासिक पुरूषों में से जोड़ा जाता है जिसने अपने पिता को राजगद्दी से उतार स्वयं राज्यसिंहासन पर अपना अधिपत्य कायम कर लिया था। उसकी क्रूरता का जितना वर्णन किया जाये कम ही है अपनी मृत्यु के भय से वसुदेव और देवकी को कारागार में डालकर उनके नवजात शिशुओं को पत्थर पर पटककर मार डालता था इससे बडी क्रूरता और क्या हो सकती है। इस प्रकार कंस का नाम इतिहास में क्रूर राजनायकों के रूप में जाना जाता है।

भास रचित नाटक उरूभड्ग में दुर्योधन का वर्णन मिलता है जिसकों अभिमानी और दुष्ट ह्रदय ऐतिहासिक पुरूष मे गिना जाता है। हस्तिनापुर एक सम्पन्न राज्य था भीष्म पितामह जो सदैव अमर रहेगे हस्तिनापुर के राजसिंहासन से बधे हुये अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर रहे थे। यद्यपि पांचो पाण्डव उन्हें अत्यन्त प्रिय थे लेकिन उन्होंने पिता को दिये हुये वचनों का

पालन करके दुर्योधन जैसे युवराज का साथ दिया।

धृतराष्ट्र जो हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर आसीन थे उनका पुत्रमोह सर्वविदित है और इस प्रकार वह भी इतिहास मे एक अध्याय के रूप में वर्णित है इसी प्रकार पञ्चरात्रम् में दुर्योधन की करनी का प्रमाण देखा जा सकता है। जिसने द्रोणाचार्य से कहा कि अगर आप पॉच दिन में पाण्डवों को ढूढ़ लेगे तभी मै उनकों आधा राज्य दूगा। और वो अपनी चाल मे कामयाब हो जाता है।

दूतवाक्यं मे जो भास की महाभारत से ली गई रचना नाटक के रूप में प्रचलित है। जिसमें श्री कृष्ण पाण्डवों की ओर से प्रस्तावक बनकर हस्तिनापुर गये और धृतराष्ट्र की सभा में पाण्डवों की ओर से भेजे गये प्रस्ताव को प्रस्तुत करते है जिसका समर्थन भीष्म, बिदुर आदि ने भी किया परन्तु दुर्योधन अपनी ही जिद् पर अड़ा रहा और पुत्रमोह से ग्रसित धृतराष्ट्र चुपचाप बैठे रहे। इस प्रकार श्री कृष्ण भी ऐतिहासिक पुरूषों में से अतिश्रेष्ठ थे यह कहना अतिशयोक्ति नही होगी।

कर्णभारम् मे अंग देश के राजा कर्ण का भी नाम इतिहास में सदैव अमर रहेगा और महादानी पुरूषों मे गिना जाता है। इसका वर्णन भास ने बड़ी पैनी दृष्टि से अपने नाटक कर्णभारम् में किया है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् जिसमे वासवदत्ता और उदयन की प्रेमकथा का वर्णन किया गया है यौगन्धरायण को जब यह ज्ञात होता है कि कपटपूर्वक नकली हाथी के छल से अवन्तिराज महासेन ने उदयन को बन्दी बना लिया है तो वह प्रतिज्ञा करता है कि राहु से ग्रसित चन्द्रमा के समान शत्रुओं के द्वारा पकड़े गये स्वामी को यदि मुक्ति न दू तो मै यौगन्धरायण नही इस प्रतिज्ञा के आधार पर वह वत्सराज उदयन को महासेन के यहॉ से भगाने का सारा प्रबन्ध

ा कर देता है लेकिन लब मालूम होता है कि उदयन महासेन की पुत्री वासवदत्ता को साथ लेकर भागना चाहता है तो यौगन्धरायण दूसरी बार पुनः प्रतिज्ञा करता है कि जिस प्रकार सुभद्रा को अर्जुन लेकर भागे उसी प्रकार वासवदत्ता और वत्सराज को हरकर कौशाम्बी न ले जाऊ तो मै यौगन्धरायण नही। इस प्रकार वत्सराज उदयन, अर्जुन, सुभद्रा, आदि ऐतिहासिक पुरूषों की पंक्ति में आते है जिनका वर्णन भास के नाटकों में पूर्णतया किया गया है।

इसी परिपेक्ष्य में भास रचित प्रतिमानाटकम् में भी ऐतिहासिक पुरूषों का वर्णन किया गया है बल्कि इस वर्णन परम्परा को हम प्राचीन ऐतिहासिक पुरूषों का नाम दे तो अतिशयोक्ति नही होगी क्योंकि इस नाटक में इक्ष्वाकुवंश के सभी राजाओं की प्रतिमाग्रह में स्थित प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। भरत के ननिहान से लौटने पर प्रतिमाग्रह में स्थित अपने पिता दशरथ की मूर्ति को देखकर व्यथित हो जाते है। दशरथ चक्रवर्ती राजा थे और उनकी गणना राजन्य में की जाती थी जिसके राज्य में प्रजा पूर्णसुख का अनुभव कर रही हो उसें राजन्य कहते है। राजा दशरथ का राज्स ऐसा ही था सम्पूर्ण पृथ्वी पर एकछत्र राज्य था शासन व्यवस्था ऐसी थी कि सम्पूर्ण प्रजा सुख का अनुभव कर रही थी इसके बाद राम का शासन तो सर्वविदित है जो राम राज्य के नाम से जाना जाता था प्रजा पूर्ण सुखी थी।

इस प्रकार हम देखते है कि इतिहास ने इतने एतिहासिक पुरूषों को अपने में संजोय रखा है जिसकी तह पहुचना दुष्कर ही नही अत्यन्त दुर्गम है इतिहास वो अथाह सागर है जिसका तल पहुँच से बाहर है फिर भी विषय को दृष्टिगत रखते हुये भास की रचनाओं मे वर्णित एतिहासिक पुरूषों का उल्लेख उल्लखित करने का यथा सम्भव प्रयास किया गया है।

3. युवराज

राजा के पुत्रों को राजपुत्र (4/2/39) और राजकुमार (6/2/49) कहा गया है। राजकुमार शब्द के दो अर्थ थे, (1) बालक राजा ('राजा चासौ कुमारश्च),(2) राजा का कुमार पुत्र (राज्ञःकुमारःराजा च सूत्र का प्रत्युदाहरण)। सब राजपुत्रों में महिषी का पुत्र युवराज होता था जिसे आर्यकुमार कहा जाता था। (आर्याश्र्चासौ कमारश्र्च, 6/2/58, आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः) आर्यब्राह्मण और आर्यकुमार, दोनों में आर्य शब्द राज शास्त्र का पारिभाषिक था जो विशिष्ट पद या अधिकार का सूचक था।[1] जातकों में आर्यकुमार को उपराजा कहा गया है। एक जातक में राजा के दो पुत्रों मे से ज्येष्ठ उपराजा और कनिष्ठ सेनापति नियुक्त किया गया है। पिता की मृत्यु के बाद उपराजा राजा और सेनापति उपराजा बन गया (जा० 6/30)।

राजकुमार सूत्र (6/2/59) में उपदिष्ट इस शब्द का अर्थ वह राजा था जिसे परिस्थितिवश कुमार अवस्था में ही राज्य प्राप्त हो गया हो। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि कुमार अवस्था में वह राज्य का उत्तराधि ाकारी बन जाता था किन्तु उसका अभिषेक वयः प्राप्त होने पर ही किया जाता था। अशोक के सम्बन्ध मे ऐसा ही हुआ था।

अभिषेक नाटक के तृतीय अंक में अक्षय कुमार के अस्त्र–विद्या मे निपुण वीर और बलवान होने का वर्णन किया गया है।

---

1. समुद्रगुप्त की प्रयाग स्तम्भ प्रशस्ति में उसे 'आर्य' कहकर पिता ने युवराज चुना था (आर्यो हीत्युपगुह्य) किन्तु अब श्री बहादुर चन्द्रजी छाबड़ा ने 'एह्येहीयुत्पगुह्य' शुद्ध पाठ माना है।

'कुमारो हि कृतश्वश्र्च शूरश्च बलवानपि।
प्रसह्म चापि गृह्णीयाद्धन्याद् वा तं वनौकसम्।।''[1]

अविमारक एवं भास के अन्य रूपकों में राजकुमारों का उल्लेख है –

'भूतिकः– अथ कुमारेण किञ्चित् रहस्य,
'प्रपतदशनिना यथा गिरोन्द्रो
दवदहनेन यथा वन प्रदेशः।।'
युधि ललितमनायुधेन तेन
क्षितिपसुतेन तदा हतः स नीचः।।'[2]

'गम्यास्तु देशाः सुपरीक्षिता मे
न दृश्यते क्वापि चरैः कुमारः।
परीक्षितुं तं मनसोऽस्ति शक्ति
र्नूनं हि मायामनुगच्छतीति।।'[3]

'रघोश्र्चतुर्थोऽयमजात् तृतीयः पितुः प्रकाशस्य तव द्वितीयः।
यस्यानुजस्त्वं स्वकुलस्य केतोस्तस्यानुजोऽयं भरतः कुमारः।।[4]

'त्वमिदानीं कुमारस्य किं न वाहितवान् रथम्
अनुज्ञातोऽसि किं तेन न राज्ञां सारथिर्भवान्।।'[5]

1. अभिषेक – भास – 3/6/49
2. अविमारक – भास – 6/9/165
3. अविमारक – भास– 6/10/166
4. प्रतिमानाटकम् – भास – 4/9/132
5. पञ्चरात्रम् – भास – 2/16/84

4. कर्तव्य एवं अधिकार

राजा का मुख्य कार्य था – आक्रमण एवं अन्य संकटों से प्रजा की रक्षा। अपनी भूमि की रक्षा[1] तो अपने अस्तित्व के लिए ही आवश्यक थी। इसी कार्य के कारण राजा को महीपाल[2] नृपति और नृप कहते थे। इसके लिए उसे दुर्ग, कोष और सेना की आवश्यकता होती थी। मन्त्रिपरिषद् सभा तथा दुर्ग और कोषादि से सम्बद्ध राजा के ऐश्वर्य को राजवचस् कहते थे।[3] प्रतिरक्षा के लिए राजा सेना रखता था। सेना में स्थायी और अस्थायी दोनों प्रकार के योद्धा होते थे। भाष्य में राजा को दृढसेन कहा है।[4] राजा बड़ी संख्या में गज और अश्व पालते थे।[5] उत्तमता और विशालता उन पर निर्भर करती थी। भाष्याकर ने कहा है कि केवल बातें करने या 'नन' कह देने से विपत्ति नहीं टल जाती, अन्यथा राजा लोग हाथी–घोड़े न पालते, केवल 'न न' ही कह देते।[6] इसके अतिरिक्त प्रत्येक संकट जैसे महामायी सूखा, बाढ़, आकाल आदि प्राकृतिक आपदायों के पड़ने पर प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रमुख कर्तव्य होता है।

भोजन, पानी, दवायें अस्थायी आवास व्यवस्था आदि का प्रबन्ध करना राजा का कर्तव्य होता है इसके अतिरिक्त कृषिकारों के लिये कृषि सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करना राजा का कर्तव्य होता है कोई भी राष्ट्र अपनी आन्तरिक शक्ति के बिना कभी भी आगे विकसित नहीं हो सकता।

---

1. प्रजामेको रक्षत्यूर्जमेका। - भाष्य - 1/1/24, पृ0 216

2. भाष्य - 7/2/23, पृ0 117

3. भाष्य - 5/4/78, पृ0 504

4. भाष्य - 2/4/19, पृ0 471

5. भाष्य - 2/2/6, पृ0 339

6. यदेतन्नभोमाहात्म्यं स्यान्न जातु चिद्राजानो हस्त्यश्वं विभृयुर्नेत्येव राजानो ब्रूयः। - भाष्य- 2/26, पृ0 339

राजा को इन सब कर्तव्यों को भलीभाँति निभाने के लिये एक मंत्रिपरिषद की आवश्यकता होती है परन्तु मंत्रिपरिषद में अत्यन्त सौम्य, सुलझे हुये व्यक्तियों को रखना ही राजा के लिये उचित होता है अन्यथा राजा को विभिन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है राजा का ये प्रमुख कर्तव्य होता है कि वह अपनें मंत्रियों पर आस्था रखकर प्रत्येक कार्य को सम्पादित करे तभी शासन व्यवस्था सुद्रढ़ न्यायपूर्ण और अच्छी हो सकती है।

मंत्रिपरिषद गठन के बाद राजा को विभिन्न विभागों के अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार मंत्रियों को वितरित करने के साथ–साथ सभी पर अपना नियन्त्रण रखना चाहिये मुख्य विभागों के अधिकारी जैसे–आयुक्त, भाण्डागारिक, आदि की नियुक्ति राजा के आधीन होती थी ऐसा प्रमाण मिलता है।

भास कालीन भारत में राजाओं ने सम्पूर्ण राज्याधिकारों को दो भागों में बाँटा था– ग्रामीण और नागरिक, ये कर्मचारी अधिकृत कहलाते थे और इनकी नियुक्ति राजा के निर्देश से होती थी तथा वह सभी राजा के निर्दिश्यमान कार्यो को भी करते थे।

राज्य के उच्चाधिकारियों में राष्ट्रिय का पद बहुत महत्वपूर्ण था पाणिनि और पतञ्जलि दोनों इस राष्ट्रिय पद से परिचित थे ऐसा आभास होता है।

राजा लोग नगर एवं राज्य के समाचार लाने के लिये गुप्तचर रखते थे, ये लोग कर्णेजप या सूचक कहलाते थे। राज्य के कार्य अनेक दृष्टियों से दिये जाते थे। राजा के हित की दृष्टि से किये जाने वाले समस्त कार्य राजभोगीन श्रेणी के होते थे। सेनानिभोगीन और ग्रामीणभोगीन कार्य सेनानी और ग्राम्य विधि से होते थे। सार्वजनिक हित की बातें, सार्वजनिक सर्वजनीन, विश्वजनीन, सर्वीण या सार्व होती थी। परन्तु इन सब पर राजा का पूर्ण नियन्त्रण होता

था। उसको ये अधिकार होता था कि वो किसी कर्मचारी के प्रति कोई भी कार्यवाही कर सकता था। अगर वो कर्मचारी किसी तरह दोषी सिद्ध होता है। भास के नाटक दूतवाक्यम् एवं अन्य रूपकों में कर्तव्य एवं अधिकार का उल्लेख है–

'कर्त्तव्यो भ्रातृषु स्नेहो विस्मर्तव्या गुणेतरा':।
सम्बन्धी बन्धुभिः श्रेयांल्लोकयोरूभयोरपि ।।"[1]

'रामेण भुक्तां परिपालितां च सुभ्रातृतां न प्रतिषेधयामि।
क्षमाक्षमत्वे तु मवान् प्रमाणं सङ्ग्रामकालेषु वयं सहायाः।।"[2]

'कृतकत्यं शरीरं में परिणामेन जर्जरम्।
राक्षसाग्नौ सुतापेक्षी हौष्यामि विधिसंस्कृतम्।।"[3]

'ज्येष्ठः श्रेष्ठः कुले लोके पितृणां च सुसंप्रियः।
ततोऽहमेव यास्यामि गुरूवृत्तिमनुस्मरन्।।"[4]

'मैवं, नृपः स्वसुकृतैरनुयातु सिद्धिं
मे शापितो, न परिरक्षसि चेत् स्वराज्यम्।।"[5]

---

1. *दूतवाक्यम् – भास – 1/29/35*
2. *पञ्चरात्रम् – भास– 1/45/47*
3. *मध्यमव्यायोग – भास – 1/15/18*
4. *मध्यमव्यायोग – भास – 1/17/20*
5. *प्रतिमानाटकम् – भास – 4/24/147*

5. न्याय-व्यवस्था

भासकार के समय तक धर्मसूत्रों की रचना हो चुकी थी ओर उनके आदेश आप्तवाक्यवत् मान्य थे। ईश्वर के बाद धर्मशास्त्रों के ही नियमों का स्थान था।[1] धर्मसूत्रकारों ने दो प्रकार के धर्म नियमों का निबन्धन किया था। एक वे थे, जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के सर्वथा निजी आचार–व्यवहार से था और दूसरे वे थे, जो प्रत्यक्ष रूप से समाज से सम्बद्ध थे।[2] परम्परा से चली आती हुई प्रथाएँ भी धर्म के अन्तर्गत मानी जाती थी। स्थूल रूप से समाज द्वारा स्वीकृत उचित कर्मधर्म्य थे। उनके अनुकूल आचरण करने वाला धार्मिक और उसके विरूद्ध व्यवहार करने वाला अधार्मिक माना जाता था।[3] न्याय और धर्म्य प्रायः समानार्थी थे।[4] न्याय कृत्य वह हो सकता था, जो हर काल और देश में उचित ठहराया जा सकता है। यदि कभी किसी बात की न्याय्यता के विषय में सन्देह उठ खड़ा होता, तो उसका निर्णय किसी विशेष दक्ष पुरूष द्वारा करा लिया जाता था। इस निर्णेता को स्थेय कहते थे।[5]

विवादो की श्रेणियाँ :-

कुछ विवाद राजकीय स्तर पर भी होते है। ये दो प्रकार के होते है– साम्पत्तिक और आपराधिक सम्पत्ति–सम्बन्धी मामले व्यवहार कहलाते थे। इनके पक्षों को परिवादी या परिवादक कहते थे और निर्णेता को धर्मपति।[6]

---

1. *नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति – काशिका – 5/1/119, पृ0 352*
2. *काशिका – 4/4/47*
3. *धर्मचरित अधर्माच्चेति वक्तव्यम् – भाष्य – 4/4/41, पृ0 278*
4. *भाष्य – 4/4/92*
5. *विवादपदनिर्णेता लोके स्थेयइत्युच्यते। – काशिका – 1/3/23*
6. *अश्वपत्यादि गण। – काशिका – 4/1/84*

निर्णयों पर पहुँचने में कभी–कभी शपथ का भी आश्रय लिया जाता था पर सामन्यतया साक्ष्य के आधार पर निर्णय किये जाते थे। साक्षी पारिभाषिक शब्द था और वह साक्षाद् द्रष्टा ही हो सकता था। यों साक्षाद् द्रष्टा धानिक या उत्तमर्ण और अधमर्ण भी होते है, किन्तु भाष्यकार के अनुसार इन दोनों से भिन्न तीसरा उपद्रष्टा ही साक्षी माना जा सकता था।[1] जमानतदार को प्रतिभू कहते थे।[2] पाणिनि ने सम्पत्ति के उत्तरोत्तर प्रकृष्ट अधिकारियों को स्वामी ईश्वर और अधिपति नाम दिये है और साक्षी, दायाद तथा प्रतिभू का भी उनके साथ ही उल्लेख किया है।[3]

व्यवहार–न्यायालय में ऐसे मामले जाते थे, जिनमें एक पक्ष अपह्नव से काम लेता था। पाणिनि ने धन लेकर या बिना धन दिये न लेने या देने के अपलाप के विषय में प्रयोगों के नियमन के लिये सूत्र बनाया है। काशिकाकार ने शत और सहस्र रूपयों के अपलाप के उदाहरण दिये है।[4] ऐसे विषयों में धर्म्य और न्याय की जाँच के लिये शपथ का भी आश्रय लिया जाता था।[5]

परीक्षा के बाद जिस अभियोग में सच्चाई प्राप्त नहीं होती थी, उसे असार कहते थे। झूठे मुकदमें के विषय में प्रयुक्त सार शब्द पारिभाषिक था

---

1. *साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् संज्ञायामिति किमर्थम्? त्रिभिः साक्षाद्दृष्टे भवति। यश्च ददाति यस्मै च दीयते यश्चोपद्रष्टा। तत्र सर्वत्र प्रत्ययः प्राप्नोति। संज्ञाग्रहण सामर्थ्याद् धनिकान्तेवासिनोर्न भवति। भाष्य – 5/2/91, पृ0 402*
2. *पाणिनि – 2/3/39*
3. *अष्टाध्यायी – पाणिनि – 2/3/39*
4. *ऐकागारिकटचोरे इदं तर्हि प्रयोजनं चोर इति वक्ष्यामि। काशिका – 5/1/113, पृ0 341*
5. *काशिका – 3/1/25, पृ0 65*

और वह नपुसंक लिंग मे ही प्रयुक्त होता था। सामान्य सार शब्द पारिभाषिक था और वह नपुंसक लिंग में ही प्रयुक्त होता था। सामान्य सार शब्द, जो कि उत्कर्ष–बोधक है, पुलिंग था।[1]

आरण्यक न्याय :-

न्याय के समक्ष धनी, निर्धन या सशक्त और शक्तिहीन का भेद नहीं था। इसके विपरीत स्थिति अरण्यों की थी, जहाँ बलवान, कमजोर को निगल जाता है इस स्थिति को भाष्यकार ने 'आरण्यक न्याय'[2] कहा है, जिसके निराकरण के लिए न्याय विभाग की स्थापना की गई थी।

स्तैन्यापराध :-

आपराधिक मामलों में, जिनके लिए राजदण्ड दिया जाता था, स्तैन्य, दस्युकार्य और हत्या प्रमुख माने जाते थे। स्तैन्य के अनेक प्रकार थे। अकेले घर में किसी को न देखकर घुस जाना[3] और बन्द हुए तो किवाड तोड़कर मालमत्ता उड़ा ले जाना इस युग में सामान्य बात थी।[4] वृक, चोर और दस्यु इन तीन भयों का भाष्य में पुनः–पुनः उल्लेख इस बात का प्रमाण है। चोरों के नाम उनके चौर्य–प्रकार पर रखे गये थे। यथाः ऐकागारिक, पाटहन आदि। सामान्य चोर के लिये 'तस्कर,[5] प्रणाय्य'[6] आदि तथा डकैत के लिए दस्यु शब्द

---

1. *सारशब्द उत्कर्षे पुल्लिंग न्यायादनपेते नपुंसकं तत्सारभिति।*

   – काशिका – 2/4/31

2. *भाष्य – 4/2/129, पृ0 216*
3. *काशिका – 1/3/44*
4. *काशिका – 3/2/44*
5. *तद्वृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट्तलोपश्च–तश्करः।*

   भाष्य – 6/1/157, पृ0 194
6. *भाष्य – 3/1/128*

का प्रयोग भाष्य में मिलता है। दस्यु–कर्म साहसिक्य या साहस–कर्म भी कहलाता था। भाष्यकार ने कहा है कि अच्छा चोर आँखों से काजल तक चुरा सकता है और अच्छा डकैत भागते हुये का भी रक्त पी सकता है। उन्होंने इन्हें चोर रूप और दस्यु–रूप की संज्ञा दी है।[1] इन दोनों के बीच की श्रेणी लुण्ठाकों की थी। ये लोग रास्ते के किनारे छिपे रहते थे और राहगीरों पर अचानक छापा मारकर उन्हें लूट लेते थे। इसीलिए भाष्यकार ने प्रेक्षापूर्वकारी पुरूष को चारों ओर से दस्युओं से बच–बचकर रहने का परामर्श दिया है।

हत्यापराध :-

इनके अतिरिक्त हत्याओं का प्रचार उस समय में बहुत अधिक था। मातृहा, पितृहा,भातृहा भ्रूणहा, कुमारधाती, राजध और सिर फोड़ डालने वाले शार्षघाती लोगों का उस युग में बाहुल्य था। पुरूष ही हत्या के लिये भाष्य में 'पौरूषेयवध' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[2] आत्महत्या अपराध मानी जाती थी या नहीं यह स्पष्ट नहीं है; किन्तु कष्टों से ऊबकर लोग आत्मघात अवश्य करते थे।[3] ब्रह्महत्या यद्यपि बहुत बड़ा अपराध माना जाता था, फिर भी ब्रह्महत्याएँ होती थी। यही बात भ्रूण हत्या के विषय में कही जा सकती है। भाष्य में भ्रूण हत्या का बार बार उल्लेख मिलता है।[4]

दण्ड :-

यह तो स्पष्ट नहीं है कि किस अपराध के लिए राज्य की ओर से कौन–सा दण्ड दिया जाता था, फिर भी दण्ड के प्रकारों के विषय में भाष्य में

---

1. *चोररूपोयम्। अप्ययमक्ष्णो रञ्जनं हरेत्। दस्युरूपोयम्। अप्ययं धावतो लोहितं पिबेत। भाष्य – 5/3/66, पृ0 460*
2. *भाष्य – 5/1/10, पृ0 320*
3. *भाष्य – 1/4/50, पृ0 175*
4. *भाष्य – 3/1/108, पृ0 185*

कई सूचनाएँ उपलब्ध है। आर्थिक दण्ड वैयक्तिक भी होते थे और सामूहिक भी। सामूहिक दण्ड कुटुम्ब विशेष के लिए दिये जाते थे। राज्य इस बात की चिन्ता नहीं करता था कि दण्डित कुल के किस सदस्य ने दण्ड का रूपया चुकाया और किसने नहीं। जुरमाने की पूरी रकम का वसूल हो जाना उसके लिए पर्याप्त था। राजा लोग धन के लोभी थे।[1] भाष्य में द्विपाद और द्विशत कार्षापण के दण्ड का उल्लेख है।[2]

शारीरिक दण्ड भी कई प्रकार के थे। यथा—सामान्य मारपीट, कोड़े लगाना, मूसल से मारना,[2] अंग विशेष काट लेना, सिर काट लेना, कुत्तों से चिथवाकर मार डालना,[4] विष देकर मार डालना, तथा शूली—फाँसी द्वारा जिसे वध्य की सामान्य संज्ञा दी गई थी, मार देना।

जिसका अपराध सिर काट लेने योग्य माना जाता था, उसे शीर्षच्छेद्य या शैर्षच्छेदिक कहते थे।[5] इसी प्रकार दण्डय्, मूसल्य, कश्य, वध्य आदि विशेषण अपराधानुसार निश्चित किये गये थे। अंगच्छेद के योग्य अपराधी छेद्य कहलाता था।[6] अपराधी वृषल को कुत्तो की मौत मार डाला जाता था।[7] यही हाल दस्युओं का किया जाता था।[8]

---

1. *गर्गः शतं दण्ड्यन्ताम्। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येकं दण्डयन्ति– भाष्य –1/1/1, पृ0 103*
2. *भाष्य – 5/4/2, पृ0 482*
3. *दण्डादि गण में दण्ड मूसल, कशावध। भाष्य– 5/1/64,65,66,*
4. *भाष्य – 4/4/91*
5. *भाष्य – शीर्षच्छेदाद्यच्च – 5/1/65*
6. *भाष्य – 5/1/76, पृ0 335*
7. *पूवधात्यो वृषलः –भाष्य – 3/1/107, पृ0 185*
8. *आहनते दस्युहत्यायदस्युहत्या श्वहत्या वर्त्तते। – भाष्य – 3/1/108, पृ0 185*

6. सेना के अंग एवं व्यवस्था

युद्ध दो प्रकार के होते थे 1. व्यक्तिगत 2. सामूहिक

प्रथम प्रकार का युद्ध जिसको व्यक्तिगत युद्ध या आपसी बैर भाव के कारण उत्पन्न होने वाले झगड़े कहते थे। दूसरे प्रकार के युद्ध सामान्यतया राजाओं के बीच होते थे शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिये तथा प्रतिपक्षी पर प्रहार करने के लिये राजा लोग दृढ़ सेनाओं का संगठन थे।[1] ये युद्ध सेना के बल पर लड़े जाते थे। परिमाण तथा गुण के आधार पर सामान्य परम और उत्तम सेनाएँ थी। जय पराजय इन्हीं के सुसंगठन पर निर्भर थी।

सेना के अंग :-

सेना के चार अंग थे– हाथी, घोड़े, रथ ओर पैदल। संग्राम शब्द से अनुमान होता है कि प्रारम्भ में ग्राम रक्षा के लिये एकत्र जन–समूह और बाद में युद्धार्थ एकत्र समूह संग्राम का अंग रहा। डॉ0 जायसवाल के अनुसार ईसा–पूर्व छठी शताब्दी तक राजाओं के पास स्थायी सेना नहीं रहती थी।[2] इस समय तक संगठित सेनापति और रथी ये दो ही अंग था। चतुरंग बल महाभारत में ही सर्वप्रथम मिलता है। जिसका उल्लेख महाभारत (शान्तिपर्व, 103–38) में सेना के चतुरंगों का वर्णन है वैदिक काल में भी सेना के दो ही अंग पत्ति और रथी मिलते हैं।

प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् और भास के अन्य नाटकों में सेना व सेन के अगे का उल्लेख है–

'व्यक्तं बलं बहु च तस्य न चैककार्यं

सङ्ख्यात वीरपुरूषं च न चानुरक्तम्।

---

1. दृढ़ सेनो राजा - भाष्य - 2/4/19, पृ0 470

2. हिन्दू पालिटी - पृ0 - 188, 90

व्याजं ततः समभिनन्दति युद्धकाले
सर्व हि सैन्यमनुरागमृते कलत्रम्।।"[1]

'स्निग्धं च सौहृदहृतं च कुलोद्गतं च
व्यायामयोग्यपुरूषं च गुणार्जितं च।
क्रीतं परैर्गहनदुर्गतया प्रनष्टं
युद्धे समस्त भारतया विपन्नम्।।"[2]

'यदि समग्रयोधबल परिवारो भवेद् भर्ता नैष दोषो भवेत्'[3]
'तत आत्मजीवित निर्दिष्टेन शपथेन निवार्यामात्यं नीलबलाहकाद्
हस्तिनोऽवतीर्य सुन्दरपाटलं नाभाश्वमारूह्मन र्धागते सूर्ये
विशतिमात्रैः पदातिभि सह प्रयातो भर्ता।"[4]

'योधस्यन्दनवाजिवारणवधैर्विक्षोभ्य राज्ञां बलं
बालेनार्जुनकर्म येन समरे लीलायता दर्शितम्।
सौभद्र स रणे नराधिपशतैर्वैगागतै सर्वश
रवे शक्रस्य पितामाहस्य सहसवोत्सग्यारोपित।।"[5]

---

1. *प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - भास - 1/4/9*
2. *प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - भास - 1/6/14*
3 *प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - भास - 1/14*
4. *प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - भास - 1/19*
5. *दूतघटोत्कचम् - भास - 1/3/4*

सेना संगठन :-

सेना का संगठन सामान्यतया क्षत्रियों से होता था, किन्तु ब्राह्मण भी सेना में काम करते थे। सेनापति पुण्यमित्र शुंग स्वयं ब्राह्मथ थे, किन्तु ये अपवाद–मात्र थे, इसीलिए युद्ध विद्या और धनुर्विद्या क्षत्रियों की विद्या मानी जाती थी।

श्री पी0सी0 चक्रवर्ती के मत से यह धारणा, सैनिक का कार्य केवल क्षत्रियों का एकाधिकार था, भ्रान्त है।[1]

ह्वीलर का कथन है कि कुछ अलिप्राकृत कहानियों को छोड़कर अन्यत्र कहीं ब्राह्मण सैनिक के रूप में चित्रित नहीं हुए है, उचित प्रतीत नही होता।[2]

सेनापति :-

सेनापति सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। सेनापति राजा के रत्नों में गिने जाते थे। सेनानी के बार–बार उल्लिखित ग्रामणी भी ग्राम में सैनिक–मुख्य का काम करता था। भाष्यकार के समय में ग्रामणी और सेनानी दोनों अत्यन्त महत्वपूर्ण सैनिक–पद थे।[3] अधिक अधिकार–सम्पन्न ग्रामणी और सेनानी ग्रामणीतर तथा सेनानीतर कहे जाते थे।[4] इनके अतिरिक्त अश्वपति, शतपति, अनुशतिक, रथगणक, पत्तिगणक, पृतनाषाह, सेनाचर आदि भी होते थे।

भास के नाटक दूतवाक्यम् के प्रथम अंक में भीष्म पितामह से सेनापति बनने का उल्लेख है–

---

1. दि आर्ट ऑफ वार एन0 इण्डिया।

2. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 1, पृ0 77

3. भाष्य – 6/3/1, पृ0 297

4. भाष्य – 6/3/43

'आचार्य! एतत् कूर्मासनम्, आस्यताम्। पितामह! एतत् सिंहासनम्, आस्यताम्। मातुल! एतच्चर्मासनम्, आस्यताम्। आर्यौवैकर्णवर्षदेवौ! आसातां भवन्तौ। भो भोः सर्वक्षत्रियाः। स्वैरमासतां भवन्तः। किमिति किमिति महाराज्ञो नास्त इति। अहो सेवाधर्मः। नन्वयमहमासे। वयस्य कर्ण! त्वमप्यास्स्वः। (उपविश्य) आर्यौ वैकर्ण वर्षदेवौ! उच्यताम्–अस्ति ममकादशाक्षौहिणी बलसमुदायः। अस्य कः सेनापतिर्भवितुमर्हतीति। किमाहतुर्भवन्तौ–अत्रभवान् गान्धारराजो वक्ष्यतीति। भवतु, मातुलेनाभिधीयताम्। किमाहमातुलः–अत्रभवति गाङ्गये स्थिते कोऽन्यः सेनापतिर्भवितुमर्हतीतिः सम्यगाह मातुलः। भवतु भवतु, पितामह एव भवतु। वयभप्येतदभिलषाभः।'[1]

'सेनानिनादपटहस्वनशङ्खनादै–
श्चण्डानिलाहतमहोदधिनादकल्पैः।
गाङ्गयमूर्हिन पतितैरभिषेकतोयैः
सार्ध पतन्तु हृदयानि नराधिपानाम्।।''[2]

'(परिक्रम्य विलोक्य) अये अयमङ्गराज समरपरिच्छदपरिवृतः शल्यराजेन सह स्वभवनान्निष्क्रम्येत एवाभिवर्तते। भो किं नु खलु युद्धोत्सवप्रमुखस्य दृष्टपराक्रमस्याभूतपूर्वो हृदय परितापः।[3]

सैन्य :-

सेना के सामान्य सिपाही को सैन्य कहते थे। यह सेना में समवेत अर्थात्

---

1. *दूतवाक्यम् - भास - 1/7/8*
2. *दूतवाक्यम् - भास - 1/5/8*
3. *कर्णभारम् - भास - 1/5*

बाहर से आकर उसमें मिलकर एक बन गया व्यक्ति माना जाता था।[1] सैन्यों में हस्तिपक तथा हस्त्यारोही के अतिरिक्त रथिक, आश्विक और पदाति का उल्लेख है। रथिक अन्तिम तीनों में शीघ्रगामी और आश्विक शीघृतर गामी था।[2] सेना के ये चारों प्रकार के सैनिक राजयुध्वा कहलाते थे।[3] पदाति, पदाजि और पदिक एवं पत्काषी या पत्ति ये पैदल–सेना के नाम थे।

सैनिकों के वर्ग :-

सैनिक का परिचय उसके द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले अस्त्र या शस्त्र से दिया जाता था। असि चलाने वाला आसिक और परश्वध चलाने वाला पारश्व–वधिक कहलाता था।[4] इसी प्रकार शाक्तीक और याष्टीक सैनिक इन अस्त्रों के प्रयोग में निपुण होते थे। इसके साथ–साथ भाष्य में शाक्तीकी और याष्टीकी स्त्री–सैनिकों का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः ये राजप्रसादों की रक्षा करने वाली अन्तःपुर में नियुक्त सैनिकाए थी।

अनुशतिक :-

शुक्रनीति के अनुसार सेना में शतानीक नामक अधिकारी का सहायक अनुशतिक कहलाता था। पत्तिपाल की अध्यक्षता में 5, गौल्मिक के नीचे 3, और शतानीक के नीचे 100 सिपाही रहते थे।[5] शतीनीक का साथी होने के कारण अनुशतिक संज्ञा चरितार्थ होती थी, किन्तु शतानीक का कार्य युद्ध

---

1. *भाष्य – 4/4/45*
2. *भाष्य – रथिक आशुगच्छ्याश्विकश्चिरेण पदातिश्चिरतरेण – 1/1/70 पृ0 445*
3. *भाष्य – 3/2/95*
4. *भाष्य – 4/4/ 47,48,49, पृ0 281*
5. *शुक्रनीति – 2/140*

करना था और अनुशतिक का युद्ध की सामग्री जुटाना एवं सैनिकों की भर्ती करना।[1]

इस प्रकार अन्यान्य अध्ययनों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भास के नाटकों का भारत एक सैन्य सम्पन्न समस्त नियमों का पालन करने वाला भारत था। जैसे शुक्रनीति, महाभारत में वर्णित युद्धकला के कुछ अंशों तथा अन्य राजाओं का सैन्य संगठन आदि प्राचीन भारत की युद्धकला की उत्कृष्टता का परिचय देते है।
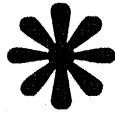
1. *'तथाविधोऽनुशतिकः शतानीकस्य साधकः।*
श्रानाति युद्ध संभारं कार्ययोग्य च सैनिकम्।।"
– (शुक्र0 2/144)

7. आयुध

आयुधों के लिये प्रहरण शब्द का प्रयोग किया गया है (4/4/57)। सूत्रों में उनके नाम इस प्रकार है– धनुष(3/2/31) शक्ति (4/4/59) परपूवध (4/4/58), कासू (लम्बा बर्छा) कासूतरी (छोटा बर्छा (5/3/90) हस्वाकासूः, कासूतरी, कासूरिति शक्तिरायुधविशेष उच्यते) हेति (एक विशेष प्रकार का फेंकने वाला अस्त्र) और असि या तलवार जिसे कौक्षेयक भी कहते थे (4/2/96)।

आयुध दो प्रकार के थे– संरक्षात्मक और प्रहरणात्मक। संरक्षात्मक आयुधों में कवच आवरण चर्म या ढाल भी कहा जाता था जो गैड़े के चर्म का होता था।

प्रहरणात्मक आयुधों में तलवार, धनुष, बाण, कुन्त, शक्ति, यष्टि, परशु, आराशस्त्री, मूसल, अंकुश, दण्ड आदि प्रमुख है।

धनुष को कार्मुक भी कहते थे, कृमुख नामक वृक्ष की लकड़ी से बनाये जाने के कारण यह नाम पड़ा था। बाद में अन्य वृक्षों की लकड़ी का भी व्यवहार होने लगा और कार्मुक का मूल अर्थ विस्मृत कर दिया। क्रमुक का उल्लेख क़ाठक (19–10) शतपथ (6/6/2/11) और कौषीतकी (28) ब्राह्मण में मिलता है। गाण्डीव, अजगव और शार्ग ये विशिष्ट प्रसिद्ध धनुषों के नाम पाये जाते है युद्ध अधिकांशतः धनुषों से लड़ा जाता था। भास के नाटक दूतवाक्यम् मे भी धनुष का वर्णन मिलता है –

'तनुमृदुललितागं स्त्रीस्वभावोपपन्नं

हरिकरधृतमध्यं शत्रुसऽ.धैककालः।

कनकखचित पृष्ठं भाति कृष्णस्य पार्श्वे
नवसलिलदपापूर्वे चा विद्युल्लतेव।।''[1]

धनुष के बाद तलवार का प्रयोग सर्वाधिक होता था। तलवार कुक्षि में लटकाई जाती थी इसीलिए इसे कौक्षेयक भी कहते थे।[2] इसका म्यान चमड़े का बनाया जाता था।[3] रक्त बरसान के कारण इसका एक विशेषण सेकिम भी प्रचलित था।

भास के नाटक चारूदत्तम् के प्रथम अंक मे तलवार का वर्णन इस प्रकार आया है –

'असिः खलु तीक्ष्णः शिखिग्रीवामेचकः
क्षिपामि शीर्ष तव मारयेऽथवा।
अलं त्वस्माद्रशकान् रोषयित्वा
मृतः खलु यो भवति न नाम जीवति।।''[4]

इसी प्रकार दूतवाक्यम् मे भी तलवार का वर्णन आया है –

'सोऽयं खडगः खरांशोरपहसिततनुः स्वैः करैर्नन्दकाख्यः
सेयं कौमोदकी या सुररिपुकठिनोरः स्थलक्षोददक्षा।'[5]

यूनानी इतिहास लेखक हेरोदोत ने लिखा है कि वे छोटे बर्छो दण्ड, यष्टि, कुन्त, भाला, आदि अस्त्र के रूप में व्यवहृत होते थें अंकुश और तोमर भी युद्ध मे प्रयुक्त होते थे। शक्ति–ग्रह, लांगल–ग्रह, अंकुश–ग्रह, यष्टि–ग्रह,

---

1. *दूतवाक्यम् - भास - 1/47/93/54*
2. *भाष्य - 4/2/96, पृ0 202*
3. *चार्मः कोशः - भाष्य- 6/4/144,पृ0 483*
4. *चारूदत्तम् - भास- 1/15/23*
5. *दूतवाक्यम् - भास - 1/57*

तोमर–ग्रह और धनुर्ग्रह का एक साथ उल्लेख मिलता है। मूसल भी एक प्रकार का आयुध था और उसके चलाने का नियमित अभ्यास किया जाता था।

भास के नाटक बालचरितम् एवं अन्य नाटकों में अन्य आयुधों का उल्लेख है–

'कौमोदकी नाम हरेर्गदाहमाज्ञावशात् सर्वरिश्न प्रमथ्य।
मया हतानां युधि दानवानां प्रकीडितं शोणितनिम्नगासु।।'[1]

'चक्रशाङ्र्गगदार्शॅनन्दका दैत्यमर्दनाः
वासुदेवस्य कार्यार्थं प्राप्ताः पारिषदा वयम्।।''[2]

'कृष्णापराभवभुवा रिपुवाहिनीभ–
कुम्भस्थली दलनतीक्ष्णगदाधरस्य।
भीमस्य कोपशिखिना युधि पार्थपन्त्रि–
चण्डानिलैश्च कुरूवंशवनं विनष्टम्।।''[3]

'एभिरेव रथैः शीघ्रं क्रियतां तस्य गोग्रहः।
गदा यज्ञप्रशान्ता च पुनर्मे करमेष्यति।।''[4]

'स्थानाक्रामणवामनीकृततनुः किञ्चित् समाश्वास्य वै
तीव्रं बाणमवेक्ष्य रक्तनयनो मध्याहसूर्यप्रभः।
व्यक्तं मातलिना स्वयं नरपतिर्दत्तास्पदो वीर्यवान्
क्रद्धः संहितवान् वरास्त्रममितं पैतामहं पार्थिवः।।''[5]

---

1. बालचरितम् – भास – 1/24/25
2. बालचरितम् – भास – 1/27/27
3. दूतवाक्यम् – भास – 1/14/20
4. पञ्चरात्रम् – भास – 1/56/59
5. अभिषेक – भास – 6/16/112

पंचम अध्याय

भास के नाटकों में तद्कालीन धार्मिक भावनाएँ

पंचम अध्याय
भास के नाटकों में तद्कालीन धार्मिक भावनाये

1. *धर्म*

धर्म क्या है, उसका स्वरूप कैसा है, तथा धर्म का वास्तविक मूल क्या है, तथा धर्म के प्रति गम्भीर श्रद्धा का भाव व्यक्त हुआ है। धर्म का निर्णय शास्त्र के आधीन था। कामचार की स्थिति में शास्त्र नियमन करता था और तद्नुसार किया गया आचारण अभ्युदयकारी माना जाता था। अशास्त्रोक्त कर्म विगुण होता है और विगुण कर्म करने से फल की अवाप्ति नही होती, यह धारणा थी।

'अशास्त्रोक्ते क्रियमाणे विगुणं कर्म भवति। विगुणे च कर्मणि फलान वाप्तिः।'[1] शास्त्र का काम ही धर्मोपदेश है। वह जो कुछ बतलाता है, धर्म माना जाता था। **'धर्मोदेशनमिदं शास्त्रम्'**[2] धर्म का निर्णय एक दूसरे प्रकार से किया जाता है। जहाँ शास्त्र मौन हो वहाँ ऋषि–सम्प्रदाय में प्रचलित आचार प्रमाणित और धर्म माना जाता था। उन धर्मों के संस्थापक अपने अपने धर्म की नई व्याख्या करने लगे परन्तु धर्म के वास्तविक स्वरूप को वे भी नही निश्चित कर पाये क्रमशः धर्म के भेद–प्रभेद सामने आने लगे जैसे–स्त्रीधर्म पुत्र–धर्म, ग्रहस्थ जीवन धर्म, गार्हष्थ धर्म, पतिवृत धर्म, ऋषि धर्म, राजधर्म, इसीक्रम में पतिवृत धर्म का वर्णन प्रतिमानाटकम् में मिलता है–

'अनुचरति शशाट राहदोषेऽपि तारा
पतति च वन वृक्षे याति भूमिं लता च।

---

1. भाष्य – पतंजलि – 1/2/64, पृ0 589

2. भाष्य – पतंजलि – 6/1/84, पृ0 217

त्यजति न च करेणुः पटलग्नं गजेन्द्रं
व्रजतु चरतु धर्मं भर्तृनाथा हि नार्यः।।"[1]

पञ्चरात्रम् व अन्य रूपकों में भी भास ने धर्म का उल्लेख किया है –

'अवाप्य रूष्थग्रहणात् समुच्छयं रणप्रियत्वादयशो निपीतवान्।
निषेव्य धर्मं सुकृतस्य भाजनं स एव रूपेण चिरस्य शोभते ।।"[2]

'दैवतं मानुषीभूतमेष तावन्नमस्यताम्।
अहंनाचरणं मन्ये भीष्ममुत्क्रम्य वन्दितुम।।"[3]

'अनुभूतं महद्दुःखं सम्पूर्णं समयः स च।[4]
आस्माकमपि धर्म्यं यद् दायाद्यं तद्विभज्यताम्।।'
सीता–ननु सहधर्मचारिणी खल्वहम्।[5]

'धर्मः प्रागेव चिन्त्यः सचिवमतिगतिः प्रेक्षितव्या स्वबुद्धया।
प्रच्छाद्यौ रागरोषौ मृदुपरूषगुणौ कालयोगेन कार्यौ।।
ज्ञेयं लोकानुवृत्तं परचरनयनैर्मण्डलं प्रेक्षितव्यं।[6]

---

1. प्रतिमानाटकम् – भास – 1/25/48
2. पञ्चरात्रम् – भास – 1/22/20
3. पञ्चरात्रम् – भास – 1/26/24
4. दूतवाक्यम् – भास – 1/20/27
5. प्रतिमानाटकम् – भास – 1/46
6. अविमारक – भास – 1/12/26,27

'विज्ञाय देव्याः शौचं च श्रुत्वा चार्यस्य शासनम्।
धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता बुद्धिर्दोलायते मम।।''[1]

'आर्य!मा मैवम्। पतिमात्रधर्मिणी पतिव्रतेति नाम। गृहीत–
फलेनैतेन शरीरेणार्थं कुलं च रक्षितुमिच्छामि।''[2]

अभिषेक नाटक में भास ने धर्म की मर्यादा व विचार का उल्लेख किया है–

'लङ्कायां किल वर्तते नृपसुता शोकाभिभूता भृशं
पौलस्त्येन विहाय धर्मसमयं संक्लेश्य माना ततः।
श्रुत्वैतद् भ्रशशोकतप्तमनसो रामस्य कार्यार्थिना
राज्ञा वानरवाहिनी प्रतिभया सन्नाहमाज्ञापिता।।''[3]

'मया कृतं दोषमपास्य बुद्धया त्वया हरीणामधिपेन सम्यक्।
विमुच्य शेषं परिगृह धर्मं कुलप्रवालं परिगृह्यतां नः।।''[4]

भास ने अभिषेक नाटक में राज धर्म का भी वर्णन किया है–

'युक्तं भो! नरपतिधर्ममास्थितेन युद्धे मां छलयितुमक्रमेण राम।
वीरेण व्यपगतधर्मसंशयेन लोकानां छलमपनेतुमुद्यतेन।।''[5]

इस प्रकार धर्म एक ऐसा शब्द है जिसको स्पष्ट करना दुःसाध्य है। धर्म एक आस्था है, विश्वास है, मर्यादा का रक्षक है, यही कहना उचित प्रतीत होता है।

---

1. अभिषेकनाटक – भास – 6/23/117
2. मध्यमव्यायोग – भास – 1/18/19
3. अभिषेकनाटक – भास – 4/1/67
4. अभिषेकनाटक – भास – 1/26/20
5. अभिषेकनाटक – भास – 1/17/14

2. देवता

प्राचीन संस्कृति के यज्ञ प्रधान होने के कारण वैदिक कालीन देवताओं का अनेक बार उल्लेख हुआ है धीरे–धीरे धार्मिक विशेषता के आधार पर कालवाची शब्दों से अभिहित नये–नये देवी, देवताओं की पूजा प्रारम्भ हो गयी थी, इस प्रकार मास ऋतु, संवतसर सभी को देवताओं का नया पद प्राप्त हुआ और लोक में उनकी पूजा तेजी से बढ़ी देवत् प्रधान ये नवीन पद्धति यहा तक बढ़ी कि जितने नक्षत्र थे वे भी देवता मान लिये गये इन नक्षत्रों के जो अधिष्ठात देवता थे, उनकी कृपा से पुत्र जन्म या उनका कल्याण चाहने वाले माता, पिता, अपनी सन्तान का नाम उन नक्षत्रों के नाम से रखते थे और समय समय पर उनके लिये स्थानीय पाठ या हवि अर्पित करते थे।

इस प्रकार ये प्रवृत्ति धार्मिक इतिहास की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। इसका परिणाम समाज और जीवन में कुछ प्रमुख देवताओं के बारे में इस प्रकार से जाना गया जो निम्न है–

इन्द्र :–

वैदिक साहित्य में इन्द्र और अग्नि का प्राधान्य है। इन्द्र के सभी प्रसिद्ध नाम जैसे शक्र, पुरूहूत, वृत्रहन्, मधवन्, हरिवन्, पुरन्दर और महेन्द्र[1] मिलते है। इनमे कही यज्ञार्थ इन्द्र का अवाहन है और उससे मयूर रोमा अमन्द्र अश्वों पर बैठकर आने की प्रार्थना की गई है[2] इनमें कही उसे दी जाने वाली बलि या हवि के प्रसंग मे, जिसका नाम उसी के आधार पर रखा जाता था, जैसे – ऐन्द्र हवि या माहेन्द्र, महेन्द्रिय या महेन्द्रीय हवि उसका स्मरण कराती है। पुर

---

1. *भाष्य – 4/2/29*
2. *ऋग्वेद – 3/45/1*

का विदारण करने के कारण इन्द्र का नाम पुरन्दर बतलाया गया है।[1]

प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् व अन्य रूपको मे भी भास ने इन्द्र का उल्लेख किया है –

'ब्रह्मा ते हृदयं जगत्त्रयपते! रुद्रश्च कोपस्तव
नेत्रे चन्द्रदिवाकरौ सुरपते! जिह्वा च ते भारती।
सब्रह्मेन्द्रमरूद्गणं त्रिभुवनं सृष्टं त्वयैव प्रभो!
सीतेयं जलसम्भवालयरता विष्णुर्भवान् ग्रह्मताम्।।''[2]

'पातुवासवदत्तायो महासेनोऽतिवीर्यवान्।
वत्सराजस्तु नाम्ना सशक्तिर्यौगन्धरायणः।।''[3]

'उन्मन्तकः –आम् ऐरावणोऽह्म्। न खलु तावद् देवराजो[4] देवराजो मामासनमारोहति। श्रुतं च मया पादपाशिकैरिन्द्रो बद्ध इति। धारानिगलैः विद्युन्मयीमिः कशाभिस्ताऽयित्वा वातोद्भ्रामेण भिद्यते मेघबन्धनम्।

'येनेन्द्रस्य स पारिजातकतरूर्मानेन तुल्यं हृतो
दिव्यं वर्ष सहस्रमर्णवजले सुप्तश्च यो लीलया।
तीव्रां भीमगदां प्रविश्य सहसा निर्व्याजयुद्धप्रिय
स्तेनाहं जगतः प्रियेण हरिणा मृत्योः प्रतिग्राहितः।।'[5]

---

1. भाष्य – पतंजलि – 6/3/69

2. अभिषेक – भास – 6/30/122

3. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् – भास – 1/1/1

4. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् – भास – 3/81

5. ऊरूभंगम् – भास – 1/35/39

अग्नि :-

इन्द्र के समान ही अग्नि का नाम भी अनेक बार आया है। वैसे भाष्य में अग्नि का स्थान इन्द्र से बड़ा कहा गया है। भास के नाटक मध्यमव्यायोग एवं अन्य रूपकों मे भी अग्नि का उल्लेख है–

'यथानदीनां प्रभवः समुद्रो
यथाहुतीनां प्रभवो हुताशः।
यथेन्द्रियाणां प्रभवं मनोऽपि
तथा प्रभुर्नो भगवानुपेन्द्रः।।''[1]

'एषा कनकमालेव ज्वलनाद् वर्धितप्रभा।
पावना पावकं प्राप्य निर्विकारमुपागता।।''[2]

जानतापि च वैदेह्याः शुचितां धूमकेतन।
प्रत्यथार्थं हि लोकानामेवमेव मया कृतम्।।''[3]

'क्रोधेन नश्यति सदा मम शत्रुपक्षः
सूर्य शशी हुतवहश्र्च वशे स्थिता मे।
योऽहं यमस्य च यमो भयदोभयस्य
तं मापवादवचनैः परिधिर्षयन्ति।।''[4]

---

1. *मध्यमव्यायोग – भास – 1/52/59*
2. *अभिषेकनाटकम् – भास – 6/25/119*
3. *अभिषेकनाटकम् – भास – 6/29/121*
4. *बालचरित – भास – 2/3/34*

रूद्र :-

रूद्र, भव, शर्व,[1] कण्ठेकाल,[2] गिरिश[3], ये रूद्र के नाम प्रचलित थे। उन्हे दी जाने वाले हवि को शतरूद्रिय या शतरूद्रीय कहा है। कण्ठेकाल में पौराणिक विषपान की गाथा आकर जुड़ गई है और गिरिश भी शिव के कैलाशशायी होने की पौराणिक भावना की ओर संकेत करता है।

अभिषेक व अन्य रूपकों मे भी भास ने शिव का उल्लेख किया है–

'जित्वा त्रैलोक्यमाजौ ससुरदनुसुतं यन्मया गवितेन।
क्रान्त्वा कैलासमीशं स्वगणपरिवृतं साकभाकम्प्य देव्या।
लष्ध्वा तस्मात् प्रसादं पुनरगसुतया नन्दिनानादृतत्वाद्।
दन्तं शप्तं च ताभ्यां यदि कपिविकृतिच्छद्नातन्मम स्यात्।।[4]

'रूद्रो वाऽयं भवेच्छको विष्णुर्वाऽपि स्वयं भवेत्।
अभिथ्या खलु मे तर्कः स एव पुरूषोत्तमः।।'[5]

पूर्वा तु काष्ठा तिमिरानुलिप्ता
सन्ध्यारूणा भाति च पश्रि्चमाशा।
द्विधा विभक्तान्तरमन्तरिक्षं
यात्यर्धनारीश्र्वररूपशोभाम्।।'[6]

---

1. *भाष्य – पतंजलि – 3/1/134, पृ0 197*
2. *भाष्य – पतंजलि – 2/1/69,पृ0 323*
3. *भाष्य – पतंजलि – 3/2/15, पृ0 212*
4. *अभिषेक – भास – 3/12/54*
5. *बालचरित – भास – 3/12/68*
6. *अविमारक – भास – 2/12/57*

'विश्वकर्ता शिवः कृष्णः शक्रः शक्तिधरो यमः।

एतेषु कथ्यतां भद्र। केन ते सदृशः पिता।।''[1]

'भीमः– कथं मायापाशेन बद्धोऽस्मि। किमिदानी[2] करिष्ये। अस्ति महेश्वरप्रसादलब्धो मायापाशमोक्षोमन्त्रः। तं जपामि। कुतः खलवापः? भवतु, भो ब्राह्मणकुमार ! आनयकमण्डलुगता अपः।

'ब्रह्मा ते हृदयं जगत्त्रयपते ! रूद्रश्र्च कोपस्तव

नेत्रे चन्द्रदिवाकरौ सुरपते ! जिह्वा च ते भारती।

सब्रह्मेन्द्रमरूदगणं त्रिभुवनं सृष्टं त्वयैव प्रभो।

सीतेयं जलसम्भवालयरता विष्णुर्भवान् ग्रह्मताम्।।''[3]

'कलभदशनदंष्ट्रो लाग्लाकारनासः

करिवरकर बाहुर्नीलजीभूतवर्णः।

हुतहुतवहदीप्तो यः स्थितो भाति भीम

स्त्रिपुरपुरनिहन्तुः शटरस्येव रोषः।।''[4]

सूर्य और सोम :-

आदित्य, अर्क, सूर्य, सविता, पूषन ये सूर्य के अन्य नाम मिलते है। अर्क या आदित्य की उपासना इस काल मे प्रचलित हो चुकी थी। भाष्यकार ने

---

1. मध्यमव्यायोग – भास – 1/43/46

2. मध्यमव्यायोग – भास – 1/51

3. अभिषेक – भास – 6/30/122

4. मध्यमव्यायोग – भास – 1/6/7

देवपूजा के प्रसंग मे अर्क और चन्द्रमा की चर्चा[1] की है तथा कही से दो श्लोक उद्धृत किये है–

'बहुनामप्यचिन्तानामेको भवति चिन्तवान्।
पश्य वानर सैन्येऽस्मिन् यदर्कभुपतिष्ठते।।
मैवं मस्थाः सचिन्तोऽयभेषोऽपिहि यथा वयम्।
एतदप्यस्य कोपयं यदर्कमुपतिष्ठति।।[2]

आदित्य को अर्पित की जाने वाली हवि भी आदित्य कही[3] जाती थी। आदित्य के समान सोम की पूजा भी प्रचलित थी सोम की हवि को सौम्य कहते थे।[4] भास के नाटक दूतघटोत्कच एवं अन्य रूपकों मे भी सूर्य और सोम का उल्लेख मिलता है –

'धर्म समाचर कुरू स्वजनव्यपेक्षां[5]
यत्काङ्क्षितं मनसि सर्वमिहानुतिष्ठ।
जात्योपदेश इव पाण्डवरूपधारी
सूर्यांशुभिः सममुपैष्यति वः कृतान्तः।।

'किमत्र चित्रं विततः पयोदा, रून्धन्ति सूर्य ननु वातनीताः।
अन्तःस्थितं मे यदि वारयन्ति, कामं भवेद् विस्मयनीयमेतत्।।'[6]

---

1. *भाष्य – पतंजलि – 1/3/25, पृ0 64*
2. *भाष्य – पतंजलि – 1/3/25, पृ0 64*
3. *काशिका – पतंजलि – 4/2/24*
4. *काशिका – पतंजलि – 4/2/30*
5. *दूतघटोत्कच – भास – 1/25/62*
6. *अविमारक – भास– 4/6/102*

'जलदसमयघोषणाऽम्बरानेकरूपक्रियाजृम्भका वज्रभृद्गृष्टयो
भगणयवनिकास्तडित्पन्नगीवासवल्मीकभूता नभोमार्गरूढक्षुपाः।
मदनशरनिशानशैलाः प्ररूष्टाग्नासन्धिपाला गरिस्नापनाम्भोघटाः
उदधिसलिलभैक्षहारा रवीन्द्वर्गला देवयन्त्रप्रपा भान्ति नीलाम्बुदाः।।'[1]

'अनुचरति शशांट राहुदोषेऽपितारा
पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च।
त्यजति न च करेणुः पटलग्नं गजेन्द्रं
व्रजतु चरतु धर्मं भर्तृनाथा हि नार्यः।।[2]

'ब्रह्मा ते हृदयं जगत्त्रयपते ! रूद्रश्च कोपस्तव
नेत्रे चन्द्रदिवाकरौ सुरपते ! जिह्वा च ते भारती।
सब्रह्मेन्द्रमरूद्गणं त्रिभुवनं सृष्टं त्वयैव प्रभो !
सीतेयं जलसम्भवालयरता विष्णुर्भवान् गृह्मताम्।।''[3]

'तीर्त्वा प्रतिज्ञार्णवमाहवेऽद्य
सम्प्राप्य देवीं च विधूतपापाम्।
देवैः समस्तैश्च कृताभिषेको
विभाति शुभ्रे नभसीव चन्द्रः।।'[4]

---

1. *अविमारक - भास - 5/6/148*
2. *प्रतिमानाटकम् - भास- 1/25/48*
3. *अभिषेक - भास - 6/30/122*
4. *अभिषेक - भास - 6/32/124*

अन्य देवता :-

इनके अतिरिक्त मरूत्, उषस, महाराज, वरूण, प्रजापति, अपोनपात या अपानपात्, विश्वेदेवा, विष्णु, कृष्ण, वासुदेव और कुबेर के मन्दिरो में सामूहिक नृत्य गान, वाद्य आदि होते थे। उनके शयन और उत्थान का विवरण भाष्य मे मिलता है, जो रात्रि एवं प्रभात बेला में उनके मन्दिर के द्वार बन्द होने और खुलन का द्योतक है।[1]

भाष्य में किसी श्लोक का अर्धांश उद्धृत किया गया है जिसमें संकर्षण साथ कृष्ण का बल बढ़ने की कामना की गई है।[2] भास के नाटक बालचरित मे भी कृष्ण और बलराम के बल का वर्णन मिलता है–

'श्रुत्वा व्रजे विपुल विक्रमवीर्यसत्वं
दामोदरं सह बलेन समाचरन्तम्।
आदिश्य कार्मुकमहं तमिहोपनीय
मल्लेन रग्गतमद्य तु धातयामि।।'[3]

भास के नाटक बालचरित एवं अन्य रूपकों मे भी कृष्ण और बलराम का उल्लेख है–

'विषदहनशिरवाभिर्यन्मुखात् प्रोदगताभिः
कपिशितमशिवाभिश्र्चक्रवालं दिशानाम्।
सरभसमभियान्तं कृष्णभालक्ष्य शटी
नमयति शिरसान्तर्मण्डलं चण्डनागः।।''[4]

---

1. *भाष्य – पतंजलि – 3/1/133, पृ0 197*
2. *भाष्य – पतंजलि – 2/2/24, पृ0 369*
3. *बालचरित – भास– 5/1/87*
4. *बालचरित – भास– 4/3/74*

'भीष्मद्रोणतटां जयद्रथजलां गान्धारराजह्रदां

कर्ण द्रोणिकृपोर्मिनक्रभकरां दुर्योधनस्रोतसम्।

तीर्णः शत्रुनदी शरासिसिकतां येन प्लवेनार्जुनः

शत्रूणां तरणेषु वः स भगवानस्तु प्लवः केशवः।।''[1]

'माला संवृतलोचनेव हलिना नेत्रोपरोधः कृतो।

दृष्टवा क्रोधनिमीलितं हलधरं दुर्योधनापेक्षया।

सभ्रान्तैः करपञ्जरान्तरगतो द्वैपायनज्ञापितो

भीमः कृष्णभुजावलम्बिलगतिर्निर्वाह्यते पाण्डवैः।।''[2]

'चल बिलुलितमौलिः क्रोधताम्रायताक्षो

भ्रमरमुखविदष्टां किंचिदुत्कुष्य मालाम्।

असिततनुविलम्बिस्रस्तवस्त्रानुकर्षी

क्षितितलमवतीर्णः पारिवेणीव चन्द्रः।।'[3]

'द्रोणः प्रथित्यर्जुनभीमदूतो यः कर्णधारः शकुनीश्वरस्य।

दुर्योधनो भीष्मयुधिष्ठिरः स पायाद् विराडुत्तरगोऽभिमन्युः।।[4]

'वयं व्यपाश्रित्य रणं प्रयामः शस्त्राणि, चापानि रथाधिरूढाः।

द्वावेव दोर्भ्या समरे प्रयातौ हलायुधश्चैव वृकोदरश्च।।''[5]

---

1. ऊरूभंगम् – भास– 1/1/21 2. ऊरूभंगम् – भास– 1/25/28

3. ऊरूभंगम् – भास– 1/26/29 4. पञ्चरात्रम् – भास– 1/1/1

5. पञ्चरात्रम् – भास– 3/14/147

दूतवाक्यम् व भास के अन्य नाटकों मे भी विष्णु इत्यादि देवताओ का उल्लेख है –

'पादः पायादुपेन्द्रस्य सर्वलोकोत्सवः स वः।
व्याविद्धो नमुचियेन तनुताम्रनखेन रवे।।'[1]

'चिरोपरोधसम्प्राप्त क्लेशो मे केशिसूदनात्।
अपनीतः स्ववीर्येण यथा विष्णोः शतक (तु ? तोः)'[2]

'कंसे प्रमथिते विष्णोः पूजार्थ देवशासनात्।
सगन्धर्वाप्सरोभिश्र्च देवलोकादिहागत।।'[3]

'सुरासुराणां परिखेदलब्धं येनामृतं मातृविमोक्षणार्थम्।
आच्छिन्नमासीद् द्विषतो मुरारेस्त्वामुद्वहामीति वरोऽपिदत्तः।।'[4]

'सजलजलधरेन्द्रनीलनीरो विलुलितफेनतरङ्गचारूहारः।
समधिगतनदीसहस्रबाहुर्हरिरिव भाति सरित्पतिः शयानः।।'[5]

'यमवरूणकुबेरवासवाद्यैस्त्रिदशगणैरभिसंवृतो विभाति।
दशरथवचनात् कृताभिषेकस्रिदशपतित्वमवाप्य वृत्रहेव।।''[6]

---

1. दूतवाक्यम् – भास– 1/1/1 ? 2. बालचरितम् –भास– 5/16/103
3. बालचरितम् –भास– 5/17/103
4. दूतवाक्यम् – भास– 1/53/60
5. अभिषेकनाटकम् – भास– 4/3/69
6. अभिषेकनाटकम् – भास– 6/33/125

3. पूजा एवं भक्ति

सामान्य मूर्तियों को 'प्रतिकृति' और पूजार्थ बनाई गई मूर्तियों को अर्चा कहते है। देवताओं की मूर्तियाँ धार्मिक ग्रन्थों एवं देवविशेष के कल्पित स्वरूप के आधार पर बनायी जाती थी। इन देवमूर्तियों को अर्चा कहा है। अर्चाएँ पूजा की वस्तु थी। वे मन्दिरों या सार्वजनिक स्थानों पर भी प्रतिष्ठित की जाती थी। ये अर्चाएँ जिस देवता की होती थी उसी के नाम से पुकारी जाती थी जैसे शिव की मूर्ति पूजार्थ शिव की कही जाती थी।[1]

अर्चाओं के प्रसंग मे, शिव, स्कन्द, विशाख, राम, केशव, बलराम, इन्द्र, कृष्ण, ब्रह्मा, कुबेर, विष्णु, शिव, स्कन्द, विशाख इत्यादि देवताओं की मूर्तियों की पूजा की जाती थी। इस बात का उल्लेख भास के नाटको मे भी मिलता है –

'उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्यत्वाम्।
पद्मावतीर्णपूर्णो वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम्।।'[2]

'कंसेप्रभयिते विष्णोः पूजार्थ देवशासनात्।
सगन्धर्वाप्सरोभिश्र्च देवलोकादिहागतः।।''[3]

रूमण्वान्– भवतइदानीं प्रयत्न उचितं तिथिसत्कारमानेष्यति स्वामिनः।'[4]

---

1. भाष्य – पतंजलि– 5/3/99
2. स्वप्नवासवदत्तम् – भास– 1/1/1
3. बालचरितम् – भास– 5/17/103
4. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् – भास– 3/92

'रूद्रो वाऽयं भवेच्छक्रो विष्णुर्वाऽपि स्वयं भवेत्।
अमिथ्या खलु मे तर्कः स एव पुरूषोत्तमः।।''[1]

'नारायणस्य नररूपमुपाश्रितस्य
कार्यार्थमभ्युपगतस्य कृतापराधः।
देवस्य देवरिपुदेहरात् प्रतूर्ण
भीतः शराच्छरमेनमुपाश्रयामि।।'[2]

'उत्क्षिप्तां सानुकम्पं सलिलनिधिजलादेकदंष्ट्राग्ररूढा
माक्रान्तामाजिमध्ये निहतदितिसुतामेकपादावधूताम्।
सम्भुक्तां प्रीतिपूर्वं स्वभुजवशगतामेकचक्राभिगप्तां
श्रीमान् नारायणस्ते प्रदिशत्रु वसुधामुच्छ्रितैकातपत्राम्।।'[3]

'यमवरूणकुबेरवासवाद्यैस्त्रिदशगणैरभि संवृतो विभाति
दशरथवचनात् कृताभिषेकस्त्रिदशपतित्वमवाप्य वृत्रहेव।।''[4]
'शक्रं पृच्छपुरा निवातकवचप्राणोपहारार्चितं[5]
पृच्छास्त्रै परितोषितं बहुविधैः कैरातरूपं हरम्
पृच्छाग्नि भुजगाहुतिप्रणयिनं यस्तर्पितः खाण्डवे
विद्यारक्षितमद्ययेन च जितस्त्वं पृच्छ चित्राटम्।।

---

1. *बालचरितम् – भास– 3/12/68*
2. *अभिषेकनाटकम् – भास– 4/13/77*
3. *अविमारक – भास– 1/1/2*
4. *अभिषेकनाटकम् – भास– 6/34/125*
5. *दूतघटोत्कचम् – भास– 1/22/29*

भक्ति

देवताओं के विषय में लिखा हुआ दृष्टिकोण भक्ति प्रधान था। वैदिक यज्ञों में जो पुरातन काल की आस्था थी, उसके साथ–साथ एक प्रतिद्वन्दी दृष्टिकोण भी मान्य हो गया। यह विशेष देवताओं की भक्ति या विश्वास था जिससे देवता को प्रसन्न करके उसका वरदान या प्रसाद प्राप्त किया जा सकता था। फलतः यक्ष, नाग, भूत, पिशाच, ग्रह, रूद्र, देवी, वृक्ष, नदी, गिरि आदि को देवता मानकर उन्हें पूजने की जो परम्परा लोक में चली आती थी, उसे सार्वजनिक रूप से मान्यता मिल गई।

भक्ति के उदय का दूसरा प्रभाव पूजा के ढंग पर हुआ। यज्ञ विधि का अपना अलग मार्ग था। उसमें फूल, फल, नैवेद्य, धूप, दीप, पत्र, पुष्प, वाद्य, नृत्य, गीत, बलि आदि की प्रथा न थी। किन्तु लोक में यज्ञादि देवों की पूजा थी उसका स्वरूप ठीक इन्ही वस्तुओं से निर्मित होता था। जिसे गीता में पत्रं, पुष्पं, तोयं, वाली पूजा कहा है जो देवता की भक्ति करते वे इसी प्रकार की पूजा चढ़ाते थे।

भक्ति का तीसरा प्रभाव यह हुआ कि पुरूष विशेष देवता के रूप में पूजित हुए। एक ओर बौद्ध और जैनों ने बुद्ध और महावीर की पूजा विधि का अपना लिया। दूसरी ओर वासुदेव कृष्ण को देवता मानकर उनकी भक्ति का आदर्श नए रूप में समाज के सामने आया। बुद्ध और महावीर जैसे क्षत्रिय पुरूष विशेष थे, वैसे ही कृष्ण भी क्षत्रिय पुरूष विशेष थे। जो क्षत्रिय की संज्ञा थी, वह तत्रभवान् देवता की संज्ञा बन गई। ऐसे देवताओं को मनुष्य प्रकृतिक देव कहते थे, अर्थात् जिनकी भूल प्रकृति मनुष्य की थी, पर जो देवता मान लिय गये थे।[1] बालचरित एव भास के अन्य नाटकों मे भक्ति का उल्लेख है–

---

1. वायुपुराण – 97/17

'भक्तिः परा मम पितामहभाषितेषु

सर्वाणि मे बहुमतानि तपोवनानि।

सत्यं ब्रवीमि करजाग्रहता च वीणा

वैराणि भीमकठिनाः कलहाः प्रिया मे।।''[1]

'विषदहनशिखाभिर्यन्मुखात् प्रोदगताभिः

कपिशितमशिवाभिश्र्चक्रवालं दिशानाम्।

सरभसमभियान्तं कृष्णभलक्ष्य शटी

नमयति शिरसान्तर्मण्डलं चण्डनागः।।'[2]

'अभिनवकमलामलायताक्षः शशिनिभमूर्तिरूदारनीलदासाः।

रजतपरिधवृत्तदीर्घबाहुश्र्चलदसितोत्पलपत्रचित्रवालः।।''[3]

'ब्रह्मा ते हृदयं जगत्त्रयपते ! रूद्रश्र्च कोपस्तव

नेत्रे चन्द्रदिवाकरौ सुरपते ! जिह्वा च ते भारती।

सब्रह्मेन्द्रमरूद्गणं त्रिभुवनं सृष्टंत्वयैव प्रभो !

सीतेयं जलसम्भवालयरता विष्णुर्भवान् ग्रह्यताम्।[4]

'तीर्त्वा प्रतिज्ञार्णवमाह्वेऽद्य सम्प्राप्य देवीं च विधूतपापाम्।

देवैः समस्तैश्र्च कृताभिषेको विभाति शुभ्रे नमसीव चन्द्रः।।'[5]

---

1. बालचरितम् - भास- 1/5/5   2. बालचरितम् - भास- 5/1/87

3. बालचरितम् - भास- 5/9/94 4. अभिषेक - भास - 6/30/122

5. अभिषेक - भास- 6/32/124

4. साधु - संन्यासी

संन्यास चतुर्थ आश्रम है। संन्यासी को परिव्राजक और भिक्षु कहा है। इस समय संन्यासी का बड़ा सम्मान था। भिक्षु को सौ कोस से अभिनन्दन का अधिकारी बतलाया है और इस कारण से उसे कौशशतिक कहते है।[1] सामान्यतया वानप्रस्थ के बाद संन्यास ग्रहण करने की प्रथा रही है पर उसका कोई समय नियत नही है। जिस दिन मन में वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन व्रती, अव्रती, स्नातक, अस्नातक या उत्सन्नाग्नि कोई भी द्विज संन्यास ले सकता था और बन्धुओं को छोड़कर अपरिग्रही बनकर प्रवज्या ले सकता था। परिव्राजक घर का परित्याग कर अरण्य मे रहते थे। वे कौपीन–मात्र पहनते थे। उनके वस्त्र काषाय रंग के होते थे। संन्यासियों में पुरूष भी छोते थे और स्त्रियाँ भी संन्यासी एक दण्डी भी होते थे और त्रिदण्डी भी तीन दण्डों का समूह त्रिविष्टिष्धक कहलाता था।

'धूर्म दृष्टवाग्निवैतिगम्यते त्रिविष्टब्धकं च दृष्टवा परिव्राजक इति।[2] त्रिविष्टब्धक देखकर संन्यासी पहचाना जाता है। उस समय परिव्राजकों के चार भेद थे– कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। – 'ग्रामान्ते देवग्रहे शून्यागारे वा वृक्षमूले वा, अरण्यनित्यः नाऽग्राम्यपशूनां सन्दर्शने विचरेत्[3]– ये लोग अष्ट ग्रास खाकर दिन बिताते थे। – 'देशस्याल्पतया हि भिक्षुरविक्षिप्त दृष्टिः पादविक्षेपदेशे चक्षुः संयभ्य गच्छति स उच्यते कौक्कुटिक इति।[4]

---

1. भाष्य – पतंजलि – 5/1/74, पृ0 337

2. भाष्य – पतंजलि – 2/1/1, पृ0 243

3. वासिष्ठ – धर्मसूत्र – 10/13-16

4. काशिका – 4/4/46

भास के अभिषेक नाटक एवं अन्य रूपकों मे साधु–सन्यासी का उल्लेख है–

'अपास्य मायया रामं त्वया राक्षसग्पुव !

भिक्षुवेषं समास्थाय च्छलेनापहृता हि सा।।'[1]

'नियतमनियतात्मा रूपमेतद् गृहीत्वा

रवरवधकृतवैरं राघवं वञ्चयित्वा।

स्वरपदपरिहीनां हव्यधाराभिवाहं

जनकनृपसुपां तां हर्तृकामः प्रयामि।[2]

'लतया सक्तया स्कन्धे शुष्कया वेष्टितस्तरूः।

निबिष्टो दुष्कुले साधुः स्त्रीदोषेणेव दह्मते।।'[3]

'सूत्रधारः – हन्त, दृढं विज्ञातम्। एष खलु पाण्डवमध्यमस्यात्मजो हिडिम्बारणिसम्भूतो राक्षसाग्निरकृतवैरं ब्राह्मणजनं वित्रासयति। भोः ! कष्टं कष्टं खलु पत्नीसुतपरिवृतस्य वृतान्त।'[4]

'ततो मया हस्तिहस्तामर्दताऽयमानो दन्तान्तरपरिवर्तमानो हस्तिहस्तपतितचरणः ततो हा हा विपाटितो, हा, हा, हत इति जनवादे संवृन्ते ततो दत्तकरप्रहारेण परिवर्तितं हस्तिनं कृत्वा मोचितः स परिव्राट्।''[5]

---

1. *अभिषेकनाटकम् – भास– 1/18/59*
2. *प्रतिमानाटकम् – भास – 5/7/161*
3. *पञ्चरात्रम् –भास– 1/14/13*
4. *मध्यमव्यायोग – भास – 1/31*
5. *चारूदत्तम् – भास – 2/65*

'लुब्धोऽर्थवान् साधुजनावमानी
वणिक् स्ववृत्तावतिकर्कशपूच।
यस्तस्य गेहं यदि नाम लप्स्ये
भवामि दुःखोपहतो न चिन्ते।।'[1]

विदूषकः-

अहं खलु तावत् कर्तव्यकरस्त्रीकृतसंकेत इव शाक्यश्रमणको निद्रां न लभे वामं खलु मेऽक्षिस्पन्दते। चोरः सन्धिं छिनत्तीव पश्यामि। यदीदृश्यवस्थाऽर्थानां, जात्या दरिद्र एव भवामि।[2]

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि तवस्वियों का लक्ष्य ही तपश्चरण था। उनके जीवन के अग तप, श्रद्धा और दीक्षा थे।

---

1. *चारुदत्तम् - भास - 3/7/78*
2. *चारुदत्तम् - भास - 3/81*

5. पाप-पुण्य-श्राद्ध

अधर्म के लिये पाप, एनस, किण्व, विनीय और कौपीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। पाप को क्षेय कहा है[1] और एनस् से प्रतिगत या घिरे हुए व्यक्ति को प्रव्येनस् संज्ञा दी है।[2]

अधार्मिक कृत्य :-

धार्मिक, आधर्मिक और धर्माधर्म दोनों से विरिहित इन तीन प्रकार के कर्मो की चर्चा हुयी है।

अपशब्द म्लेच्छ माना जाता था और यह विश्वास था कि उसके व्यवहार से ब्राह्मणम्लेच्छता को प्राप्त होता है। साधु शब्द का ज्ञान धर्म और असाधु शब्द या अपशब्द का ज्ञान अधर्म के अन्तर्गत[3] था भास के नाटक चारूदत्तम् के प्रथम अंक में भी पाप कर्म का वर्णन मिलता है –

'दारिद्रयात् पुरूषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते

सत्यं हास्यमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते।

निर्वैरा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फीता भवत्यापदः

पापं कर्म च यत् परैरपि कृतं तत् तस्य संभाव्यते।।''[4]

बाल हत्या पाप कर्म के अन्तर्गत मानी गयी है जिसका वर्णन बालचरित के द्वितीय अंक में वरिणित है–

---

1. *काशिका – 1/1/50 पृ0 305*
2. *काशिका – 6/2/27*
3. *आपस्तम्ब – 1, पृ0 4*
4. *चारूदत्तम् – 1/6/15*

'दारिका वा कुमारो वा हन्तव्यः सर्वथा मया।
दैवं पुरूषकारेणवश्र्चयिष्याम्यहं ध्रुवम्।।''[1]

'वासुदेवः–भोः कुरूकुलकलङ्कभूत। अयशोलुब्धा![2] वयं किल तृणान्तराभिभाषकाः।'

'सज्जलकः– मदनिके ! एतावत् किं न पर्याप्त, द्वितीयमप्कार्य[3] करिष्यामि। न खल्वत्र शस्त्रेण कश्चित् परिक्षतो व्यापादितो वा।

'अज्ञानाद् या मया पूर्वे शाखा पत्रैर्वियोजिता।[4]
छायार्थी ग्रीष्मसन्तप्तस्ता मेव पुनराश्रितः।।''
'सन्तप्यत इति तर्कयामि एतेनाकार्यं कृतमिति।[5]
कामं नीचमिदं वदन्तु विबुधाः सुप्तेषु यद्वेर्त ते
विश्र्वस्तेषु हि व०चनापरिभवः शौर्य न कार्कश्यता।
स्वाधीना व०चनीयताऽपि तृ वरं बद्धो न सेवा०जलिः
मार्गश्चैव नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रोणिना।।[6]

ब्रह्महत्या और सुरापान :-

ब्राह्मण–वध और सुरापान की गणना महापातकों में थी। –'ब्राह्मणवधे

---

1. *बालचरितम् - भास- 2/14/44*
2. *दूतवाक्यम् - भास- 1/40*
3. *चारूदत्तम् - भास - 4/106*
4. *चारूदत्तम् - भास - 4/5/107*
5. *चारूदत्तम् - भास - 4/107*
6. *चारूदत्तम् - भास - 3/ 6/78*

सुरापाने च महान दोष उक्त:'[1] ब्राह्मण के लिये तो सुरापान का सर्वथा निषेध था। सुरापी ब्राह्मणी पतिलोक को नहीं प्राप्त होती, धर्मशास्त्र के इस कथन को पतंजलि ने भाष्य में उदधृत किया है–

'ब्राह्मणी सुरापी भवति नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति।''[2]

भास के नाटकों में भी सुरापान का वर्णनदृष्टब्य है–

'पीतः सोमो बाल्यदत्तो नियोगा
च्छत्रच्छाया सेव्यते ख्यातिरस्ति।[3]
किंतद् द्रव्यं किं फलं को विशेषः
क्षत्राचार्यो यत्र विप्रो दरिदः।।''

'एषः गात्र सेवकः सुरां पीत्वा पीत्वा हसित्वा हसित्वा भदित्वा मदित्वा जपापुष्पमिव रक्तलोचन इत एवागच्छति। एतस्य पुरतो न स्थास्यामि।''[4]

'उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम्।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम्।।''[5]

अन्य पातक :-

ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, माता–पिता और भाई का वध भयंकर पापों की श्रेणी में था।[6]

'तां प्राणहत्यां निगृह्मानुचरणम् अस्यै त्वां भूण हत्यायै–चतुर्थ प्रतिग्रहाण।''[7]

---

1. *भाष्य – 6/1/84, पृ0 218*
2. *भाष्य – 3/2/8, पृ0 210*
3. *पञ्चरात्रम् – 1/30/30*
4. *प्रतिज्ञायौगन्धरायण् – 4/106*
5. *स्वप्नवासवदत्तम् – भास– 1/1/1*
6. *भाष्य – 1/1/39, पृ0 248, तथा 3/2/87 तथा 8/2/2, पृ0 315*
7. *भाष्य – 3/1/108, पृ0 184–85*

भास के नाटक प्रतिमानाटकम् के प्रथम अंक में राम कहते है इस प्रकार पितृ, मातृ एवं भातृवध इन तीनों पापों में कौन सा पाप तुम्हारे रोष को शान्त करने के लिये अभिमत हो सकता है–

'ताते धनुर्नमयि सत्यमवेक्षमाणे[1]
मु०चानि मातरि शरं स्वधनं हरन्त्याम्।
दोषेषु बाह्ममनुजं भरतं हनानि
किं रोषणाय रूचिरं त्रिषु पातकेषु।।''

'हुटार शब्देन ममेह घोषे स्रवन्ति गर्भा वनिता जनस्य।'
खुराग्रपातैलिखितार्धचन्द्रा प्रकम्पते सद्रुमकानना भूः।।'[2]

'जानाभि सर्वत्र सदा च नाम, द्विजोत्तमाः पूज्यतमाः पृथिव्याम्।
अकार्यमेतच्च ययाद्य कार्य मातुर्नियोगादपनीत शटम्।।''[3]

अनृत :-

इन महापातकों के अतिरिक्त अनृत–कथन भी पाप माना जाता था। अनृत दो प्रकार से बोला जा सकता है– प्रच्छन्न और व्यक्त भाष्यकार ने दोनों की ओर संकेत किया है।[4] असत्य बोलने को पापकर्म के अन्तर्गत रखा गया है। इसका उदाहरण बालचरित में वर्णित है–

'वसुदेवः–(आत्मगतम्) मयापि नामानृतं वक्तव्यं भविष्यति। अथवा कुमार रक्षणार्थमनृतमपि सत्यं पश्यामि। किमिदानीं करिष्ये भवतु, द्रष्टम्। दारिका प्रसूता तया।[5]

---

1. *प्रतिमानाटकम् – भास – 1/22/43*
2. *बालचरितम् – भास – 3/6/64*
3. *मध्यमव्यायोग – भास – 1/9/10*
4. *भाष्य – 8/2/48, पृ0 366*
5. *बालचरितम् – भास – 2/44*

भास के नाटक प्रतिमानाटकम् के प्रथम अंक में राम कहते है इस प्रकार पितृ, मातृ एवं भातृवध इन तीनों पापों में कौन सा पाप तुम्हारे रोष को शान्त करने के लिये अभिमत हो सकता है–

'ताते धनुर्नमयि सत्यमवेक्षमाणे[1]
मु०चानि मातरि शरं स्वधनं हरन्त्याम्।
दोषेषु बाह्यमनुजं भरतं हनानि
किं रोषणाय रूचिरं त्रिषु पातकेषु।।''

'हुटार शब्देन ममेह घोषे स्रवन्ति गर्भा वनिता जनस्य।'
खुराग्रपातैलिखितार्धचन्द्रा प्रकम्पते सद्रुमकानना भूः।।'[2]

'जानाभि सर्वत्र सदा च नाम, द्विजोत्तमाः पूज्यतमाः पृथिव्याम्।
अकार्यमेतच्च ययाद्य कार्य मातुर्नियोगादपनीत शटम्।।''[3]

अनृत :-

इन महापातकों के अतिरिक्त अनृत–कथन भी पाप माना जाता था। अनृत दो प्रकार से बोला जा सकता है– प्रच्छन्न और व्यक्त भाष्यकार ने दोनों की ओर संकेत किया है।[4] असत्य बोलने को पापकर्म के अन्तर्गत रखा गया है। इसका उदाहरण बालचरित में वर्णित है–

'वसुदेवः–(आत्मगतम्) मयापि नामानृतं वक्तव्यं भविष्यति। अथवा कुमार रक्षणार्थमनृतमपि सत्यं पश्यामि। किमिदानीं करिष्ये भवतु, द्रष्टम्। दारिका प्रसूता तया।[5]

---

1. प्रतिमानाटकम् – भास – 1/22/43
2. बालचरितम् – भास – 3/6/64
3. मध्यमव्यायोग – भास – 1/9/10
4. भाष्य – 8/2/48, पृ0 366
5. बालचरितम् – भास – 2/44

'किमेतद् वेशवासजनः सर्वो दक्षिणो भवतीति। पश्यत्वज्जुका, चम्पकारागे पिचुमन्दा जायन्ते। अतिसदृश इति मम हृदयमभिरमते। परमार्थत एवं प्रशस्यते, ननु कामदेवः।[1]

स्त्री संसर्ग दोष को भी पापकर्म के अन्तर्गत माना गया है भास के नाटक पञ्चरात्रम् में भी ऐसा वर्णन मिलता है–

'लतया सक्तया स्कन्धे शुष्कया वेष्टितस्तरूः।
निविष्टो दुष्कुले साधुः स्त्रीदोषेणेव दह्यते।।''[2]

काञ्चुकीयः–प्रसीदतु महासेनः। वृद्धोऽस्मि ब्राह्मणः खल्वहम् न महासेन सभीपेऽनृतमभिहित पूर्वम्।''[3]

---

3. दरिद्रचारूदत्तम् - भास- 4/99

4. पञ्चरात्रम् - भास- 1/14/13

5. प्रतिज्ञायौगन्धरायण् - भास- 2/48

पुण्य

परलोक के साधनों में यज्ञ यागादि का उल्लेख हुआ है। विभिन्न यज्ञ, न्याग और अग्नि–चयन, धन, धान्य, आयु, बल, यश, आादि दान और तीर्थयात्रा भी स्वर्ग में सहायक समझे जाते थे। गोदान, वस्त्रदान का बहुत महत्व था, गोदान की महिमा सर्वविदित है। भाष्य में पुत्र जन्म के अवसर पर दस सहस्र तक गायें दान किये जाने का उल्लेख है।[1]

भास के नाटकों में भी गौओ के सहस्र दान का वर्णन मिलता है।

'गुणवदमृतकल्पक्षीर धाराभिवर्षि
द्विजवर!रूचितं ते तृप्तवत्सानुयात्रम्।
तरूणमधिकमर्थि प्रार्थनीयं पवित्रं
विहितकनकश्रृंगं गोसहस्रं ददामि।।''[2]

'तृप्तोऽग्निर्हविषाऽमरोत्तममुखं तृप्ता द्विजेन्द्रा धनै–
स्तृप्ताः पक्षिगणाश्र्च गोगणयुतास्ते ते नराः सर्वशः।
हृष्टं सम्प्रति सर्वतो जगदिदं गर्जन्नृपे सदगुणै
रेवं लोकमुदारूरोह, सकलं देवालयं तद् गुणेः।।''[3]

'एषा भो! दीप्तयूषा कनकमयभुजेवाभाति वसुधा
चैत्याग्निर्लौ किकग्नि द्विज इव बृषलं पार्श्वे न सहते।
नात्यर्थ प्लुष्टपृष्ठा हरितकुशतया वेदी परिवृता
प्राग्वंशं चैष धूमो गज इव नलिनी फुल्लां प्रविशति।।'[4]

---

1. भाष्य – 2/3/69,पृ0 455 तथा 3/3/12, पृ0 281
2. कर्णभारम् – भास– 1/18/25
3. पञ्चरात्रम् – भास– 1/4/5
4. पञ्चरात्रम् – भास– 1/6/8

'एतदग्नेर्बलं नष्टमिन्धनानां परिक्षयात्।
दानशक्तिरिवार्यस्य विभवानां परिक्षयात्।[1]

'यज्ञेन भोजय महीं जय विक्रमेण
रोषं परित्यज, मव स्वजने दयावान्।
इत्येवभागतकथामधुरं बुवन्तः
कुर्वन्ति पाण्डवपरिग्रहमेव पौराः।।''[2]

धन का दान भी पुण्य माना गया है प०चरात्रम् नाटक के प्रथम अंक में धनदान का वर्णन दृष्टव्य है–

'बाणाधीनां क्षत्रियाणां समृद्धिः पुत्रापेक्षी व०च्यते सन्नि धाता।
विप्रोत्सगे वित्तमावर्ज्य सर्वं राज्ञा देयं चापमात्रं सुतेभ्यः।।''[3]

'एवमेव क्रतून सर्वान् समानीयाप्तदक्षिणान्।
राजसूये नृपा०जित्वा जरासन्ध इवानय।।''[4]

भास के नाटक कर्णभारम् के प्रथम अंक में सहस्र हाथी, घोड़े और अन्त में इन्द्र को कर्ण अपने कवच, कुण्डल तक दान में दे देता है ऐसा वर्णन दृष्टव्य है–

'रवितुरगसमानं साधनं राजलक्ष्म्या
सकलनृपतिमान्यं मान्यकाम्बोजजातम्।
सुगुणभनिल वेगं युद्धदृष्टापदानं
सपदि बहुसहस्रं वाजिनां ते ददामि।।''[5]

---

1. पञ्चरात्रम् – भास– 1/17/15
2. पञ्चरात्रम् – भास– 1/20/18
3. पञ्चरात्रम् – भास– 1/24/22
4. पञ्चरात्रम् – भास– 1/28/26
5. कर्णभारम् – भास– 1/19/26

'मदससतिकपोलं षटपदै सेव्यमानं

गिरिवरनिचयाभं मेधगम्भीर घोषम्।

सितनखदशनानां वारणानामनेकं

रिपुसमरविमर्दं वृन्दमेतद्ददामि।।''[1]

'अगै सहैव जनितं मम देहरक्षा

देवासुरैरपि न भेद्यमिदं सहस्रैः।[2]

देयं तथापि कवचं सह कुण्डलाभ्यां

प्रीत्या मया भगवते रूचितं यदि स्यात्।।[3]

''शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्, सुबद्धमूला निपतन्ति पादपा।

जलं जलस्थानगतं च शुष्यति, हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति।।''

---

1. *कर्णभारम् - भास- 1/20/27*
2. *कर्णभारम् - भास- 1/21/30*
3. *कर्णभारम् - भास- 1/22/31*

श्राद्ध

श्राद्ध का उद्देश्य श्रद्धा माना है श्राद्ध का प्रयोजन पितरों को प्रसन्न करना माना जाता था। इसके लिये दैनिक तर्पण का विधान था। तर्पण में तिल और उदक प्रयुक्त होते थे, अतः तिलोदक शब्द तर्पण का वाचक बन गया था।[1]

भास के नाटक मध्यम व्यायोग में भी तर्पण का उल्लेख है–

'अस्यामाचम्य पदि्न्यां परलोकेषु दुर्लभम्।

आत्मनैवात्मनो दन्तं पद्यापत्रोज्जवलं जलम्।।''[2]

पिण्डदान श्राद्ध का दूसरा प्रकार था। इन विधियों के अनुष्ठाता को भाष्य में श्राद्धकर और पिण्डकर कहा है– 'अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्'[3]

श्राद्ध शब्द का प्रयोग विशिष्ट विधि के लिये होता था, जिसमें तर्पण और पिण्डदान दोनों सम्मिलित थे। श्राद्ध सामान्यतया शरद में होते थे। इसलिए उन्हें शारदिक कहते थे।[4] ब्राह्मण–भोजन श्राद्ध का महत्वपूर्ण अंग था। भास के नाटक प्रतिज्ञायौगन्धरायण में भी श्राद्ध का वर्णन है

'नवं शराबं सलिलै सुपूर्ण

सुसंस्कृतं दर्मकृतोन्तरीयम्।

तत्तस्य मा भून्नरकं स गच्छेद

यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्।[5]

---

1. भाष्य – पतंजलि – 1/4/2, पृ0 124

2. मध्यमव्यायोग – भास – 1/31/34

3. भाष्य – पतंजलि – 1/1/48, पृ0 375

4. भाष्य – पतंजलि – 4/3/12, पृ0 223

5. प्रतिज्ञायौगन्धराणम् – भास – 4/2/114

प्रतिमानाटकम् के पञ्चम अंक मे रामचन्द्र जी कहते है। कि कल पिताजी के वार्षिक श्राद्ध का दिन है। उस दिन पितृगण उत्तम विधि से किये गये पिण्डदान की इच्छा रखते है ऐसा वर्णन मिलता है–

'रामः–श्वस्तत्र भवतस्तातस्यानु संवत्सरश्राद्धविधिः कल्पविशेषेण निर्वपन क्रियामिच्छन्ति पितरः। तत् कथं निवर्तयिष्यामीत्येतच्चिन्त्यते।[1]

गच्छन्ति तुष्टिं खलु येन केन त एव जानन्ति हितां दशां मे।
इच्छामि पूजां च तथापि कर्तुं तातस्य रामस्य च सानुरूपाम्।।"[2]

'सीता–आर्यपुत्र ! निर्वर्तयिष्यति श्राद्धं भरत ऋद्धया, अवस्थानुरूयं फलोदकेनाप्यार्यपुत्रः। एतत् तातस्य बहुमततरं भविष्यति।[3]

निष्कर्षतः हम ये कह सकते है कि धार्मिक विधियों में जिस प्रकार यज्ञादि कृत्य आभ्युदयिक या मंगल्य माने जाते थे, उसी प्रकार श्राद्धदि कृत थे।
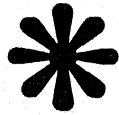
1. प्रतिमानाटकम् – भास – 5/159
2. प्रतिमानाटकम् – भास – 5/5/159
3. प्रतिमानाटकम् – भास – 5/160

6. वृत

शास्त्र पूर्वक नियम का नाम वृत है। शास्त्रों में विशेष आश्रमों में अथवा विशेष अवसरों पर भिन्न–भिन्न वृतों का प्रावधान किया है। जैसे– वीरवृत जिसको भास के नाटक प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् मे इस प्रकार विहित किया गया है–

'एवं रूधिरदिग्धागं वैरं नियममास्थितम्।
गुरोरवजितं हत्वा शान्तं द्रौणिमिव स्थितम्।।''[1]

इसी प्रकार श्र्वपाक वृत, एवं वंशपरम्परागत वृतो का वर्णन भास के नाटक अविमारक मे उद्घृत किया गया है–

'एवमुक्त्वा प्रसन्नचित्तेन एहि भोः काश्यप ! इत्याह्वयत्, स तमनुगतो व्याघ्रेण मारितो वटुः चरितं च मया संवत्सरं श्र्वपाकव्रतम्। अद्यास्मि शापान्मुक्तः।[2]

'कामाहतः कुमतिभिः सचिवैर्गृहीतो
रोगातुरः स्वजनरागभवेक्षते वा।
शप्तो द्विजैर्व्रतमुपेत्य करोति शान्तिं
को वा भवेन्नरपतेर्गृहरोधहेतुः।।'[3]

'तीर्थोदकानि समिधः कुसुमानि दर्भान्
स्पैरं वनादुपनयन्तु तपोधनानि।
धर्मप्रिया नृपसुता न हि धर्म पीडा
मिच्छेत् तपस्विषु कुलव्रतमेतदस्या।।'[4]

---

1. *प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् – भास – 4/15/129*
2. *अविमारक – भास– 6/163*
3. *अविमारक – भास– 1/11/24*
4. *स्वप्नवासवदत्तम् – भास – 1/6/14*

पञ्चरात्रम् एव भास के अन्य रूपकों मे वृतो का उल्लेख है–

'ऋतुव्रतैस्ते तनु गात्रमेतत् सोढुं बलं शक्ष्यसि पीऽयानि।
अन्तस्त्वनामाय न धर्षयामि राजर्षिधीराद् वचनात् भयं मे।।'[1]

'राज्ञां वेष्टनपट्टधृष्टचरणाः श्लाध्यप्रभूतश्रवा
वार्द्धक्येऽप्यभिवर्धमाननियमाः स्वाध्यायशूरैर्मुखैः।
विप्रा यान्ति वयः प्रकर्षशिथिला यष्टित्रिपादक्रमाः
शिष्यस्कन्धनिवेशिताञ्चितकरा जीर्णा गजेन्द्रा इव।।''[2]

'सीते ! त्यज त्वं व्रतमुग्रचर्यं भजस्व मां भामिनि ! सर्वगात्रैः।
अपास्य तं मानुषमद्य भद्रे ! गतायुषं कामपथानिवृत्तम्।।'[3]

उपवास भी वृत का एक अंग माना जाता है। उपवास मे सब प्रकार का भोजन वर्जित होता था कभी कभी भोजन किसी विशेष पदार्थ पर सीमित कर दिया जाता है यज्ञादि प्रसंगों मे ब्राह्मण यजमान–दूध पीकर, क्षत्रिय केवल यवागू, वैश्य केवल आमिक्षा ग्रहण करता था।

'पयोवृतो ब्राह्मणो यवागूवृतः क्षत्रिय आमिक्षावृतो वैश्य इति'[4]

इस प्रकार उपवास के शास्त्र विहित नियम अलग–अलग थे भास ने भीमध्यमव्यायोग नाटक मे उपवास का वर्णन किया है –

---

1. *पञ्चरात्रम् – भास – 1/29/27*
2. *पञ्चरात्रम् – भास – 1/5/6*
3. *अभिषेकनाटक – भास – 2/14/34*
4. *आर्यावर्त – 1 पृ0 19*

'घटोत्कचः– अस्ति मे तत्रभवती जननी।[1] तयाऽहमाज्ञप्तः– पुत्र ! ममोपवासनिसर्गार्थमस्मिन् वनप्रदेशे कश्चिन्मानुषः परिभृग्यानेतव्य इति। ततो मयाऽऽसादितो भवान्।

चारूदत्तम् नाटक मे भी उपवास का उल्लेख है–

'मा बिभीहि भा बिमीहि मुहूर्तकं प्रतिपालयत्वार्यः सर्व सज्जं भविष्यति। लब्धं नामैतत्। अद्य ममोपवासस्यार्यः सहायो भवतु।[2]

'सूत्रधारः– सर्वतावत् तिष्ठतु। कोन्विदानीमर्याया उपवासस्योपदेशिकः।'[3]

---
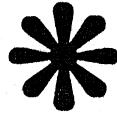
1. मध्यमव्यायोग – भास – 1/15

2. चारूदत्तम् – भास – 1/5

3. चारूदत्तम् – भास – 1/5

7. शिष्टाचार

शिष्ट शब्द का प्रयोग दो अर्थो में हुआ है– सज्जन तथा शास्त्र विहित कार्य। इस तरह शिष्टाचार इन्द्रियजयी ब्राह्मणों का आचरण तथा शास्त्रानुमोदित कृत्य कहलाता था। वैसे व्यवहारतः दोनो मे कोई अन्तर नही था। क्योंकि शिष्ट शास्त्रानुकूल ही आचरण करते हैं। भास के नाटकों में शिष्टाचार शब्द एक व्यवहारिक प्रक्रिया के रूय में लिखा गया है जिसकों हम प्रतिमानाटकम् और दूतवाक्यम् में देख सकते है–

भरतः– अथ कस्मिन् प्रदेशे विश्रमिष्ये। भवतु, दृष्टम्। एतस्मिन् वृक्षान्तराविष्कृते देवकुले मुहूर्त विश्रमिष्ये। तदुभयं भविष्यति–दैवतपूजा विश्रमश्र्च। अथ च उपोपविश्य प्रेवेष्टव्यानि नगराणीति सत्समुदाचारः तस्मात् स्थाप्यतां रथः।[1]

दुर्योधनः– केशव इति। एवमेष्टव्यम् ! अयमेव समुदाचारः। भो भो राजानः! दौत्येनागतस्य केशवस्य किं युक्तम्। कि माहुर्भवन्तः। अर्ध्यप्रदानेन पूजयितव्यः केशव इति। न मै रोचते। ग्रहणमस्यात्रहितं पश्यामि।[2]

भीमः– जात्या राक्षसी, न समुदाचारेण।[3]

'संवाहक– आर्ये! ननु भयेनोपचारो विस्मृतः, न परिभवेन।[4] पश्यत्वार्या, भीता अथवा प्रधर्षिता अथवा आपन्ना अथवा सुलभाचारित्रवञ्चना अपराधयितुं समर्था भवन्ति।'

साधु प्रकृति, धर्मसंगत, न्यायसंगत आदि व्यवहारिक कार्यो को शिष्टाचार के अन्तर्गत माना गया है। जिसे हम इस प्रकार भास के नाटकों में देख सकते है–

---

1. *प्रतिमानाटकम् – भास – 3/91*
2. *दूतवाक्यम् – भास – 1/10*
3. *मध्यम्व्यायोग – भास – 1/56*
4. *चारूदत्तम् – भास – 2/55*

'सूत्रधारः—हन्त, दृढं विज्ञातम्। एष खलु पाण्डवमध्यमस्यात्मजो हिडिम्बारणिसम्भूतो राक्षसाग्निरकृतवैरं ब्राह्मणजनं वित्रासयति। भोः! कष्टं कष्टं खलु पत्नीसुतपरिवृतस्य वृतान्तः अत्रहि,[1]

दैवतं मानुषीभूतमेष तावन्नमस्यताम्।

अहं नाचरणं मन्ये भीष्ममुत्क्रम्य वन्दितुम।।''[2]

शिष्टाचार एक व्यापक शब्द है। जिसकों विभिन्न रूपों में परिभाषित किया जाता है। समस्त हितकारी कार्यो, आचरण, व्यवहार आदि को शिष्टाचार के अन्तर्गत माना गया है बदलती परिस्थितियों में छोटे, बड़े, बुजुर्गो आदि को सम्मान देना भी शिष्टाचार की एक कड़ी के रूप में देखा जाता है शास्त्रविहित शिष्टाचार भास के समय पूर्ण प्रचलन मे था।

---
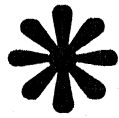
1. *मध्यमव्यायोग - भास - 1/3*
2. *पञ्चरात्रम् - भास - 1/26/24*

8. अन्ध विश्वास

किसी चली आ रही परम्परा का अन्धा अनुकरण अन्ध विश्वास का द्यौतक है ऐसा नही है कि अन्ध विश्वास अशिक्षित एवं ग्रामीण अंचलो मे ही है बल्कि गॉव से लेकर शहरों तक अन्ध विश्वास की परिपाटी अपने पैर जमाये हुये लोगों पर पूर्ण शासन करती रहती थी।

भास के नाटक अविमारक तथा अन्य नाटकों मे अन्ध विश्वास का उल्लेख है–

'को नु खल्वयं पक्षी भैरवस्वरः। आ उलूकः खल्वयम्। कथं हसितमनेन। उलूकस्वरश्रवणभीतया कान्तया परिष्वक्तः खल्वयं तपस्वी। सदृशं वयसः। किं परव्यापारवीक्षणम्। साधयामस्तावत्। (परिक्रम्य) को नु खल्वयमस्मिन् नगरापणालिन्दे सशटितमतिस्निग्धं च सम्भाषते।[1]

'देवकी–हाधिक्, पुत्रकस्य मे महानुभावत्वं सूचयिष्यन्ति जन्मसमयसमुद्भूतानि प्रत्यक्षीकुर्वन्तयपि कंसहतकनृशंसत्वं चिन्तयन्ती सुष्ठु न प्रत्येमि मन्दभागिनी। क्व नु गत आर्यपुत्रः। अम्मो, एष आर्यपुत्रो हर्षविस्मयफुल्लनयन एवागच्छति।'[2]

'वसुदेवः–देवकि ! अर्धरात्रः खलु वर्तते। प्रसुप्तोमधुरायां सर्वो जनः।[3] तस्माद् यावन्न कश्चित् पश्यति, वातद् बालं गृहीत्वाऽपक्रामामि।'

---

1. अविमारक – भास – 3/75

2. बालचरित् – भास – 1/7/8

3. बालचरित् – भास– 1/9

वृद्धगोपालकः– ('गावोमेऽहीनवत्सा भवन्तु। अविद्यवाश्च[1] गोपयुवतियो भवन्तु। अस्माकं राजा विराट एकच्छत्रपृथिवीपतिर्भवतु। महाराजस्य विराटस्य वर्षवर्धनगोप्रदाननिमित्तमस्यां नगरोपवनवीथ्यामागन्तु गोधनं सर्वे च कृतमग्लामोदा गोपादारका दारिकाश्च एषु ज्यैष्ठयं गत्वानुभविष्यामि। विलोक्य) किं नु खल्वेष वायसः शुष्कवृक्षमारूह्म शुष्क शाखानिघट्टिततुण्ऽमादित्याभिमुखं विस्वरं विलपति। शान्तिर्भवतु शान्तिर्भवतु व्याहरामि। अरे गोमित्रक ! गोमित्रक!

निष्कर्षतः हम इस तथ्य पर पहुचते है कि हर युग मे अन्ध विश्वास की मान्यता थी।

---

1. पञ्चरात्रम् - भास- 2/62
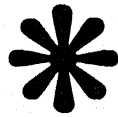
9. शकुन-अपशकुन

मानव जीवन मे शकुन अपशकुन का भी अपना एक स्थान है। ये कोई आधुनिक लक्षण नही है अपितु एक अर्से से चली आ रही एक मान्यता है। जिस प्रकार दधि आदि शुभाशुभ के निमित्त माने जाते थे, उसी प्रकार कुछ आंगिक लक्षण भी शकुन–अपशकुन के अंग माने जाते थे। यहॉ तक पतंजलि भी शकुन–अपशकुन पर विश्वास करते थे इसके साथ साथ और भी लक्षण शकुनों के अन्तर्गत आते थे जैसे–दूध पिलाती हुयी धेनु, नेवला का दर्शन, कन्या दर्शन, वेदपाठी ब्राह्मण का दर्शन आदि शकुन माने जाते थे। इनको लाक्षणिक शकुन कहा गया है इसके साथ साथ पतंजलि में अंगलक्षण का उदाहरण देते हुये विशेष तिलकालक को जायाह्न और विशेष पाणिलेखा को पतिध्नी बतलाया है।

'जायाध्नस्तिलकालकः, पतिध्नी पाणिलेखा'[1] यद्यपि उन्होने ये निर्देश नही किया कि किस स्थान का और कौन–सा तिलकालक जयाह्न होता है और कौन–सी हस्तरेखा पतिध्नी, मानी जाती है। भास के नाटक बालचरित के प्रथम अंक मे शकुन का वर्णन इस प्रकार किया गया है– हाविक्, पुत्रकस्य मे महानुभावत्वं[2] सूचयिष्यन्ति जन्मसमयसमुद्भूतानि महानिमित्तानि, प्रत्यक्षीकुर्वन्त्यपि कंसहतकनृशंसत्वं चिन्तयन्ती सुष्ठु न प्रत्येमि मन्दभागिनी। क्व नु गत आर्यपुत्रः। अम्भो, एष आर्यपुत्रो हर्षविस्मयफुल्लनयन एवागच्छति।'

---

1. भाष्य – 3/2/52, पृ0 218

2. बालचरित – भास – 1/8

'अगणितपरिखेदा याति षण्णां सुताना
मपचयगमनार्थं सप्तमं रक्षमाणा।
बहुगुणकृतलोभा जन्मकाले निमित्तैः
सुत इति कृतसंज्ञं कंसमृत्युं बहन्ती।।'[1]

इसके साथ साथ अपशकुनो का भी वर्णन मिलता है। श्वानरूदन, अंगविकार व्यक्ति, सामने की छीक, कागरूदन, आदि अपशकुनों की संख्या में विहित होते है।

'बृद्ध–गोपालकः– गावोमेऽहीनवत्सा भवन्तु। अविधवाश्च गोपयुवतयोभवन्तु। अस्माकं राजा विराट एकच्छत्रपृथिवीपतिर्भवतु। महाराजस्य विराटस्य वर्षवर्द्धनिगोप्रदाननिमित्तमस्यां नगरोपवनवीथ्यामागन्तुं गोधनं सर्वे च कृतमङ्गलामोदा गोपदारका दारिकाश्च एषु ज्यैष्ठयं गत्वानुभविष्यामि। (विलोक्य) किं नु खल्वेष वायसः शुष्कवृक्षमारूह्य शुष्कशाखनिधट्टिततुण्डमादित्याभिमुख विस्वरं विलपति। शान्तिर्भवतु शान्तिर्भवतु अस्माकं गोधनस्य च। यावदेषु ज्येष्ठयं गत्वा गोपदारकाणां दारिकाणां व्याहरामि। अरे गोमित्रक। गोमित्रक।''[2]

इसी प्रकार अविमारक नाटक के तृतीय अंक मे उल्लू को असुखकारी पक्षी की संज्ञा दी गयी है–

'को नु खल्वयं पक्षी भैरवस्वरः। आ उलूकः खल्वयम्। कथं[3] हसितमनेन उलूकस्वरश्रवणभीतया कान्तया परिष्वक्तः खल्वयं तपस्वी। सदृशं वयसः। किं परव्यापारवीक्षणम्। साधयामस्तावत्। (परिक्रम्य) को नुखल्वयमस्मिन् नगरापणालिन्दे सशटितमतिस्निग्धं च सम्भाषते। अस्मत्सब्रह्मचारी खल्वयं तपस्वी।

---

1. *बालचरित – भास– 1/10/9*
2. *पञ्चरात्रम् – भास– 2/62*
3. *अविमारक – भास – 3/74*

इस प्रकार हम देखते है कि किसी भी प्रकार का उत्पातिक शब्द, अंग पशुपक्षी अपशकुन के पर्याय माने जाते थे ठीक उसके विपरीत पीली विद्युत का चमकना, तेजवायु का चलना, अत्यन्त लाल रंग की विद्युत का चमकना तेज आतप का, सफेद बिजली का चमकना दुर्भिक्ष का निमित्त माना जाता था।
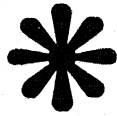
उपसंहार

उपसंहार

सत्यं शिवं सुन्दरम् की भावना से अनुप्राणित संस्कृत साहित्य, भारतीय संस्कृति का उत्कृष्ट वाहक है। देववाणी संस्कृत भाषा अपने बृह्द इतिहास मे अत्यन्त महत्वशालिनी रही है। कालान्तर में चिन्तकों एवं साहित्यकारों के संरक्षण में उसके स्वरूप का परिपोषण एवं पल्लवन हुआ। फलस्वरूप संस्कृत साहित्य, विश्व–साहित्य के शीर्ष पर प्रतिष्ठित हुआ। ऋषियों, मुनियों एवं मनीषा से अनुस्यूत ज्ञान, संस्कृत भाषा के माध्यम से ही प्रकट हुआ है। महाकवियों ने जनसामान्य की भावना की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए इस भाषा को सर्वोत्तम माना।

कालान्तर मे संस्कृत साहित्य की जो अविरल धारा प्रवाहित हुयी, उसमें नाट्य। रूपकों को विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ। क्योकि रूपक, श्रव्य एवं दृश्य दोनों प्रकार के काव्यों का मिश्रण है इसलिये वह जनसामान्य की रसानुभूति का सर्वोत्तम साधन बन पड़ा है। भारतीय भावना सदा आदर्शोन्मुख रही है, अतः संस्कृत नाटककार भी आदर्शवाद के पक्षपाती है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे काव्य की इस सर्वश्रेष्ठ विद्या के शीर्ष महाकवियों में भास के नाटकों में चित्रित भारत वर्ष को आधार बनाया गया है इन कृतियों में भारतीय, सामाजिक व्यवस्था, रहन–सहन, खान–पान, कृषि, व्यापार आदि की कोमल अभिव्यक्ति हुयी है। भारतीय संस्कृति आचार विचार सदैव भारत के लिये ही नही अपितु विश्व के लिये भी अनुकरणीय रही है।

उल्लखित भास की सभी कृतियों मे वर्णित कथाओं के आधार पर प्रमुख चरित्र चित्रण के साथ साथ भारतीय सामाजिक परिवेश पर आधारित चित्रण किया गया है। रामाश्रित व कृष्णाश्रित कथानकों के अतिरिक्त प्रतिज्ञायौगन्–धरायणम्, स्वप्नवासवदत्ता तथा लोक कथानकों पर आधारित दरिद्रचारूदत्त

और अविमारक भास कृत अनूठी कृतियाँ हमारे समक्ष है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे इन कृतियों में वर्णित भासकालीन भारत का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित विचारणीय तथ्यों का समावेश किया गया है। वैसे भास की कृतियों में चित्रित भारत वर्ष विश्लेषणात्मक अध्ययन एक श्रमसाध्य कार्य होने के बावजूद भास की कृतियों की भाषा का अध्ययन करते हुये तत्कालीन समाज का अध्ययन प्रस्तुत कर निम्नलिखित विचारणीय तथ्यों का समावेश किया गया है।

प्रथम अध्याय में भास के नाटकों मे चित्रित भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए ऐतिहासिक एवं भौगोलिक आधार पर राज्य सीमा, जनपद, पर्वत, ग्राम, नगर, अरण्य एवं नदियॉ आदि का प्रामाणिक आधार लेकर विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रकार से यह अध्याय एक प्रकार से परिचयात्मक होते हुये भौगोलिक पृष्ठ भूमि बन पड़ा है।

द्वितीय अध्याय में सामाजिक जीवन के सन्दर्भ मे विचार किया गया है जिसमें वर्ण और जाति आश्रम, खानपान, मनोरंजन, रोग, संस्कार, नारियॉ, परिवहन, वेषभूषा, विवाह और प्रेम दाम्पत्य जीवन की प्रासंगिकता, प्रेम की रसानुभूति जिसके इर्दगिर्द सम्पूर्ण सृष्टि घूमती है। अलग–अलग स्थलों में अलग–अलग प्रकार से इसका चित्रण किया गया है। रामकथाश्रित नाटक प्रतिमानाटकम् मे राम के प्रति भरत के अगाध प्रेम का वर्णन किया गया है वही प्रतिज्ञायौगन्धरायण की कथावस्तु राजनैतिक दावपेच, छल, प्रपंञ्चना से अनुप्राणित है। किन्तु स्वप्नवासवदत्ता विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम पर आधारित है। इस प्रकार इस अध्याय में एतिहासिकता, नाटकीयता, प्रवाहोत्पादकता का कुशलता पूर्वक निर्वह्न हुआ है जिसके कारण श्रंगार अपने उच्चतम अभिरूप मे प्रयुक्त होकर सह्रदयों की प्रीति का पोषक बना है।

तृतीय अध्याय में आर्थिक जीवन का चित्रण है जिसमें कृषि पशुपालन, श्रम, व्यापार, वन सम्पत्ति का चित्रण किया गया है वैसे भी भारत कृषि प्रधान देश रहा है। भारतीय जीवन का आधार कृषि पर ही आधारित था परन्तु भास कालीन भारत पर विश्लेषण प्रक्रिया पर गुजरते हुये हम इस तथ्य पर पहुचते है कि तत्कालीन कृषि का आधारभूत ढ़ाचा विकसित न होने के कारण पर्याप्त भरण पोषण सम्भव नही था जिसके चलते वन्य उपज का भी आश्रय लेना पड़ता था उस समय का जन जीवन सरल नही था जिसका मुख्य कारण सम्यता का विकास न होना था।

चतुर्थ अध्याय भास के नाटकों में चित्रित भारतीय राजनीति से सम्बन्धित है। राज्य, वैराज्य, स्वाराज्य, भौज्य और साम्राज्य ये राज्य के क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्वरूप बतलाये गये है। उनके शासकों की उपाधियॉ राजा, विराट, स्वराट्, भोज और सम्राट थी। राजा सामान्य नाम था और विशिष्ट ऐश्वर्य की ओर संकेत करता था। राजा को नृपति कहा गया है। यह शब्द ही राजा के मुख्य कर्तव्य और महत्व का परिचायक था। प्रस्तुत अध्याय में राजतन्त्र, ऐतिहासिक राजतन्त्र, युवराज, कर्तव्य एवं अधिकार, न्याय व्यवस्था सेना के अंग और व्यवस्था तथा आयुध के बारे में यथा शक्ति शास्त्र सम्मत प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। विषय इतना गूढ़ है कि जितना भी प्रकाश डाला जाए सागर में एक बूद डालने के समान ही सिद्ध होगा परन्तु सम्भव प्रयास के माध्यम् से उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

कहा गया है यतो धर्मः ततोजयः यद्यपि धर्माधर्म का निर्णय शास्त्र के आधीन है लेकिन सुकर्मकृत्य, पुण्यकृत्य कार्यो को धर्म की संज्ञा दी गई है ऐसा धर्म ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

पञ्चम अध्याय में धर्म, धार्मिक भावनाओं के साथ देवता, पूजा एवं

भक्ति, साधु संन्यासी,पाप पुण्य श्राद्ध और वृत पर सम्यक प्रकाश डालने का दु:साहसिक प्रयास किया है आशा है मेरा ये प्रयास सार्थक सिद्ध होगा।

शोध हेतु समीक्ष्य ग्रन्थों भास की कृतियों मे चित्रित भारत वर्ष एक विश्लेषणात्मक अध्ययन एक महत्वपूर्ण विद्या के रूप में न्यस्त है। इस प्रकार इन कृतियों के विविध पक्षों को उद्घाटित करने का मेरा विनम्र प्रयास है।

संस्कृत नाट्य साहित्य प्राचीन वाग्मय में संस्कृत साहित्य का एक विशाल भण्डार है जिसकी तह तक पहुच पाना दुष्कर ही नही दु:साध्य है। इसको निर्विवाद रूप में स्थापित कर पाना कठिन है फिर भी इस विशाल साहित्य भण्डार का तदनुरूप संन्दर्भ ग्रन्थों द्वारा जितना प्राप्त हो सका है उतना उल्लिखित करने का मैने भर्सक प्रयत्न किया है। सुधीजन मेरे प्रयास को स्वीकार करेगे ऐसा मेरा विश्वास है।
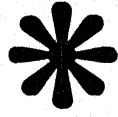
संन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्र0सं0	ग्रन्थ	टीकाकार / सम्पादक	प्रकाशक
1.	भास नाटक चक्रम् (प्रथम भाग) प्रथम संस्करण–1998	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी
2.	भास नाटक चक्रम्	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी (द्वितीय भाग)प्रथम संस्करण–1998
3.	भासनाटकचक्रम्	आचार्य बलदेव उपाध्याय	चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–1
4.	प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी (भास) प्रथम संस्करण–1994
5.	स्वप्नवासवदत्ता (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी द्वितीय संस्करण–2003
6.	स्वप्नवासवदत्ता (भास)	पं0 अनन्तराम शास्त्री	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी–1 द्वादश संस्करण
7.	चारुदत्तम् (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी प्रथम संस्करण–1997
8.	मध्यमव्यायोग (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी प्रथम संस्करण–1997
9.	दूतवाक्यम् (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी द्वितीय संस्करण–2000
10.	दूतघटोत्कचम् (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी प्रथम संस्करण–1998
11.	कर्णभारम् (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी प्रथम संस्करण–1998
12.	ऊरुभङ्गम् (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी प्रथम संस्करण–1996
13.	पञ्चरात्रम् (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी प्रथम संस्करण–1996
14.	प्रतिमानाटकम् (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी द्वितीय संस्करण–2000
15.	अभिषेक नाटकम् (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी प्रथम संस्करण–1988
16.	बालचरितम् (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी प्रथम संस्करण–1989
17.	अविमारकम् (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी प्रथम संस्करण–1989
18.	स्वप्नवासवदत्तम् (भास)	डॉ0 गंगासागर राय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी प्रथम संस्करण–1998

19. नाट्यशास्त्रम् (भरतमुनि)श्री सत्यप्रकाश शर्मा चौखम्भा सूर्यभारती प्रकाशन, वाराणसी पुर्नमुद्रित संस्करण–2000
20. नाट्यशास्त्रम् (भरतमुनि) बलदेव उपाध्याय चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी
21. दशरूपकम् (धनञ्जय) श्री निवास शास्त्री साहित्य भण्डार, मेरठ
22. काव्य प्रकाश (मम्मट) आचार्य विश्वेश्वर ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी–1960
23. काव्य प्रकाश (मम्मट) डॉ0 सत्यवृत सिंह चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी
24. साहित्य दर्पण (विश्वनाथ) डॉ0 सत्यवृत सिंह चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी तृतीय संस्करण वि0 संवत्–2026
25. साहित्य दर्पण (विश्वनाथ) लोकमणि दाहाल चौखम्भा सुरभारती, वाराणसी
26. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन) आचार्य विश्वेश्वर ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
27. वक्रोक्ति जीवितम् (कुन्तक) श्री राधेश्याम मिश्र चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वाराणसी पंचम संस्करण–2001
28. वक्रोक्ति जीवितम् (कुन्तक) श्री परमेश्वरीदीन पाण्डेय चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी प्रथम संस्करण–1984
29. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन) आचार्य विश्वेश्वर ज्ञान मण्डल लिमिटेड,वाराणसी
संस्कृत आलोचना बलदेव उपाश्याय हिन्दी समिति,सूचना विभाग,उ0प्र0
30. ए0बी0कीथ–संस्कृत नाटक डॉ0 उदयभान सिंह मोती लाल बनारसी दास दिल्ली द्वितीय संस्करण–1971
31. प्रियदर्शिका (श्री हर्ष) पं0 रामचन्द्र मिश्र चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
32. प्रिय दर्शिका नाटिका (श्री हर्ष) डॉ0 कृष्ण कुमार साहित्य भण्डार, मेरठ
33. रत्नावटी नाटिका (श्री हर्ष) पं0 रामचन्द्र मिश्र चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी–1 चतुर्थ संस्करण–1976
34. नाट्यदर्पण (रामचन्द्र गुणचन्द्र) थानेशचन्द्र उत्प्रेति
35. काव्यालंकार (रूद्रट) नामिसाधुं
36. रसगंगाधर पंडितराज जगन्नाथ
37. काव्यालंकारसूत्र भामह
38. काव्यमिमांशा राजशेखर
39. कथासरितसागर सोमदेव
40. बृहत्कथा गुणाढ्य
41. संस्कृत नाट्य सिद्धान्त डॉ0 रमाकान्त त्रिपाठी
42. भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण वाचस्पति गैरोला
43. महाकविभास–एक अध्ययन आचार्य बलेदव उपाध्याय
44. संस्कृत साहित्य का इतिहास ए0बी0कीथ
45. संस्कृत साहित्य का इतिहास बलदेव उपाध्याय
46. संस्कृत साहित्य का इतिहास वाचस्पति गैरोला

47. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास राम जी उपाध्याय
48. संस्कृत साहित्य का इतिहास डॉ0 शिवबालक द्विवेदी
49. नाट्य शास्त्र काशी संस्करण
50. प्राचीन भारत का इतिहास बी0डी0महाजन
51. प्राचीन भारत का इतिहास एल0पी0शर्मा
52. हिन्दू सभ्यता डॉ0 राधाकुमुद मुखर्जी
53. वैदिक साहित्य और संस्कृति बलदेव उपाध्याय
54. संस्कृति के चार अध्याय दिनकर
55. भारत की खोज पं0 जवाहर लाल नेहरू
56. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास सत्यकेतु विद्यालंकार
57. राजसत्ता का अनुशासन डॉ0 विशनलाल गौड व्योमशेखर
58. पाणिनी कालीन भारत डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल
59. पतंजलिकालीन भारत डॉ0 प्रभुदयाल अग्निहोत्री
60. रामायण कालीन संस्कृति नानूराम ब्यास
61. बाल्मीकि कालीन समाज शा0ना0 ब्यास
62. अद्भुत भारत ए0एल0 वाशम
    शिवलाल अग्रवाल
63. हर्ष आर0के0 मुखर्जी
64. कन्नोज का इतिहास रमाशंकर त्रिपाठी
65. हिन्दू पॉलिटी के0पी0 जायसवाल
66. महाभारत वेदव्यास
67. पाणिनी अष्टाध्यायी पाणिनी
68. महाभाष्य पतंजलि
69. मनुस्मृति मनु
70. भवभूति ग्रन्थावली रामप्रताप त्रिपाठी
71. रघुवंशम् कालिदास ग्रन्थावली
72. कुमार सम्भवम् कालिदास ग्रन्थावली
73. मेघदूतम् कालिदास ग्रन्थावली
74. अभिज्ञान शाकुन्तलम् कालिदास ग्रन्थावली
75. विक्रमोर्वशीयम् कालिदास ग्रन्थावली
76. मालविकाग्निमित्रम कालिदास ग्रन्थावली
77. ऋग्वेद महर्षि दयानन्द सरस्वती
78. संस्कृत ड्रामा ए0बी0कीथ–1923